वैदिक व्याकरण

(द्वितीय भाग)

लेखक की अन्य कृतियां

१. वैदिक व्याकरण, प्रथम भाग

२. India of Vedic Kalpa Sūtras

भूमिका

विद्वद्वर्ग के कर-कमलों में इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग प्रस्तुत करते ए मुझे विशेष सन्तोष का अनुभव हो रहा है। ग्रन्थ का लेखन-कार्य सम्पूर्ण होने पर भी लगभग डेढ वर्ष तक इस के मुद्रण का कार्य आगे से आगे टलता रहा। प्रसन्नता का विषय है कि विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रेस ने इस के मुद्रण-कार्य को अपने हाथ में लेते ही इसे कुछ महीनों में पूरा कर दिया है। इस कठिन ग्रन्थ के मुद्रण-कार्य को उक्त प्रेस ने जिस कुशलता से सम्पन्न किया है उस के लिये वह विशेष बधाई का पात्र है। और इस प्रकार के शुद्ध मुद्रण के लिए मै विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रेस को हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

पूर्ण सावधानी बर्तने पर भी कहीं-कहीं मात्रा, स्वरचिह्न इत्यादि के टूट जाने से जो शब्द अंशतः विकृत हो गये है उन्हें यथासम्भव शुद्धि-पत्र में निर्दिष्ट किया गया है। यदि इस प्रकार के किसी शब्द को शुद्धि-पत्र में नहीं दिखाया गया है, तो उस का विकार इतना साधारण है कि उसके कारण से बुद्धिमान् पाठक को किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होगी और वह उसे तुरन्त पहचान सकेगा।

ग्रन्थ के इस भाग के अन्त में एक सामान्यानुक्रमणी जोड़ दी गई है जिस में उन सब पारिभाषिक और महत्त्वपूर्ण शब्दों तथा विषयों का समावेश है जिन पर इस [illegible] में विचार किया गया है।

[illegible]ों तथा विद्यार्थियों ने "वैदिक व्याकरण" के प्रथम भाग का जो [illegible] तथा सराहना की है उस से मुझे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। जिन [illegible]नों ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी बहुमूल्य सम्मतियां भेजने का कष्ट किया उन के प्रति मैं अतीव आभारी हूं। इन में से कुछेक सम्मतियों के अंश इस [भा]ग के अन्त में उद्धृत किये गये है।

[illegible] में मैं उन सब आचार्यों, विद्वानों तथा लेखकों के प्रति अपन

कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिन के उपदेशों, वचनों, ग्रन्थों तथा लेखों से
के निर्माण में मुझे प्रेरणा, प्रोत्साहन, और सहायता प्राप्त हुई है।

इस ग्रन्थ के सुधार के लिए जो भी सुझाव दिये जाएंगे उन
स्वागत किया जायगा। अनेक विद्वानों ने मेरे सामने यह सुझाव रख
वैदिक व्याकरण का एक ऐसा संक्षिप्त संस्करण तैयार किया
विद्यार्थियों के लिये उपयोगी हो और जिस का मूल्य भी कम हो। आशा
वैदिक व्याकरण का छात्र-संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा।

पंजाब-विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़ — रामगोपाल
१६ अक्तूबर, १९६९.

प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष में बनते हैं। और इन में से प्रत्येक पुरुष में बनने वाले आख्यात रूप एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में भिन्न-भिन्न बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक लकार में तीन पुरुषों तथा तीन वचनों के अनुसार नव भिन्न प्रत्यय जोड़ कर धातुओं से आख्यात रूप बनाये जाते हैं। परन्तु आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, प्र० पु० ए०, म० पु० ए०, तथा प्र० पु० ब० को छोड़ कर शेष पुरुषों तथा वचनों मे लोट् लकार के अपने स्वतन्त्र प्रत्यय नहीं हैं। इस लिये लोट् में आख्यातों के केवल तीन स्वतन्त्र रूप बनते है। लोट् उ० पु० के तीनों वचनों के प्रत्यय लेट् उ० पु० से और लोट् प्र० पु० द्वि० तथा म० पु० द्वि० ब० के प्रत्यय विधिमूलक लकार (Injunctive mood) से ग्रहण किये हुए माने जाते हैं (अनु० ३२६)।

पदभेद

२०९. लौकिक संस्कृत की भांति वैदिक में भी धातुओं के आख्यात रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद में बनते है। बहुत से वैदिक धातुओं के रूप दोनों पदों मे मिलते हैं; यथा—भवति, भवते, कृणोति, कृणुते। कुछ धातुओं के रूप केवल परस्मैपद में बनते हैं, यथा—अस्ति, और कुछ अन्य धातुओं के केवल आत्मनेपद में, यथा—मन्यते। कतिपय धातुओं के रूप कुछ लकारों में आत्मनेपद में और कुछ में परस्मैपद में; उदाहरणार्थ लिट्, लुट् तथा कहीं-कहीं लट् और लेट् में मृ के रूप परस्मैपद में बनते हैं और अन्यत्र आत्मनेपद में[5]। इसी प्रकार वृत्, वृध्, द्युत् इत्यादि धातुओं के कुछ रूप केवल आ० में, कुछ केवल प० में, और कुछ दोनों पदों में मिलते हैं[6]; यथा—लट् में वर्तते, वर्धते, वर्धति, द्योतते; लृट् में वर्त्स्यति, द्योतिष्यति (ब्रा०); लिट् में ववर्त (सं०), ववृते (उप०), ववर्ध, ववृधे। कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में सभी धातुओं के रूप आत्मनेपद में बनते हैं[7]। पाणिनि ने अपने धातुपाठ में विशेष अनुबन्धों के द्वारा और अष्टाध्यायी में विशेष उपसर्ग, अर्थ तथा प्रत्यय के सम्बन्ध के आधार पर बनाये गये नियमों (१,३,१२-९३) के द्वारा

धातुओं के पदों की जो व्यवस्था की है, वह अंशतः वैदिक भाषा पर अवश्य लागू होती है, परन्तु पूर्णतया नहीं। आत्मनेपद तथा परस्मैपद के प्रत्ययों के लिये दे० अनु० २११।

लकार-परिचय

२१०. वैदिक भाषा में मिलने वाले आख्यात रूपों का व्याख्यान करने के लिये भारतीय वैयाकरणों ने दस लकारों की कल्पना की है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इन दस लकारों के नाम इस प्रकार हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्। लिङ् के दो भेद हैं—विधिलिङ् और आशीर्लिङ्। इन सब नामों का आदि तत्त्व लकार है, अत एव इन के लिये सामान्य संज्ञा लकार का प्रयोग किया जाता है। लट् वर्तमानकाल का, लिट् आसन्न भूतकाल या वर्तमानकाल का, लङ् अनद्यतन भूतकाल या आख्यानात्मक भूतकाल का, लुङ् आसन्न भूतकाल या सामान्य भूतकाल का, लृट् सामान्य भविष्यत्काल का, लुट् अनद्यतन भविष्यत्काल का, और लृङ् हेतुहेतुमद्भाव से युक्त (भविष्यत्-सम्बन्धी) भूतकाल का बोध कराता है। ये सात लकार कालवाचक हैं। और लेट्, लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् इच्छा, प्रार्थना, आदेश तथा आशीर्वाद आदि क्रिया-प्रकार को प्रकट करते हैं। लकारों के अर्थ तथा प्रयोग का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में देखिए।

पाश्चात्य मत—यद्यपि पाश्चात्य वेदविदों ने भारतीय वैयाकरणों के सिद्धान्तों का पूर्ण अध्ययन करके इन से यथावत् साहाय्य लेने का प्रयास तो अवश्य किया है, तथापि उन्होंने इन का पूर्ण अनुकरण नहीं किया है और वैदिक आख्यातों के आलोचनात्मक तथा सूक्ष्म अन्वेक्षण और ग्रीक आदि प्राचीन इ० यो० भाषाओं के व्याकरणसम्बन्धी सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त भी स्थापित किये हैं। लकारों के विषय में इन के मौलिक सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त परिचय यहां दिया गया है और विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, समस्त लकारों को कालवाचक (Tenses)

और क्रियाप्रकारवाचक (Moods) इन दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। कालवाचक लकारों में लट् (Present), लङ् (Imperfect), लिट् (Perfect), लुङ् (Aorist), लृट् (Future), लुट् (Periphrastic future), तथा लृङ् (Conditional) के अतिरिक्त, एक विशेष लकार Pluperfect (अतिलिट्) भी माना जाता है जिस में, इन विद्वानों के मतानुसार, लिट् में बनने वाले अङ्ग से पूर्व अट् या आट् आगम जोड़ा जाता है। ग्रीक भाषा में बनने वाले रूपों के सादृश्य के आधार पर ग्रीक व्याकरण में प्रयुक्त संज्ञाओं के अनुसार पाश्चात्य वेदविदों ने वैदिक भाषा के कालवाचक लकारों के लिये Perfect, Imperfect, Pluperfect, Aorist संज्ञाओं का प्रयोग किया है, तथापि उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि वैदिक व्याकरण में उपर्युक्त लकारों का अर्थ ग्रीक-व्याकरण में ग्राह्य अर्थ के समान नहीं है। केवल रूप-रचना में सादृश्य है। क्रियाप्रकारवाचक लकारों में लेट् (Subjunctive), लोट् (Imperative), विधिलिङ् (Optative), तथा आशीर्लिङ् (Precative) के अतिरिक्त Injunctive mood (विधिमूलक लकार) भी माना जाता है। रूप-रचना की दृष्टि से विधिमूलक लकार अट् या आट् आगम रहित लङ्, लुङ् तथा अतिलिट् के सर्वथा समान है। हम ने इस ग्रन्थ में Injunctive mood के लिये विधिमूलक लकार और Pluperfect के लिये अतिलिट् संज्ञा का प्रयोग किया है। सभी कालवाचक लकारों में पाश्चात्य विद्वान् जिस तथ्य-वाचक प्रकार (Indicative mood) की सत्ता मानते हैं उस के पृथक् वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव केवल लेट्, लोट्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् तथा विधिमूलक लकार के विषय में विचार किया जायगा।

धातुओं से बने जिन अङ्गों (stems) के साथ लकारों के प्रत्यय जोड़े जाते हैं उन अङ्गों की रूप-रचना के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसे सब अङ्गों को चार वर्गों में विभक्त किया है और चार कालवाचक मुख्य लकारों के अङ्गों को आधार मान कर इन का नामकरण इस प्रकार किया है—

(१) लड्वर्ग (Present-system); (२) लिड्वर्ग (Perfect-system); (३) लुङ्-वर्ग (Aorist-system); तथा (४) लृङ्-वर्ग (Future-system)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इन में से लग-भग प्रत्येक वर्ग के अङ्ग से न केवल कालवाचक आख्यात रूप बनते हैं, अपितु लेट्, लोट् इत्यादि में क्रिया-प्रकार-वाचक आख्यात रूप तथा शत्रन्त आदि रूप भी बनते हैं। लड्वर्ग के अङ्ग से लट् तथा लङ् के रूपों के अतिरिक्त लेट्, लोट्, विधिलिङ्, शत्रन्त और शानजन्त रूप बनते हैं; यथा— √युज् "युक्त करना" से प्र० पु० ए० में युनक्ति (लट्), अयुनक् (लङ्), युनजत् (ले०), युनक्तु (लो०), तथा युञ्जत्-(शत्रन्त) रूप बनते हैं। लिड्वर्ग के अङ्ग से लिट् तथा अतिलिट् के अतिरिक्त लेट्, लोट्, विधिलिङ्, विधिमूलक लकार (Injunctive) कानजन्त तथा क्वसन्त रूप बनते हैं; यथा— √मुच् "छोड़ना" से प्र० पु० ए० में मुमोच (लि०), मुमोक्तु (लो०), मुमोचति तथा मुमुचत् (ले०); म० पु० द्वि० में अमुमुक्तम् (अतिलिट्); √धू "झाड़ना" से प्र० पु० ए० में दूधोत् (वि० मू०); √गम् से प्र० पु० ए० में जगम्यात् (वि० लि०); √कृ से चक्राण- (कान०) और चकृवस् (क्व०) रूप बनते है। लुङ्वर्ग के अङ्ग से लुङ् के अतिरिक्त लेट्, लोट्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ्, विधिमूलक लकार, शत्रन्त तथा शानजन्त रूप बनते हैं; यथा— √भू, √कृ तथा √गम् के लुङ्वर्ग के अङ्गों से बने हुए निम्नलिखित रूप प्र० पु० ए० में मिलते हैं— अभूत् (लु०), करत् (ले०), भूतु (लो०), गन्तु (लो०), भूयात् (विलि०), गम्याः (आलि०), भूत् (वि० मू०), क्रत् (शत्र०), ग्मत् (शत्र०)। लुङ् के अनेक भेद हैं जिन का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। लृड्वर्ग के अङ्ग से लृट् तथा लृङ् के अतिरिक्त शत्रन्त तथा शानजन्त रूप बनते हैं और क्रिया-प्रकार-वाचक लकारों के रूपों में से केवल लेट् म० पु० ए० में करिष्याः (ऋ० ४,३०,२३) बनता है। इन सब विषयों पर विस्तृत विवेचन आगे चल कर यथास्थान किया जायगा। यहां पर केवल यह

उल्लेख करना आवश्यक है कि वैदिक संहिताओं के मन्त्रभाग में लुट् के निश्चित तथा निर्विवाद प्रयोग अतिविरल हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार वास्तव में तृ-प्रत्ययान्त पुं० प्रातिपदिक के रूप ही लुट् के रूप हैं और म० पु० तथा उ० पु० में प्रथमान्त रूपों के साथ √अस् "होना" धातु के लट् रूप अनुप्रयुक्त किये जाते हैं (दे० अनु० २८७)।

लकारों के प्रत्यय

२११. धातुओं के साथ लकारों के जो प्रत्यय जोड़े जाते है, उन्हें दो मुख्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) लिट् लकार के प्रत्यय (२) तथा अन्य लकारों के प्रत्यय। लिट् के प्रत्यय अन्य सब लकारों के प्रत्ययों से बहुत अधिक भिन्न है। इस लिये उन का विवेचन आगे चल कर लिट् के रूपों के वर्णन में किया जायगा और यहां पर लिट् से भिन्न सब लकारों के प्रत्ययों का परिचय दिया जायगा। आत्मनेपद तथा परस्मैपद में सभी लकारों के प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं। अत एव प्रत्येक पद के प्रत्ययों का पृथक् विवेचन किया जायगा। पाणिनीय व्याकरण में दोनों पदों के मूल प्रत्यय एक ही सूत्र (३,४,७८) में गिना दिये गये हैं और संक्षेपार्थ इन प्रत्ययों के लिये तिङ् प्रत्याहार का प्रयोग किया जाता है। अत एव इन प्रत्ययों के जोड़ने से बनाये गये आख्यात पद तिङन्त कहलाते हैं।

(क) परस्मैपद के प्रत्यय

२१२. पाणिनि के अनुसार परस्मैपद के मूल प्रत्यय निम्नलिखित हैं और इन के साथ प्रयुक्त होने वाला अनुबन्ध कोष्ठक में दिखलाया गया है—

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ति (प्) ;	तस् ;	झि।
म० पु०	सि (प्) ;	थस् ;	थ।
उ० पु०	मि (प्) ;	वस् ;	मस्।

सप्तमोऽध्यायः

अन्ति, अति— झि केवल प्रतीकमात्र है और इस के वास्तविक रूप अन्ति तथा अति हैं। अभ्यस्त-संज्ञक अङ्ग के साथ अति और अन्यत्र अन्ति का प्रयोग होता है[8]; यथा— √भृ "धारण करना" से लट् में बिभ्रति (प्र० पु० ब०) और √भू से भवन्ति (प्र० पु० ब०)।

थ, थन—[9] वैदिक प्रयोगों में थ के स्थान पर थन प्रत्यय आता है, परन्तु पाणिनि के मतानुसार म० पु० ब० के गौण प्रत्यय त के स्थान पर थन प्रयुक्त होता है (दे० टि० १६)।

मस्, मसि— वैदिक भाषा में मस् प्रत्यय के स्थान पर मसि प्रत्यय का प्रयोग भी मिलता है[10]। ऋ० में मसि प्रत्यय का प्रयोग मस् से पांचगुणा (१०९ बार) मिलता है। परन्तु अ० में मस् का प्रयोग अधिक है और मस् तथा मसि के प्रयोगों में ४ और ३ का अनुपात है।

पित्, अपित्— एकवचन के प्रत्ययों के साथ प् अनुबन्ध जोड़ कर पाणिनि ने इन्हें पित् बनाया है और द्वि० तथा ब० के प्रत्यय अपित् तथा फलतः ङिद्वत् माने जाते हैं[11]। तिङन्त पदों की रचना और स्वर-ज्ञान के लिये इन पारिभाषिक शब्दों का बहुत अधिक महत्त्व है। जिन धातुओं से परे सीधा पित् प्रत्यय आए, उन के अन्तिम इकार, उकार, ऋकार तथा लृकार को और लघु उपधा वाले धातुओं की उपधा के इक् को गुण हो जाता है[11क] और ऐसे रूपों में आख्यात पद का उदात्त स्वर धातु के अच् पर रहता है। परन्तु भूतकालवाचक अट् या आट् आगम से युक्त पदों का उदात्त इस आगम पर रहता है। पित् प्रत्यय से पूर्व प्रयुक्त होने वाले उदात्तयुक्त अङ्ग के लिये पाश्चात्य विद्वान् शक्ताङ्ग (Strong stem) संज्ञा का प्रयोग करते हैं। जिस धातु से परे सीधा अपित् प्रत्यय आए, उस के अच् को गुण या वृद्धि विकार साधारणतया नहीं होता है[12]; और (भूतकालवाचक अट् या आट् आगम वाले रूपों को छोड़ कर) पद का उदात्त अपित् प्रत्यय के अच् पर रहता है। पाश्चात्य विद्वान् ऐसे अङ्ग के लिये अशक्ताङ्ग

(Weak stem) संज्ञा का प्रयोग करते हैं।

विकृत या गौण प्रत्यय—लट्, लृट् तथा अंशतः लेट् में उपर्युक्त मूल प्रत्ययों (Primary endings) का प्रयोग होता है (लुट् के विषय में दे० अनु० २१०)। लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्, लोट् तथा अंशतः लेट् में उपर्युक्त मूल प्रत्यय ज्यों के त्यों प्रयुक्त नहीं होते हैं, अपितु इन में कुछ सामान्य विकार हो जाते है। इन विकृत प्रत्ययों के लिये पाश्चात्य विद्वान् **गौण प्रत्यय** (Secondary endings) संज्ञा का प्रयोग करते हैं। लेट्, लोट् तथा लिङ् में प्रत्ययो मे जो विशेष विकार होते है या आगम जोड़े जाते है, उन का परिचय आगे अनु० २१५ मे दिया गया है। मूल प्रत्ययो में होने वाले सामान्य विकारों के फलस्वरूप **गौण प्रत्ययों** का सामान्य रूप इस प्रकार बनता है—

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	त	ताम्	अन्।
म० पु०	स्	तम्	त।
उ० पु०	अम्	व	म।

अन्, उस् (पा० जुस्)—प्र० पु० ब० लिङ् में अन् (पा० मूल झि) के स्थान पर उस् (पा० जुस्) प्रत्यय प्रयुक्त होता है[१३]। इसके अतिरिक्त लुङ् में सिच् प्रत्यय से परे तथा आकारान्त धातुओं से परे उस् प्रत्यय आता है[१४]।

लङ् में अभ्यस्तसंज्ञक (टि० ८) अङ्ग, अभ्यस्तसंज्ञक धातुओं, कतिपय आकारान्त धातुओं तथा √विद्, √द्विष्, √त्विष्, √दुह्, √चक्ष् इत्यादि से परे अन् के स्थान पर उस् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[१५]।

त, तन—लगभग १२५ वैदिक रूपों में त (म० पु० ब०) के स्थान पर **तन** प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[१६]; और आधुनिक अनुसन्धान के अनुसार ऋ० में त का प्रयोग तन के प्रयोग की तुलना में चौगुने से भी अधिक है।

अम्, म्—संहिताओं के कतिपय लुङ्रूपों में अम् (उ० पु० ए०) के स्थान पर म् (पा० मश्) प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[१७]; यथा—√वध् (पा० हन्) "मारना" से वधीम् (ऋ०) तथा अवधीम् (तै० सं०), √भू से अभूम् (मै० सं०), √क्रम् "कदम बढाना" से अक्रमीम् (ऋ०)।

[ख] आत्मनेपद के प्रत्यय

२१३. पाणिनि के अनुसार आत्मनेपद के मूल प्रत्यय निम्नलिखित है और इनका अनुबन्ध कोष्ठक में दिखलाया गया है—

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	त	आताम्	झ।
म० पु०	थास्	आथाम्	ध्वम्।
उ० पु०	इ (ट्)	वहि	महि (ङ्)।

अन्त, अत—झ केवल प्रतीकमात्र है और प्र० पु० ब० के वास्तविक प्रत्यय अन्त तथा अत है। अनकारान्त[१८] अङ्ग के साथ अत और अन्यत्र अन्त प्रत्यय प्रयुक्त होता है।

विशेष—(१) र् (पा० रुट्) का आगम—अनेक वैदिक रूपों में अत से पूर्व र् (पा० रुट्) आगम मिलता है और प्रत्यय का रूप रत बन जाता है[१९]; यथा—√भृ "धारण करना" से विलि० में भरेरत (ऋ०)। √शी "सोना" से परे अत को र् का आगम प्रसिद्ध है[२०]।

(२) कुछ वैदिक रूपों में र् का आगम होने पर अत के त का लोप हो जाता है[२१]; यथा—√दुह् "दोहना" से लङ् में अदुह्र (मै० सं०)।

(३) लिङ् में साधारणतया[२२] और लङ् तथा लुङ् के कतिपय रूपों में (और पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार अतिलिट् के कुछ रूपों में भी) प्र० पु० ब० में रन् प्रत्यय का प्रयोग होता है; यथा—

√दा "देना" से दुदुीरन् (विलि०), √शी से अशेरन् (लङ्), √स्था से अस्थिरन् (लु०), √कृ से अचक्रिरन् (अतिलिट्)।

(४) लुङ् के कुछेक वैदिक रूपों में प्र० पु० व० में रम् प्रत्यय का प्रयोग भी मिलता है[२३]; यथा— √दृश् "देखना" से अदृश्रम् (ऋ०); √बुध् "जागना" से अबुध्रम्; √सृज् "उत्पन्न करना" से असृग्रम्।

यद्यपि कतिपय भारतीय विद्वान् रन् (टि० २४०) तथा रम् प्रत्यय वाले लुङ् तथा लङ् के कुछेक रूपों को परस्मैपदी मान कर समाधान करते हैं, तथापि पाश्चात्य विद्वान् इन्हें आत्मनेपदी मानते हैं।

अपित्, ङिद्वत्—आत्मनेपद के सब मूल प्रत्यय अपित् हैं और फलतः ङिद्वत् माने जाते है (दे० अनु० २१२)।

आताम्, आथाम् के आ का इ (पा० इय्)—अकारान्त अङ्ग से परे आताम् तथा आथाम् के आ का इ (पा० इय्) बन जाता है[२४]।

मूल तथा गौण प्रत्यय—पाणिनि के मतानुसार लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् तथा लोट् में उपर्युक्त मूल प्रत्ययों में विकार होकर गौण प्रत्यय बनते हैं और लङ् तथा लुङ् इत्यादि में उपर्युक्त मूल प्रत्यय प्रयुक्त होते है। लेट्, लोट्, लिङ् तथा लिट् में इन प्रत्ययों में जो विकार होते हैं, उन को विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा। यहां पर केवल इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि लट् तथा लृट् में म० पु० ए० थास् के स्थान पर से और अन्य प्रत्ययों में से प्रत्येक के अन्त में ए आदेश हो जाता है[२४क]। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार उपर्युक्त लङ्, लुङ् इत्यादि में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय गौण (Secondary endings) और लट् तथा लृट् में प्रयुक्त होने वाले निम्नलिखित प्रत्यय मूल (Primary endings) माने जाते हैं—

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ते	इते, आते	अन्ते, अते ।
म० पु०	से	इथे, आथे	ध्वे ।
उ० पु०	ए	वहे	महे ।

ते, ए—कुछेक वैदिक रूपों में लट् प्र० पु० ए० में ते प्रत्यय के तकार का लोप होकर (दे० टि० २१) केवल ए प्रत्यय प्रयुक्त होता है; यथा—ईश् "आधिपत्य करना" से ईशे (ऋ०), शी "सोना" से शये (ऋ०), दुह् "दोहना" से दुहे (ऋ०), शुभ् "चमकना" से शोभे (ऋ० १,१२०,५)।

आताम्, आथाम् के आ का इ—आताम् तथा आथाम् के आ का इ (पा० इय्) बनने का वही नियम (टि० २४) लगता है जो ऊपर बतलाया जा चुका है।

अन्ते, अते—अन्ते तथा अते के सम्बन्ध में वही नियम (टि० १८) है जो अन्त तथा अत के सम्बन्ध मे बतलाया जा चुका है।

विशेष—(१) रते—कुछ वैदिक रूपों में लट् के अते को र् (पा० रुट्) का आगम होता है (टि० १९); यथा—दुह् से दुह्रते (ऋ०१,१३४, ६,१६४,७); शी से शेरते (वा० सं०)।

(२) रे—दो-तीन वैदिक रूपों में लट् के अते के स्थान पर र् आगम तथा त-लोप द्वारा, (दे० टि० १९.२१) केवल रे प्रत्यय प्रयुक्त होता है; यथा—दुह् से दुह्रे (ऋ०), विद् "पाना" से विद्रे[२५] (ऋ०, अ०), शी से शेरे (अ०, अ०)।

२४९.

भूतकालवाचक अट् तथा आट् आगम

२१४. भूतकालवाचक लङ्, लुङ्, लृङ् तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार अतिलिट् (Pluperfect) में साधारणतया व्यञ्जनादि धातु के अङ्ग से पूर्व अट् आगम जोड़ा जाता है[२६]। परन्तु अजादि धातु के अङ्ग से पूर्व आट् आगम जोड़ा जाता है[२७], और धातु के अच् के साथ इस की सन्धि होने पर वृद्धि एकादेश होता है[२८]; यथा— लङ् प्र० पु०

ए० में इष् "चाहना" से ऐच्छत्, उद् (पा० उन्दी) "गीला करना" से औनत्, ऋध् "समृद्ध होना" से आर्ध्नोत्। इस के अतिरिक्त ऋ० में निम्नलिखित नकारादि, यकारादि, रेफादि तथा वकारादि धातुओं के अङ्ग से पूर्व भी आट् आगम मिलता है[२९]; यथा— नश् "पहुंचना" से आनट्[३०] (लु० प्र० पु० ए०); युज् "जोतना" से आयुनक् (लङ् प्र० पु० ए०), आयुक्त (लु० प्र० पु० ए०), आयुक्षाताम् (लु० प्र० पु० द्वि०); रिच् "खाली करना" से आरिणक् (लङ् प्र० पु० ए०), आरैक् (लु० प्र० पु० ए०); वृ "आच्छादित करना" से आवर् (लु० प्र० पु० ए०); वृ "चुनना" से आवृणि (लङ् उ० पु० ए०); वृज् "हटाना" से आवृणक् (लङ् प्र० पु० ए०); व्यध् "बींधना" से आविध्यत् (लङ् प्र० पु० ए०)। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि आनट् तथा आवर् को छोड़ कर शेष रूपों का आदि आ पपा० में ह्रस्व कर दिया जाता है[३१] और अयुनक्, अयुक्त तथा अविध्यत् में संहिता में भी अट् आगम मिलता है।

वहुत से वैदिक रूपों में अट् या आट् आगम का लोप मिलता है[३२]; यथा ऋ० के लगभग २००० रूपों में आगम का लोप और लगभग ३३०० में इस का यथोचित प्रयोग मिलता है। इन आगमरहित रूपों में आधे से अधिक रूप लुङ् के है। अ० में आगमयुक्त रूपों की तुलना में आगमरहित रूप आधे से भी कम हैं और इन में से लगभग ८० प्रतिशत आगमरहित रूप केवल लुङ् के है। इस सम्वन्ध में यह वात ध्यान देने योग्य है कि सभी आगमरहित रूप भूतकालवाचक नहीं है। ऋ० के आगमरहित रूपों में से लगभग आधे रूप भूतकालवाचक और आधे रूप विधिमूलक लकार (Injunctive) के माने जाते हैं। और इन में से लगभग एक-तिहाई विधिमूलक रूप निषेधवाचक निपात मा के साथ प्रयुक्त होते हैं। अ० में आगमयुक्त रूपों की तुलना में आगमरहित रूप एक-तिहाई से भी कुछ कम हैं और लगभग ९० प्रतिशत से अधिक आगमरहित रूप विधिमूलक हैं। इन

में से लगभग ८० प्रतिशत आगमरहित रूप मा के साथ प्रयुक्त होते है। लौकिक संस्कृत में भी आगमरहित रूप निषेधवाचक निपात मा के साथ प्रयुक्त होते है[३३], और ऐसे रूप निस्सन्देह विधिमूलक लकार के माने जा सकते है।

पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि भूतकालवाचक आगम मूलतः एक स्वतन्त्र निपात रहा होगा और इसका प्रयोग उसी स्थिति में किया जाता होगा जब प्रसङ्ग से भूतकाल का अर्थ स्पष्ट नहीं होता था। इस आगम के स्वतन्त्र निपात होने के पक्ष में इस की स्वर-सम्बन्धी विशेषता का भी उल्लेख किया जाता है, क्योंकि आख्यात पद का उदात्त सदा इस आगम पर रहता है (दे० टि० २६)। ग्रीक, आर्मिनियन, अवेस्ता तथा प्राचीन पर्शियन में भी इस आगम का प्रयोग मिलता है।

क्रिया-प्रकारवाचक लकारों की रूप-रचना

२१५. विधिमूलक (Injunctive) को छोड़ कर शेष सब क्रिया-प्रकारवाचक लकारों के प्रत्ययों की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं हैं, और इन प्रत्ययों से पूर्व विशेष आगम भी जोड़े जाते हैं। अत एव इन लकारों के रूपों की रचना समझने के लिये इन के प्रत्ययों का पृथक् विवेचन वाञ्छनीय है। लकारों के प्रयोग का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

२१६. **विधिमूलक लकार (Injunctive mood)**— विधिमूलक के रूप अट् या आट् आगमरहित लङ्, लुङ् तथा अतिलिट् (Pluperfect) के रूपों के सर्वथा समान है। अत एव उपर्युक्त तीनों लकारों में प्रयुक्त होने वाले निम्नलिखित गौण प्रत्यय ही साधारणतया विधिमूलक लकार के प्रत्यय माने जा सकते है—

परस्मैपद

	ए०	;	द्वि०	व०
प्र० पु०	त्	;	ताम्	अन्, उस्।

म० पु०	स्	तम्	त।
उ० पु०	अम्	व	म।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	त	आताम्, इताम्	अन्त, अत।
म० पु०	थास्	आथाम्, इथान्	ध्वम्।
उ० पु०	इ	वहि	महि।

२१७. लेट् (Subjunctive mood)— लङ्वर्ग, लिङ्वर्ग तथा लुङ्वर्ग के अङ्ग से लेट् के रूप बनते हैं। केवल एक लेट् रूप कुरिष्याः (ऋ० ४,३०,२३) लृङ्वर्ग के अङ्ग से बना हुआ माना जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शक्ताङ्ग (Strong stem) के साथ लेट्-प्रत्ययों से पूर्व इस लकार का विशेष आगम (modal affix) अ जोड़ा जाता है और अकारान्त अङ्ग के साथ सवर्णदीर्घ सन्धि होने पर आ एकादेश हो जाता है। पाणिनि के मतानुसार, लेट्-प्रत्ययों को अट् या आट् आगम होता है जो पित् माना जाता है[२४]; और पित् प्रत्यय के निमित्त से धातु के इकार, उकार, ऋकार को गुण हो जाता है (दे० अनु० २१२, टि० ११क)। दोनों प्रक्रियाओं में परिणाम समान है। यथा—ले० प्र० पु० ए० में दुह् "दोहना" से दोह्+अ+त्=दोहत्, युज् "जोतना" से युनज्+अ+त्=युनजत्; भू से भव+अ (पा० आट्)+ति=भवाति; ब्रू "बोलना" से म० पु० ब० में ब्रू+आ+थ=ब्रो+आ+थ=ब्रवाथ (अ०)। उ० पु० में पित् आट् आगम[२५] का विधान करके पाणिनि जिन्हें लोट् के रूप मानता है वे सब रूप पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ले० उ० पु० के हैं[२६]; यथा—भू से भवानि, भवा (ए०), भवाव (द्वि०), भवाम (ब०)। अत एव आधुनिक मत के अनुसार, लेट् के उ० पु० के प्रत्ययों को पित् आट् आगम की प्राप्ति होती है।

लेट् में मूल तथा गौण दोनों प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग मिलता

है, परन्तु गौण प्रत्ययों का प्रयोग मूल प्रत्ययों के प्रयोग से लगभग दुगुना है। लेट् के प्रत्ययों की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया गया है।

परस्मैपद के प्र० पु० ए० तथा म० पु० ए० में मूल तथा गौण दोनों प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है[३७]; यथा—भवाति, भवात्; दोहसि, दोहः। और प्र० पु० ब० में केवल गौण प्रत्यय (अन् टि० ३७) और म० पु० द्वि० तथा ब० में केवल मूल प्रत्ययों का प्रयोग होता है; यथा—भवान्, भवाथः, भवाथ। उ० पु० ए० में मि के स्थान पर नि प्रत्यय आता है जिसे पाणिनि लोट् का प्रत्यय मानता है[३८], परन्तु पाश्चात्य विद्वान् लेट् का प्रत्यय मानते है (टि० ३६); यथा—भवानि। ऋ० में १३ बार नि प्रत्यय का लोप हो जाता है और केवल आट् आगम अङ्ग के अन्त में जुड़ता है (टि० ३५); यथा—ब्रवा, योजा। परन्तु पपा० में अन्तिम आ ह्रस्व कर दिया जाता है। उ० पु० द्वि० तथा ब० के वस् तथा मस् के अन्तिम स् का लोप हो जाता है[३९]; यथा—दोहाव, दोहाम, भवाव, भवाम।

आत्मनेपद में प्र० पु० ए० के प्रत्यय ते के स्थान पर ऋ० में एक बार और अ० में साधारणतया तै प्रत्यय प्रयुक्त होता है[४०]; यथा—युजातै (ऋ० १,८४,१८), जयातै (अ०, तै० सं०)। प्र० पु० द्वि० तथा म० पु० द्वि० के प्रत्ययों के आदि आ को प्रायेण ऐ आदेश हो कर[४१] क्रमशः ऐते तथा ऐथे प्रत्यय बन जाते हैं; यथा—यतैते (ऋ०), ब्रवैते (ऋ०), अश्नवैथे (ऋ०)। प्र० पु० ब० में अन्ते की तुलना में अन्त प्रत्यय का प्रयोग अधिक मिलता है और य० संहिताओं के ब्राह्मणभाग तथा ब्राह्मणग्रन्थों के कुछेक प्रयोगों में अन्तै प्रत्यय भी दृष्टिगोचर होता है (टि० ४०); यथा—अश्नवन्त (ऋ०), कृणवन्त (ऋ०), मन् "मानना" से मंसन्ते (ऋ०), जन् "उत्पन्न होना" से जायन्तै (तै० सं० ७,५,१,१), गृह्णान्तै तथा उच्यान्तै (तै० सं० ६,४,७,१), प्रवर्तन्तै (कौ० ब्रा० १३,५)। ऋ० में म० पु० ए० का से प्रत्यय और अ० तथा ब्रा० में प्रायेण सै प्रत्यय प्रयुक्त होता

है (टि० ४०); यथा—वृर्धासे (ऋ०), नयासै (अ०)। म० पु० ब० में ध्वे तथा ध्वै का प्रयोग होता है; ऋ० के केवल एक शब्द में और अन्य संहिताओं तथा ब्रा० के कुछेक शब्दों में ध्वै प्रत्यय का प्रयोग मिलता है (टि० ४०); यथा—कामयाध्वे (ऋ०), मादयाध्वै (ऋ०), भुज् "भक्षण करना" से भुनजाध्वै (तै० सं०)। उ० पु० के तीनों वचनों में प्रत्यय के अन्तिम ए का ऐ हो जाता है, जैसा कि पाणिनि लोट् के उ० पु० मे मानता है[४२] (टि० ३६), और परिणामतः ए० द्वि० ब० में क्रमशः ऐ, वहै, महै प्रत्यय बनते है; परन्तु कुछेक रूपों में महै के स्थान पर महे प्रत्यय का प्रयोग भी मिलता है।

उ० पु० में आट् और अन्य पुरुषों में साधारणतया अट् आगम के साथ (कुछेक के साथ आट् जोड़ कर) लेट् के प्रत्ययों के निम्नलिखित रूप बनते हैं—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अति, अत्	अतस्	अन्।
म० पु०	असि, अस्	अथस्	अथ।
उ० पु०	आनि, आ	आव	आम।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अते, आतै	ऐते	अन्त, अन्ते, आन्तै।
म० पु०	असे, आसै	ऐथे	अध्वे, आध्वै।
उ० पु०	ऐ	आवहै	आमहै, आमहे।

२१८. लोट्—लड्वर्ग, लिड्वर्ग तथा लुङ्वर्ग के अङ्ग से लोट् के रूप बनते है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, केवल प्र० पु० ए०, प्र० पु० ब० तथा म० पु० ए० के प्रत्यय लोट् लकार के अपने हैं; उ० पु० के सब

प्रत्यय लेट् से; और प्र० पु० द्वि०, म० पु० द्वि०, तथा म० पु० ब० के प्रत्यय विधिमूलक लकार (Injunctive mood) से लिये गये हैं (टि० ३६)। कतिपय विद्वान् विधिमूलक लकार से लोट् का विकास मानते हैं। 'लोटो लङ्वत्' सूत्र (३,४,८५) द्वारा पाणिनि ने भी अडागमरहित लङ् (जो कि विधिमूलक लकार का रूप है) और लोट् की समानताओं को स्वीकार किया है।

उ० पु० में पाणिनि जिस आट् आगम का विधान करता है (टि० ३५) और जिसे पाश्चात्य विद्वान् लेट् का आगम मानते है, उस के अतिरिक्त लोट् के प्रत्ययों को कोई आगम नहीं होता है। लोट् के प्रत्ययों की कुछेक विशेषताएँ इस प्रकार है। परस्मैपद के प्र० पु० ए० तथा प्र० पु० व० के प्रत्ययों के अन्तिम इ का उ बन जाता है[४३]; और परिणामस्वरूप प्र० पु० ए० में तु और प्र० पु० व० में अन्तु या अतु प्रत्यय प्रयुक्त होता है। परस्मैपद के म० पु० ए० मे निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है—(१) अकारान्त अङ्ग से परे प्रत्यय का पूर्ण लोप हो जाता है[४४]: यथा—भृ "धारण करना" से भर। (२) जिस अङ्ग के अन्त में अ से भिन्न स्वर या व्यञ्जन आये उस के साथ प्राचीनतम वैदिक भाषा में प्रायेण धि प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[४५], परन्तु उत्तरकालीन भाषा में केवल व्यञ्जनान्त अङ्ग और हु "होम करना" के अङ्ग से परे धि[४६] और अ से भिन्न अन्य स्वर जिस के अन्त में आये उस से परे हि प्रत्यय आता है। क्योंकि यह हि या धि प्रत्यय प्रायेण अपित् होता है[४७], इस लिये इस प्रत्यय से पूर्व प्रायेण अशक्ताङ्ग (Weak stem) प्रयुक्त होता है, यथा—श्रु 'सुनना" से श्रुधि, कृ "करना" से कृधि, परन्तु यु "पृथक् करना" से युयोधि। (३) जिस अङ्ग के अन्त मे प्रत्यय का उ हो और उ से ठीक पूर्व संयुक्त व्यञ्जन न हों, उस उ से परे प्राचीन वैदिक भाषा मे कहीं-कहीं और उत्तरकालीन भाषा में सर्वत्र हि या धि प्रत्यय का लोप हो जाता है[४८], यथा—शृणु, सु "रस निकालना" से सुनु, कुरु, तनु, परन्तु शृणुधि, शृणुहि, तनुहि, आप्नुहि (अ०)।

(४) क्र्यादिगण के अजन्त धातुओं के साथ हि प्रत्यय जोड़ा जाता है (धि कभी नहीं), परन्तु हलन्त धातुओं से परे, पा० के अनुसार ना (श्ना) विकरण के स्थान पर आन (शानच्) और कहीं-कही आय (शायच्) हो कर हि का लोप हो जाता है[४९]; यथा—पू "पवित्र करना" से पुनीहि, ग्रह् "ग्रहण करना" से गृहाण (ऋ०), बन्ध् "बाँधना" से बधान, अश् 'खाना" से अशान, ग्रभ् (ग्रह्) से गृभाय (ऋ०)[५०]।

(५) ऋ० में लगभग २० बार और अन्यत्र भी अनेक वार लोट् के रूपों में तात् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। इन मे से अधिकतर रूपों में तात् प्रत्यय म० पु० ए० में प्रयुक्त होता है[५१]। तात् से पूर्व अशक्ताङ्ग प्रयुक्त होता है अर्थात् पाणिनि के अनुसार यह प्रत्यय ङित् तथा अपित् (टि० ५१) है, इस लिये इस के निमित्त से अङ्ग को गुण या वृद्धि विकार नही होता है (टि० १२); यथा—विद् "जानना" से वित्तात् (ऋ०), कृ से कृणुतात् (ऋ०), पू "पवित्र करना" से पुनीतात् (ऋ०)। ऋ० में ५ बार और तै० सं०, वा० सं०, अ० तथा श० ब्रा० इत्यादि मे भी एक दो बार तात् प्रत्यय प्र० पु० ए० में प्रयुक्त हुआ है (टि० ५१); यथा—गच्छतात् (ऋ० १०, १५४,१-५), आ विशतात् (तै० सं० ७,१,६,६; वा० सं० ८,४२; श० ब्रा० ४,५,८,६); वि पातयतात् (श० ब्रा०)। ऋ० मे एक बार तात् प्रत्यय म० पु० द्वि० में प्रयुक्त हुआ है (?); यथा—आ वहतात् (ऋ० १०,२४,५)[५२]। तै० सं०, मै० सं०, का० स०, ब्राह्मणग्रन्थों तथा सूत्रों में ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिन में म० पु० ब० में तात् का प्रयोग मिलता है[५३]; यथा—ब्रूतात् (तै० सं० १,४,४५,३), मै० सं० ४,१३,४ में[५४]— कृणुतात्, खनतात्, गमयतात्, सं सृजतात्, वारयतात् इत्यादि। अ० में एक बार तात् प्रत्यय उ० पु० ए० के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है; यथा—जागृताद् अहम् (अ० ४,५,७)। यद्यपि पाणिनि के मतानुसार (टि० ५१) तात् प्रत्यय आशीर्वाद के अर्थ में आता है, पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भावी आदेश को प्रकट

करने के लिये तात् का प्रयोग होता है[५५] और तात् के आशीर्वाद-वाचक वैदिक उदाहरण लगभग अप्राप्य हैं।

म० पु० ब० के कुछ रूपों में, जो पाणिनि के अनुसार लोट् के और कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार विधिमूलक लकार के हैं, अपित् त के स्थान पर पित् त (पा० तप्) तथा तन (पा० तनप्) का और अपित् तन का प्रयोग मिलता है (टि० १६); यथा—हु "होम करना" से जुहोत, जुहोतन, इ "जाना" से इतन (ऋ०)।

आत्मनेपद में प्र० पु० के तीनों वचनों तथा म० पु० द्वि० में प्रत्यय के अन्तिम ए का आम् बन जाता है[५६] और प्रत्ययों का रूप प्र० पु० ए०, द्वि० ब० में क्रमश: ताम्, आताम् या इताम् (टि० २४), अन्ताम् या अताम् (टि० १८) और म० पु० द्वि० में आथाम् या इथाम् (टि० २४) बनता है। कुछेक वैदिक रूपों में प्र० पु० ए० में ताम् के स्थान पर आम् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है (टि० २१); यथा—दुह् "दोहना" से दुहाम् (ऋ०), विद् "पाना" से विदाम् (अ०), शी "सोना" से शयाम् (अ०)। म० पु० ए० में स्व और ब० में ध्वम् प्रत्यय प्रयुक्त होता है[५७]। पदकार तथा पाश्चात्य विद्वान् ऋ० के एक रूप में ध्वम् के स्थान पर ध्व प्रत्यय मानते हैं[५८]; यथा—यज् से यजध्व (ऋ० ८,२,३७)। का० सं० तथा ऐ० ब्रा० इत्यादि में उपलब्ध होने वाले एक रूप में ध्वम् के स्थान पर ध्वात् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[५९]; यथा—वारयध्वात् (का० सं० १६, २१; ऐ० ब्रा० २,६; आश्व० श्रौ० सू० ३,३)। मै० सं० इत्यादि में इस के स्थान पर वारयतात् रूप मिलता है (ऊपर दे० परस्मैपद के प्रत्यय)। दे० अनु० २८९।

उ० पु० के दोनों पदों के प्रत्यय ले० उ० पु० के प्रत्ययों के सर्वथा समान माने जाते हैं। प्र० पु० तथा म० पु० में लोट् के निम्नलिखित प्रत्ययों का वैदिक प्रयोग मिलता है—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	तु, तात्	ताम्	अन्तु, अतु।
म० पु०	हि, धि, तात्	तम्	त, तन, तात्।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ताम्, आम्	आताम्, इताम्	अन्ताम्, अताम्।
म० पु०	स्व	आथाम्, इथाम्	ध्वम्, ध्व, ध्वात्।

२१९. **विधिलिङ्**—लड्वर्ग, लिड्वर्ग तथा लुङ्वर्ग के अङ्ग से विधिलिङ् के रूप बनते हैं। परस्मैपद तथा आत्मनेपद के प्रत्ययों से पूर्व भिन्न-भिन्न आगम जोड़े जाते हैं और अकारान्त तथा अनकारान्त अङ्ग से परे आगम के भिन्न-भिन्न रूप बनते है।

परस्मैपद प्रत्ययों को या (पा० यास्) आगम होता है, जो उदात्त तथा ङित् होता है[६०]। (भ्वादिगण, दिवादिगण, तुदादिगण इत्यादि में) अकारान्त अङ्ग से परे या आगम का इय् बन जाता है[६१], और व्यञ्जनादि प्रत्ययों से पूर्व इय् के य् का लोप होकर[६२] केवल इ बचता है। विलि० में गौण प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं और प्र० पु० ब० में उस् प्रत्यय आता है (टि० १३)। उस् प्रत्यय से पूर्व या आगम के आ का लोप हो जाता है[६३]। म० पु० ब० के कुछ रूपों में त के स्थान पर तन प्रत्यय भी आता है। अनकारान्त तथा अकारान्त अङ्ग से परे आगमसहित विधिलिङ् प्रत्ययों के निम्नलिखित रूप बनते है—

परस्मैपद

अनकारान्त अङ्ग से परे

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	यात्	याताम्	युस्।

म० पु०	यास्	यातम्	यात, यातन।
उ० पु०	याम्	याव	याम।

अकारान्त अङ्ग से परे

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	इत्	इताम्	इयुस्।
म० पु०	इस्	इतम्	इत, इतन।
उ० पु०	इयम्	इव	इम।

अकारान्त अङ्ग के अन्तिम अ तथा आगम के इ की गुण-सन्धि (ए) हो जाती है।

आत्मनेपद के प्रत्ययों को ईय् (पा० सीय्) आगम होता है[६४]; और व्यञ्जनादि प्रत्ययों से पूर्व ईय् के य् का लोप हो जाता है (टि० ६२)। अकारान्त अङ्ग के अन्तिम अ के साथ ईय् के ई की गुणसन्धि (ए) हो जाती है। प्र० पु० ब० में रन् प्रत्यय प्रयुक्त होता है (टि० २२) और उ० पु० ए० में अ प्रत्यय आता है[६५]। भरेरत रूप में रन् के स्थान पर रत प्रत्यय का प्रयोग माना जाता है (अनु० २२५)। शेष प्रत्यय लङ् तथा लुङ् के समान हैं जो पाणिनि के अनुसार मूल और पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार गौण प्रत्यय हैं (अनु० २१३)। आगमसहित विधिलिङ् प्रत्ययों के निम्नलिखित रूप वनते हैं—

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ईत	ईयाताम्	ईरन्।
म० पु०	ईथास्	ईयाथाम्	ईध्वम्।
उ० पु०	ईय	ईवहि	ईमहि।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत मे वनने वाले विलि० रूपों में कोई विशेष अन्तर नही है। कुछेक वैदिक रूपों में म० पु० ब० (परस्मैपद) में त के स्थान पर तन प्रत्यय का प्रयोग मिलता है।

२२०. **आशीर्लिङ्**—आशीर्लिङ् के सभी प्रत्यय परस्मैपद तथा आत्मनेपद में

विलि० के प्रत्ययों के समान हैं। मुख्य अन्तर यह है कि आलि० के प्रत्यय आर्धधातुक माने जाते हैं[११], इसलिये इन से पूर्व गण का विकरण (शप् इत्यादि) नहीं जोड़ा जाता है। और पाश्चात्य विद्वानों के शब्दों में लड्वर्ग के अङ्ग से आलि० का रूप नहीं बनता है, अत एव इस से पूर्व विकरणयुक्त अङ्ग आने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्ययों से पूर्व जुड़ने वाले आगमों के विषय में विलि० तथा आलि० में विशेष अन्तर है। परस्मैपद के प्रत्ययों से पूर्व आलि० में उदात्त तथा कित्[६७] यास् आगम जोड़ा जाता है (टि० ६०)। आत्मनेपद के प्रत्ययों से पूर्व सीय् आगम जुड़ता है (टि० ६४)। व्यञ्जनादि प्रत्ययों से पूर्व सीय् के य् का लोप हो जाता है (टि० ६२) और प्र० पु० तथा म० पु० के ए० द्वि० प्रत्ययों के तकार तथा थकार से पूर्व एक स् का आगम भी किया जाता है[६८]। आगमसहित आलि० प्रत्ययों के निम्नलिखित रूप बनते है—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	यात्[११]	यास्ताम्	यासुस्।
म० पु०	यास्[११]	यास्तम्	यास्त।
उ० पु०	यासम्	यास्व	यास्म।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	सीष्ट	सीयास्ताम्	सीरन्।
म० पु०	सीष्ठास्	सीयास्थाम्	सीध्वम्।
उ० पु०	सीय	सीवहि	सीमहि।

स् आगम का ष् बन जाता है और उसके प्रभाव से त् का ट् तथा थ् का ठ् बन जाता है। सीय् आगम से पूर्व इ (पा० इट्) आने पर इस के स् का भी ष् हो जाता है। पाश्चात्य विद्वान्

आलि० को विलि० का ही रूप-भेद मानते हैं, और प्रायेण लुङ्वर्ग के अङ्ग से ही इस के रूपों की रचना मानते हैं; (अनु० २८५)। प० के प्र० तथा म० पु० ए० क प्रत्यय विलि० और आलि० में साधारणतया समान हैं, परन्तु प्राचीन वैदिक रूपों में प्र० पु० ए० का प्रत्यय प्रायेण यास् मिलता है (अनु० २६६ ब)।

लड्वर्ग के अङ्ग से आख्यातरूप

२२१. आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, लट् लकार के प्रत्ययों से पूर्व जो अङ्ग आता है, उस अङ्ग से लट् के अतिरिक्त, लङ्, विधिमूलक लकार (Injunctive), लेट्, लोट्, विधिलिङ्, शत्रन्त तथा शानजन्त रूप भी बनते हैं। लड्वर्ग के अङ्ग से बनने वाले वैदिक रूप लिड्वर्ग, लुङ्वर्ग तथा लृड्वर्ग के अङ्गों से बनने वाले समस्त रूपों से लगभग तिगुने हैं।

२२२. **गण-विभाजन**—लट् में बनने वाले अङ्गों की रूप-रचना के अनुसार पाणिनि ने संस्कृत के धातुओं को दस गणों में विभक्त किया है और गण के आदि धातु के नाम पर गणों के निम्नलिखित नाम रक्खे हैं—(१) भ्वादिगण (२) अदादिगण (३) जुहोत्यादिगण (४) दिवादिगण (५) स्वादिगण (६) तुदादिगण (७) रुधादिगण (८) तनादिगण (९) क्र्यादिगण (१०) चुरादिगण। पाश्चात्य विद्वान् अपने ग्रन्थों में गणों की क्रम-संख्या का प्रयोग करके इन का निर्देश करते हैं, यथा—१म, २य, ३य, ४थ, ५म, ६ठ, ७म, ८म, ९म, १०म। अनेक पाश्चात्य विद्वान् तनादिगण को स्वादिगण का ही उपभाग मानते हैं और इसे पृथक् गण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में वे यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि कृ के अतिरिक्त तनादिगण के सभी धातु नकारान्त हैं और उ प्रत्यय जोड़ने पर इन के लट् रूप सर्वथा स्वादिगण के धातुओं के रूपों की भांति बनते हैं। परन्तु लिट्, लुङ्, लृट् इत्यादि में तन् इत्यादि धातुओं के रूप स्वादिगण के धातुओं के रूपों से भिन्न बनते हैं और सिद्ध करते है कि इन के लट् रूपों में स्वादिगण के नु (पा० श्नु) विकरण से भिन्न उ विकरण स्वीकार करना ही समीचीन है।

अत एव इस ग्रन्थ में तनादिगण के रूपों का पृथक् विवेचन किया जायगा। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने चुरादिगण के धातुओं की रूपरचना का विवेचन प्रेरणार्थक णिजन्त (Causative) धातुओं की रूपरचना के साथ किया है, क्योंकि दोनों प्रकार के धातुओं के साथ इ (पा० णिच्) प्रत्यय तथा अ (पा० शप्) विकरण जोड़ कर रूप बनाये जाते है और अंशतः प्रेरणा का भाव इन में अवश्य निहित रहता है; यद्यपि सभी णिजन्त धातु प्रेरणार्थक नहीं हैं। अत एव इस ग्रन्थ में भी सभी णिजन्त धातुओं (चुरादि तथा प्रेरणार्थक) के रूप साथ-साथ समझाये गये हैं (अनु० २८९)। पाणिनि ने भी दोनों प्रकार के णिच् प्रत्ययों का विधान साथ-साथ किया है (पा० ३,१,२५-२६) और उन से सम्बद्ध प्रक्रियाओं को समान सूत्रों में समझाया है (पा० १,३,७४;२,४,५१;६,१ ३१;७,४, १;७,४,८०-८१)।

२२३. **अनेक गणों वाले धातु**—लौकिक संस्कृत में भी कुछ धातुओं के रूप एक से अधिक गणों में बनते हैं; यथा—भ्रम् भ्वा० तथा दि० में, चम् भ्वा० तथा स्वा० में, राध् दि० तथा स्वा० में, इत्यादि। वैदिक भाषा में ऐसे बहुत से धातु हैं, जिन के रूप अनेक गणों में बनते हैं। पाणिनि ने स्तम्भ्, स्तुम्भ्, स्कम्भ्, स्कुम्भ् तथा स्कु धातुओं के साथ श्ना तथा श्नु विकरण का विधान किया है अर्थात् क्र्या० तथा स्वा० में इन के रूप माने हैं[७०]। और वैदिक प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि स्तम्भ्, स्कम्भ् तथा स्कु के रूप क्र्या० तथा स्वा० में अवश्य मिलते है। सम्भवतः स्तुम्भ्, स्तम्भ् का तथा स्कुम्भ्, स्कम्भ् धातु का पाठभेद ही हो। इसी प्रकार कुछ अन्य धातुओं के गण के विषय में पाणिनि ने विकल्प किया है[७०क]। परन्तु सब वैदिक धातुओं के विभिन्न लट्रूपों के सम्बन्ध में पाणिनि ने कोई विशद तथा निश्चित नियम न बना कर एक साधारण बात कही है कि वैदिक धातुओं के साथ जुड़ने वाले विकरणो के विषय में बहुत कुछ व्यत्यय (उलट-फेर) है[७१]। आधुनिक विद्वान् इस विषय में व्यत्यय को स्वीकार न करके यह मानते हैं कि ये विशेषताएं वैदिक भाषा के क्रमिक विकास तथा सुनिश्चित प्रवृत्तियों

की परिचायक है और इन सब के पीछे भी नियम रहा है । डेल्ब्रिक ने अपने ग्रन्थ में ऐसे वैदिक धातुओं की परिगणना की है जिन के रूप अनेक गणों में बनते हैं[७२] । ह्विट्ने ने भी अपने ग्रन्थ (The Roots, Verb-Forms, and Primary Derivatives of the Sanskrit Language) में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले धातुओं के विभिन्न गणों का निर्देश किया है ।

२२४. **लड्वर्ग के अङ्गों का वर्गीकरण**—रूप-रचना तथा स्वर-वैशिष्ट्य के विचार से लड्वर्ग के अङ्गों को दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) अकारान्त अङ्ग और (ख) अनकारान्त अङ्ग । इन अङ्गों से बनने वाले विलि० (अनु० २१९), लो० म० पु० ए० (अनु० २१८), आत्मनेपद प्र० पु० ब० (लट्, लङ्, लुङ् टि० १८) तथा शानजन्त रूप सर्वथा भिन्न होते हैं । अकारान्त अङ्ग में उदात्त (अट् आगमसहित लङ् को छोड़ कर) सभी प्रत्ययों से पूर्व एक निश्चित अक्षर पर रहता है और अङ्ग तथा प्रत्ययों के मध्य होने वाली सन्धि के अतिरिक्त अङ्ग में कोई विकार नहीं होता है । इस के विपरीत अनकारान्त अङ्ग में प्रत्ययों से पूर्व शक्ताङ्ग तथा अशक्ताङ्ग का भेद होता है (अनु० २१२) । पित् प्रत्ययों से पूर्व अनकारान्त अङ्ग के इकार, उकार या ऋकार को गुण हो जाता है (टि० ११क) और उदात्त अङ्ग पर रहता है, परन्तु अपित् प्रत्ययों से पूर्व अङ्ग के अच् को गुण या वृद्धि नहीं होती है (टि० १२) और उदात्त प्रत्यय पर रहता है ।

(क) **अकारान्त अङ्ग**—अकारान्त अङ्ग के निम्नलिखित उपभेद हैं और प्रत्येक की विशेषताएं संक्षेपतः इस प्रकार हैं—

१. भ्वादिगण—इस का विकरण पित् अ (पा० शप्) है और अट् आगम सहित लङ् के सिवाय सब रूपों में उदात्त धातु के स्वर पर रहता है ।

२. तुदादिगण—इस का विकरण अपित् अ (पा० श) है और अट् आगम

सहित लङ् के सिवाय सब रूपों में उदात्त विकरण के अ पर रहता है।

३. **दिवादिगण**—इस का विकरण अपित् य (पा० श्यन्) है और अट् आगम सहित लङ् के सिवाय सब रूपों में उदात्त धातु के स्वर पर रहता है।

४. लृट्, भाववाच्य तथा कर्मवाच्य (केवल यक् सहित) चुरादिगण, णिजन्त, नाम-धातु, सन्नन्त और यङन्त के रूप भी अकारान्त अङ्ग से बनते हैं। इन का विवेचन यथास्थान किया जायगा।

(ख) **अनकारान्त अङ्ग**—निम्नलिखित गणों के रूपों में अनकारान्त अङ्ग से परे प्रत्यय जोड़े जाते हैं—

१. **अदादिगण**—इस गण का कोई विकरण नहीं है और केवल धातुओं के साथ प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

२. **जुहोत्यादिगण**—इस गण का भी कोई विकरण नहीं है, परन्तु लड्वर्ग का अङ्ग बनाने के लिये प्रत्ययों से पूर्व धातु को द्वित्व होता है।

३. **स्वादिगण**—इस गण का विकरण नु (पा० श्नु) है।

४. **तनादिगण**—इस गण का विकरण उ है और नकारान्त धातुओं का अङ्ग स्वादिगण के अङ्ग के समान बनता है।

५. **रुधादिगण**—इस गण का विकरण न (पा० श्नम्) है जो धातु के अन्तिम अच् के पश्चात् जोड़ा जाता है और अपित् प्रत्ययों से पूर्व जिस के अकार का लोप हो जाता है।

६. **क्र्यादिगण**—इस गण का विकरण ना (पा० श्ना) है। अपित् अजादि प्रत्ययों से पूर्व ना के आ का लोप और अपित् हलादि प्रत्ययों से पूर्व ना के आ का ई हो जाता है।

(क) अकारान्त अङ्ग (Thematic Stem)

१. भ्वादिगण

२२५. भ्वादिगण के अनुसार जिन धातुओं के रूप बनते हैं उन की संख्या सब से अधिक है। ऋ० में लगभग २४० और अ० में लगभग २०० धातुओं के रूप भ्वादिगण के अनुसार बनते हैं और समस्त संस्कृत वाङ्मय के

लगभग आधे धातुओं के रूप इस गण में बनते है। भ्वादिगण के धातुओं के साथ पित् अ (पा० शप्) विकरण जोड़ा जाता है[७१]; इस विकरण के कारण धातु के इकार, उकार या ऋकार को गुण हो जाता हैं (टि० ११क); और अट् या आट् आगम वाले लङ् के रूपों के सिवाय आख्यात का उदात्त धातु के अक्षर पर रहता है; यथा—भू+अ= भो+अ=भव+ति=भवति। इसी प्रकार नी, जि, बुध् तथा सृप् से क्रमशः नय–, जय–, बोध–, तथा सर्प– अङ्ग बनते हैं।

भ्वादिगण के उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर भू धातु के रूप विभिन्न लकारों में निम्नलिखित प्रकार से बनाये जा सकते हैं (संहिताओं में अनुपलब्ध रूपों के उदाहरण कोष्ठकान्तर्गत है)—

परस्मैपद

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भवति	भवतः	भवन्ति।
म० पु०	भवसि	भवथः	भवथ।
उ० पु०	भवामि	भवावः	भवामः, भवामसि।

भ्वादिगण में थन-प्रत्ययान्त रूप का केवल एक उदाहरण वदथन (ऋ०) मिलता है (अनु० २१२)।

लङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्।
म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत।
उ० पु०	अभवम्	(अभवाव)	अभवाम।

विधिमूलकलकार

विधिमूलक लकार (Injunctive mood) के रूप अट् या आट् आगम रहित लङ् के सर्वथा समान हैं। इस लिये उन की पृथक् रूपावलि देना अनावश्यक है।

लोट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भवतु	भवताम्	भवन्तु ।
म० पु०	भव, भवतात्	भवतम्	भवत ।

लोट् उ० पु० के रूप लेट् उ० पु० के समान माने जाते हैं। भ्वा० में तन-प्रत्ययान्त रूप का केवल एक उदाहरण भजतन (ऋ०) मिलता है (अनु० २१८)। तात्– प्रत्ययान्त रूपों के लिये दे० अनु० २१८।

लेट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भवाति, भवात्	भवातः	भवान् ।
म० पु०	भवासि, भवाः	भवाथः	भवाथ ।
उ० पु०	भवानि, भवा	भवाव	भवाम ।

विधिलिङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः ।
म० पु०	भवेः	(भवेतम्)	(भवेत) ।
उ० पु०	भवेयम्	(भवेव)	भवेम ।

शत्रन्त (प्रथ० ए०)

नपुं० भवत् ; पुं० भवान् ; स्त्री० भवन्ती।

आत्मनेपद

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भवते	भवेते	भवन्ते ।
म० पु०	भवसे	(भवेथे)	भवध्वे ।
उ० पु०	भवे	भवावहे	भवामहे ।

प्र० पु० ए० में शये, शोभे इत्यादि के लिये देखिये अनु० २१३।

सप्तमोऽध्यायः

लङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त ।
म० पु०	अभवथाः	अभवेथाम्	(अभवध्वम्) ।
उ० पु०	अभवे	(अभवावहि)	(अभवामहि) ।

लोट्

प्र० पु०	भवताम्	भवेताम्	भवन्ताम् ।
म० पु०	भवस्व	भवेथाम्	भवध्वम् ।

ध्व- प्रत्ययान्त रूप का केवल एक उदाहरण यजध्व (ऋ०) मिलता है (अनु० २१८, टि० ५८)।

लेट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भवाति, भवातै	भवैते	(भवान्ते) ।
म० पु०	भवासे, भवासै	भवैथे	(भवाध्वे) ।
उ० पु०	भवै	भवावहै	भवामहै ।

विधिलिङ्

प्र० पु०	भवेत	(भवेयाताम्)	(भवेरन्) ।
म० पु०	(भवेथाः)	(भवेयाथाम्)	(भवेध्वम्) ।
उ० पु०	भवेय	भवेवहि	भवेमहि ।

भृ 'धारण करना" से बने प्र० पु० ब० रूप भरेरत (ऋ०) में रन् के स्थान पर रत प्रत्यय माना जाता है (टि० १९)।

शानजन्त (प्रथ० ए०)

नपुं० भवमानम् ; पुं० भवमानः ; स्त्री० भवमाना ।

भ्वादिगण के उल्लेखनीय अपवाद

२२६. भ्वा० के निम्नलिखित धातुओं का लड्वर्ग का अङ्ग विशेष प्रकार से बनता है—

१. गुह् का गूह् —गुण के निमित्त अजादि प्रत्यय से पूर्व गुह्

"छिपना" के उपधा के उकार को गुण न हो कर दीर्घ हो जाता है[७४]; यथा—गूहते ।

२. परस्मैपद में क्रम् "कदम बढ़ाना" के लड्वर्ग अङ्ग का अकार दीर्घ हो जाता है[७५]; यथा—क्रामति, परन्तु क्रमते ।

३. साधारण नियम (टि० ११क) के अपवाद-स्वरूप कृप् धातु के उपधा ऋकार को गुण नहीं होता है और ऊह् धातु के उपधा ऊकार को गुण हो जाता है[७६]; यथा—कृपते, ओहते ।

४. गम् "जाना", यम् "नियन्त्रित करना", यु "पृथक् करना" से लड्वर्ग का अङ्ग क्रमशः गच्छ–, यच्छ– तथा युच्छ– बनता है[७७]; यथा—गच्छति, यच्छति, युच्छति ।

५. पा "पीना", घ्रा "सूंघना", स्था "खड़ा होना", सद् "बैठना" तथा सच् "संयुक्त होना" से लड्वर्ग के अङ्ग क्रमशः पिब, जिघ्र, तिष्ठ, सीद, तथा सश्च बनते हैं[७८]; यथा—पिबति, जिघ्रते (ऋ०), तिष्ठसि, सीदति, सश्चति (प्र० पु० ब०) ।

६. लड्वर्ग के अङ्ग में दंश् "डसना", सञ्ज् "चिपटना" तथा स्वञ्ज् "लिपटना" धातुओं के नकार का लोप हो जाता है[७९]; यथा—दशते (ऋ०) शत्र०, सजामि (ऋ०), स्वजन्ते (ऋ०) ।

७. कुछेक ऐसे धातु हैं जो, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार, मूलतः स्वादिगण के थे और कालान्तर में अंशतः या पूर्णतया जिन के रूप भ्वा० में बनने लगे हैं । स्वा० के अतिरिक्त भ्वा० के रूप भी इन में से अधिकतर धातुओं से बनते हैं और इन धातुओं के भ्वा० अङ्ग में जो **नकार** मिलता है वह स्वा० अङ्ग का अवशेष माना जाता है[८०]; यथा—इ "भेजना" से स्वा० इनोति, भ्वा० इन्वति; ऋ "जाना" से स्वा० ऋणोति, भ्वा० ऋण्वति (ऋ०); जि "जीवनयुक्त करना" से स्वा० जिनोषि, भ्वा० जिन्वसि (ऋ०); हि "प्रेरित करना" से स्वा० हिनोति, भ्वा० हिन्वति (ऋ०); पिन्व् "पीन करना" से बने पिन्वति इत्यादि भ्वा० के अनेक रूप मिलते हैं, परन्तु स्वा० में पिन्विरे (अनु० २४३,

५), पिन्वती, पिन्वन् और पिन्वान- के अतिरिक्त इस का कोई रूप संहिताओं में नही मिलता है।

२. तुदादिगण

२२७. लगभग १५० धातुओं के रूप तुदादिगण में बनते हैं। इन में से लगभग आधे धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में; लगभग ५० धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक सस्कृत में; और लगभग २० धातुओं के रूप केवल लौकिक संस्कृत में मिलते है। तुदा० के अधिकतर धातुओं की उपधा में ह्रस्व स्वर उ, इ, या ऋ मिलता है। इस गण का विकरण अपित् उदात्त अ (पा० श) है[८१]; और इसके अपित् (ङिद्वत्) होने के कारण धातु के उपधा-स्वर को गुण या वृद्धि विकार नहीं होता है (टि० १२); यथा—विश्+अ=विश- । अ विकरण से पूर्व, कॄ "बखेरना" तथा गॄ "निगलना", तॄ "पार करना" के अन्तिम ॠ का इर् बन जाता है[८२]; यथा—कॄ+अ= किर-; गॄ+अ=गिर-; तॄ+अ=तिर- । अ विकरण से पूर्व, ऋकारान्त धातु के ऋ का रिय् बन जाता है[८३]; यथा—मृ "मरना" से म्रियसे (ऋ०)। अ विकरण से पूर्व, धातु के अन्त में आने वाले इ को इय् और उ ऊ को उव् हो जाता है[८४]; यथा—क्षि "निवास करना" से क्षियति (अ०); सू "प्रेरित करना" से सुवति (ऋ०)।

२२८. **तुदा० के रूप**—तुदा० अङ्ग के साथ प्रत्यय ठीक उसी प्रकार जोड़े जाते हैं जैसे कि भ्वा० अङ्ग के साथ। यदि विश धातु से बने विश- अङ्ग के साथ प्रत्यय जोड़े जायं, तो भव- अङ्ग के रूपों की भांति प्र० पु० ए० परस्मैपद में—विशति (लट्), अविशत् (लङ्), विशतु (लो०), विशाति तथा विशात् (ले०), विशेत् (विलि०); और आत्मनेपद में—विशते (लट्), अविशत (लङ्), विशताम् (लो०), विशाते तथा विशातै (ले०), विशेत (विलि०) रूप बनते हैं।

२२९. तुदा० के उल्लेखनीय अपवाद—तुदा० के निम्नलिखित धातुओं का लङ्वर्ग का अङ्ग विशेष प्रकार से बनता है—

१. इष् "इच्छा करना", ऋ "जाना", तथा वस् "चमकना" से लङ्वर्ग का अङ्ग क्रमशः इ॒च्छ- (टि० ७७), ऋ॒च्छ- (टि० ७८), तथा उ॒च्छ[८५] बनता है।

२. कित् तथा ङित् प्रत्ययों से पूर्व, प्रच्छ् "पूछना", व्रश्च् "काटना", तथा भ्रस्ज् "भूनना" के रेफ को सम्प्रसारण हो जाता है[८६]; और तुदा० का विकरण अ अपित् तथा ङिद्वत् (टि० ११) माना जाता है, इस लिये सम्प्रसारण होने पर प्रच्छ् का लङ्वर्ग अङ्ग पृ॒च्छ-, व्रश्च् का वृ॒श्च- और भ्रस्ज् का भृ॒ज्ज- बनता है।

३. लङ्वर्ग का अङ्ग बनाते समय मुच् "छोड़ना", लुप् "छेदन करना", विद् "पाना", लिप् "लीपना", सिच् "सींचना", कृत् "काटना", पिश् "सजाना", तृप् "तृप्त होना", शुभ् "चमकना" की उपधा में नकार (पा० नुम्) का आगम हो जाता है[८७]; यथा—मु॒ञ्च-, लु॒म्प-, वि॒न्द-, लि॒म्प-, सि॒ञ्च-, कृ॒न्त-, पिं॒श-, तृ॒म्प-, शु॒म्भ-।

४. अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यद्यपि भारतीय वैयाकरण शो "तेज करना", छो "काटना", सो "बान्धना", तथा दो "अवखण्डित करना" धातुओं को ओकारान्त मान कर दिवा० में रखते हैं, तथापि इन के लङ्वर्ग अङ्ग (श्य-, छ्य-, स्य-, द्य-) में अ पर उदात्त होने के कारण इन्हें तुदा० में रखना अधिक उचित है[८८]। यह युक्ति भी प्रस्तुत की जाती है कि लङ्वर्ग से अन्यत्र इन के अङ्ग के अन्त में आ या इ मिलता है और प्राचीनतम वैदिक भाषा में इन के अङ्ग के य का उच्चारण प्रायेण -इअ करना चाहिए, जबकि दिवा० के विकरण य के सम्बन्ध में -इअ उच्चारण का कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता (टि० ८८)।

सप्तमोऽध्यायः

३. दिवादिगण

२३०. लगभग १३० धातुओं के रूप दिवादिगण में वनते हैं। इन में से लगभग ४० धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में, लगभग ३० धातुओं के रूप केवल लौकिक संस्कृत में, और लगभग ६० धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों में मिलते हैं। दिवा० के अधिकतर धातु अकर्मक हैं और ५० से अधिक धातुओं का अर्थ मानसिक या शारीरिक स्थिति से सम्बद्ध है; यथा—क्रुप् "क्रोध करना", क्षुध् "भूखा होना" इत्यादि। कतिपय विद्वानों का मत है कि मूलतः इन धातुओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य रूपों में कोई अन्तर नहीं रहा होगा और दोनों प्रकार के रूपों में य पर उदात्त रहा होगा। दिवा० का विकरण अपित् तथा अनुदात्त य (पा० श्यन्) है[८]; जिस के कारण धातु के स्वर में गुण या वृद्धि विकार नहीं होता है और अङ्ग का उदात्त धातु के स्वर पर रहता है; यथा—नश्+य=नश्य-; पुष्+य=पुष्य; नृत्+य=नृत्य-।

भाववाच्य तथा कर्मवाच्य रूपों के लड्वर्ग के अङ्ग में जो य (पा० यक्) प्रत्यय प्रयुक्त होता है वह उदात्त होता है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि दिवा० के धातुओं में अकर्मक तथा कर्मवाच्य (Passive) अर्थ की प्रधानता के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि भाववाच्य-कर्मवाच्य के लड्वर्ग अङ्ग से दिवा० के लड्वर्ग अङ्ग मे इन धातुओं का परिवर्तन हुआ होगा और इन के अङ्ग का उदात्त भी प्रायेण य से धातु के अक्षर पर चला गया[९०]। इस के अतिरिक्त ऋ० तथा अ० मे एक दो वार कर्मवाच्य के लड्वर्ग अङ्ग का उदात्त धातु के अक्षर पर मिलता है; यथा—मुच् "छोड़ना" से मुच्यसे (ऋ०)। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि दिवा० के कतिपय धातुओं के कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य अर्थ में कोई अन्तर नहीं है; यथा—क्षीयते तथा क्षीयते 'नष्ट किया जाता है'; जीयते (ऋ०) तथा जीयते "जीता जाता है"; मीयते तथा मीयते (अ०)

"भङ्ग किया जाता है"; रिच्यते (तै० सं०) तथा रिच्यते "छोड़ा जाता है"; लुप्यते तथा लुप्यते (अ०) "लुप्त किया जाता है"; हीयते तथा हीयते "छोड़ा जाता है"। इन विद्वानों का मत है कि जन् धातु से बना रूप जायते "उत्पन्न होता है" वास्तव में इस के कर्मवाच्य से दिवा० में परिणत अङ्ग है और इस का कर्तृवाच्य रूप जनति "उत्पन्न करता है" इत्यादि भी वैदिक भाषा में बनता है (टि० ९०)। इस सम्बन्ध में देखिये (अनु० ३१२)।

२३१. **दिवा० के रूप**—दिवा० अङ्ग के साथ प्रत्यय ठीक उसी प्रकार जोड़े जाते हैं जैसे कि भ्वा० अङ्ग के साथ। यदि नह् धातु से बने नह्य- अङ्ग के साथ प्रत्यय जोड़े जाएं, तो भव- अङ्ग के रूपों की भांति नह्य- अङ्ग से प्र० पु० ए० में निम्नलिखित रूप बनते हैं—

परस्मैपद—नह्यति (लट्), अनह्यत् (लङ्), नह्यतु (लो०), नह्याति तथा नह्यात् (ले०), नह्येत् (विलि०)।

आत्मनेपद—नह्यते (लट्), अनह्यत (लङ्), नह्यताम् (लो०), नह्याते तथा नह्यातै (ले०), नह्येत (विलि०)।

२३२. **एकारान्त, ऐकारान्त तथा ओकारान्त धातु**—

पाणिनीय धातुपाठ में जो धातु एकारान्त, ऐकारान्त या ओकारान्त माने गये हैं, उन धातुओं को पाश्चात्य विद्वान् आकारान्त मानते है।

(क) भ्वा० के एकारान्त तथा ऐकारान्त धातु दिवा० में—

पाश्चात्य विद्वान् भ्वा० के एकारान्त तथा ऐकारान्त धातुओं को आकारान्त मान कर दिवा० में रखते हैं[९१]; यथा—

एकारान्त– धा (धापा० धेट् 'पाने')+य+ति=धयति; मा (धापा० मेङ् 'प्रणिदाने')+य+ते=मयते; वा (धापा० वेञ् 'तन्तुसन्ताने')+य+ति=वयति; व्या (धापा० व्येञ् 'संवरणे')+य+ति=व्ययति; ह्वा (धापा० ह्वेञ् 'स्पर्धायां शब्दे च')+य+ति=ह्वयति।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, दिवा० के विकरण य से पूर्व इन का आ ह्रस्व हो जाता है (टि० ९१)।

सप्तमोऽध्यायः

ऐकारान्त— गा (धापा० गै 'शब्दे') + य + ति = गायति; ग्ला (धापा० ग्लै 'हर्षक्षये') + य + ति = ग्लायति; त्रा (धापा० त्रैङ् 'पालने') + य + ते = त्रायते; ध्या (धापा० ध्यै 'चिन्तायाम्') + य + ति = ध्यायति (ब्रा०); प्या (धापा० प्यैङ् 'वृद्धौ') + य + ते = प्यायते; रा (धापा० रै 'शब्दे') + य + ति = रायति; वा (धापा० ओ वै 'शोषणे') + य + ति = वायति; श्या (धापा० श्यैङ् 'गतौ') + य + ते = श्यायते (ब्रा०); श्रा (धापा० श्रै 'पाके') + य + ति = श्रायति।

(ख) दिवा० के ओकारान्त धातु तुदा० में—इस विषय में पहले ही यह बतलाया जा चुका है कि अनेक पाश्चात्य विद्वान् दिवा० के ओकारान्त धातुओं को तुदा० में सम्मिलित करते हैं (देखिए अनु० २२९.४)।

२३३. दिवा० के उल्लेखनीय अपवाद—

१. दिवा० के लड्वर्ग अङ्ग में अर्थात् दिवा० के विकरण य से पूर्व शम् "शान्त होना", तम् "दम घुटना, हांपना", दम् "दमन करना", श्रम् "थकना", भ्रम् "घूमना", तथा मद् "मुदित होना" के उपधा अकार का दीर्घ हो जाता है[१२]; यथा— शाम्यति (ब्रा०), ताम्यति (ब्रा०), दाम्यति (श० ब्रा०), श्राम्यति (सं० इत्यादि), भ्राम्यति (ब्रा०), माद्यति (ब्रा०)।

२. दिव् "खेलना", सिव् "सीना", इत्यादि जिन धातुओं के अन्त में वकार आता है उन की उपधा का इकार, य विकरण तथा अन्य हलादि प्रत्यय जुड़ने पर, दीर्घ हो जाता है[१३]; यथा— दीव्यति, सीव्यति।

३. लड्वर्ग के अङ्ग में जन् धातु का जा बन जाता है[१४]; यथा— जायते।

४. लड्वर्ग के अङ्ग में व्यध् "बींधना" के य् को सम्प्रसारण हो जाता है (टि० ८९); यथा— विध्यति।

५. ग्रासमैन, मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् दिवा० के लड्वर्ग अङ्ग

में स्पश् "देखना" के सकार का लोप मान कर पश्यति इत्यादि रूपों का समाधान करते है; जबकि पाणिनि पश्य को दृश् धातु का आदेश मानता है (टि० ७८)।

(ख) अनकारान्त अङ्ग (*Non-thematic Stem*)

१. अदादिगण

२३४. लगभग १५० धातुओं के रूप अदादिगण में बनते है। इन में से लगभग ८० धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में, लगभग १५ धातुओं के रूप केवल लौकिक संस्कृत में, और लगभग ५० धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों में मिलते है। इन में से कुछेक धातु ऐसे भी हैं जिन के रूप केवल अदादिगण में ही नही, अपितु अन्य गणों में भी बनते है[९५]; यथा— घ्रा "सूंघना" से घ्राति (कौ० ब्रा०) तथा जिघ्रति; क्षि "निवास करना" से क्षेति तथा क्षियति (तुदा०); कृ "करना" से कर्षि (अ०) तथा कुरोति; दा "देना" से दाति तथा ददाति; त्रै "बचाना" से ऋ० में लोट् के रूप त्रायस्व तथा त्रायध्वम् के अतिरिक्त त्रास्व तथा त्राध्वम् भी मिलते हैं। शी "सोना" के रूप अदादिगण तथा भ्वादिगण में बनते हैं; यथा— शेते और शयते। अदादिगण में धातु के साथ कोई विकरण नहीं जुड़ता है और केवल धातु के साथ प्रत्यय जोड़ दिये जाते है[९६]। केवल पित् प्रत्ययों से पूर्व धातु के स्वर को गुण होता है और अन्य प्रत्ययों से पूर्व धातु के स्वर को गुण नहीं होता है (दे० अनु० २१२, टि० ११क, १२); यथा— इ "जाना" से प्र० पु० ए० में एति, परन्तु प्र० पु० द्वि० में इतः बनता है।

२३५. अदादिगण के रूप—अदादिगण के उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर इ "जाना" (प०) तथा ब्रू "बोलना" (आ०) के रूप विभिन्न लकारों में निम्नलिखित प्रकार से बनते है (संहिताओं में अनुपलब्ध रूपों के उदाहरण कोष्ठकान्तर्गत है)—

इ "जाना" [परस्मैपद] के रूप

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	एति	इतः	यन्ति ।
म० पु०	एषि	इथः	इथ, इथन ।
उ० पु०	एमि	(इवः)	इमः, इमसि ।

लङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ऐत्	ऐताम्	आयन् ।
म० पु०	ऐः	ऐतम्	ऐत, ऐतन ।
उ० पु०	आयम्	(ऐव)	ऐम

प्र० पु० ब० में आकारान्त तथा कतिपय व्यञ्जनान्त धातुओं के साथ अन् के स्थान पर उस् प्रत्यय जोड़ा जाता है (टि० १५); यथा— पा "रक्षा करना" से अपुः, त्विप् "चमकना" से अत्विपुः (ऋ०), दुह "दोहना" से दुहुः (ऋ०), चक्ष् "देखना" से चक्षुः (ऋ०) ।

लोट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	एतु	इताम्	यन्तु ।
म० पु०	इहि, इतात्	इतम्	इत, इतन ।

लोट् उ० पु० के रूप लेट् उ० पु० के समान माने जाते है ।

लेट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अयति, अयत्	अयतः	अयन् ।
म० पु०	अयसि, अयः	अयथः	अयथ ।
उ० पु०	अयानि, अया	अयाव	अयाम ।

अ० तथा आ० में लेट् के अट् के स्थान पर आट् आगम जोड़ कर भी कतिपय रूप बनाये जाते हैं; यथा— प्र० पु० ए० में अयात्, असात्, (अस् "होना" से), ब्रवात्; प्र० पु० ब० में अयान्, अदान्, दोहन्; म० पु० द्वि० में ब्रवाथः; म० पु० ब० में अयाथ, ब्रवाथ, हनाथ ।

विधिलिङ्

प्र० पु०	इयात्	इयाताम्	इयुः ।
म० पु०	इयाः	इयातम्	इयात ।
उ० पु०	इयाम्	इयाव	इयाम ।

शत्रन्त (प्रथ० ए०)

नपुं० यत् ; पु० यन् ; स्त्री० यती ।

ब्रू "बोलना" (आ०) के रूप

लट्

प्र० पु०	ब्रूते, ब्रुवे	ब्रुवाते	ब्रुवते ।
म० पु०	ब्रूषे	ब्रुवाथे	ब्रूध्वे ।
उ० पु०	ब्रुवे	(ब्रूवहे)	ब्रूमहे ।

प्र० पु० ए० में ब्रुवे की भांति ईशे, दुहे, चिते, विदे तथा शये रूप भी मिलते है ।

लङ्

प्र० पु०	अब्रूत	(अब्रुवाताम्)	अब्रुवत ।
म० पु०	अब्रूथाः	(अब्रुवाथाम्)	अब्रूध्वम् ।
उ० पु०	(अब्रुवि)	(अब्रूवहि)	(अब्रूमहि) ।

लोट्

प्र० पु०	ब्रूताम्	(ब्रुवाताम्)	ब्रुवताम् ।
म० पु०	ब्रूष्व	(ब्रुवाथाम्)	ब्रूध्वम् ।

लेट्

प्र० पु०	ब्रवते	ब्रवैते	ब्रवन्त ।
म० पु०	ब्रवसे	ब्रवैथे	(ब्रवध्वे) ।
उ० पु०	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै ।

विधिलिङ्

प्र० पु०	ब्रुवीत	(ब्रुवीयाताम्)	ब्रुवीरन् ।

म० पु० (ब्रुवीथाः) ; (ब्रुवीयाथाम्) ; (ब्रुवीध्वम्)।
उ० पु० ब्रुवीय ; (ब्रुवीवहि) ; ब्रुवीमहि ।

शत्रन्त (प्रथ० ए०)

नपुं० ब्रुवाणम् ; पुं० ब्रुवाणः ; स्त्री० ब्रुवाणा ।

२३६. अदादिगण के उल्लेखनीय अपवाद--

१. गुण के स्थान पर वृद्धि—(क) हलादि पित् प्रत्यय से पूर्व क्ष्णु "तेज करना", यु "जोडना", नु तथा स्तु "स्तुति करना" इत्यादि उकारान्त धातुओं के उ को वृद्धि होती है[९७]; यथा—क्ष्णौमि (ऋ०), स्तौमि, अस्तौत् परन्तु अस्तवम्, स्तवानि ।

(ख) मृज्—हलादि पित् प्रत्यय से पूर्व मृज् "मार्जन करना" के ऋ को वृद्धि होती है[९८]; यथा—मार्ष्टि, मार्ज्मि; परन्तु मृज्मः, मृजन्ति ।

२. शी— अपित् सार्वधातुक[९९] प्रत्ययों से पूर्व भी शी "सोना" धातु के ई को गुण हो जाता है[१००]; यथा—शेते, शेषे, शये (प्र० पु० तथा उ० पु० ए०)। और शी से परे आने वाले प्र० पु० व० के प्रत्यय के अ को र् (पा० रुट्) आगम हो जाता है (टि० २०); यथा—शेरते, शेरताम्, अशेरत । लोट् प्र० पु० ए० में शेताम् के अतिरिक्त शयाम् (टि० २१) रूप भी अ० में मिलता है। लट् प्र० पु० ए० में शये (टि० २१) रूप ऋ० में मिलता है । ऋ० इत्यादि में परस्मैपद के रूप अशेरन् (लङ् प्र० पु० व०; दे० टि० ११४) तथा अशयत् (लङ् प्र० पु० ए० ब्रा०) इत्यादि भी मिलते हैं ।

३. इडागम—(क) रुद् "रोना", स्वप् "सोना", श्वस् तथा अन् "सांस लेना", और वम् "वमन करना" से परे आने वाले व्यञ्जनादि सार्वधातुक प्रत्यय से पूर्व इ (पा० इट्) आगम जोड़ा जाता है[१०१]; यथा—रोदिति, श्वसिति, अनिति, वमिति । परन्तु लङ् प्र० पु० ए० के त् और म० पु० ए० के स् प्रत्यय से पूर्व ई

(पा० ईट्) या कहीं-कहीं अ (पा० अट्) आगम जोड़ा जाता है[१०२]; यथा— अरोदीत् (ब्रा०), अश्वसीत् (ब्रा०), आनीत्, अवमीत्, अवमत् (ब्रा०)।

(ख) ईश् "स्वामी होना", ईड् "स्तुति करना" और जन् "उत्पन्न होना" से परे आने वाले आत्मनेपद म० पु० ए० के प्रत्यय (से, स्व) और म० पु० व० के प्रत्यय (ध्वे, ध्वम्) से पूर्व इ (पा० इट्) का आगम होता है[१०३]; यथा— ईशिषे (ऋ० में ईक्षे भी बनता है), ईशिध्वे (अ०), ईडिष्व, जनिष्व।

(ग) वस् "वस्त्र पहनना" से परे म० पु० ए० लोट् आ० के प्रत्यय स्व से पूर्व और श्नथ् "बींधना" तथा स्तन् "गर्जना" से परे म० पु० ए० लोट् प० के प्रत्यय हि से पूर्व इ का आगम मिलता है; यथा—वसिष्व (ऋ०), श्नथिहि (ऋ०), स्तनिहि (ऋ०)।

४. **ईडागम**— (क) ब्रू से परे आने वाले सार्वधातुक हलादि पित् प्रत्यय से पूर्व ई (पा० ईट्) का आगम होता है[१०४]; यथा— ब्रवीमि, अब्रवीत् , ब्रवीषि। और म० पु० व० प० में भी जब गौण प्रत्यय त के स्थान पर तप् या तनप् (टि० १६), पित् प्रत्यय आये, तब उस से पूर्व ई का आगम मिलता है; यथा— म० पु० व० लङ् में अब्रवीत (ऋ०) तथा अब्रवीतन (ऋ०) और म० पु० व० लोट् में ब्रवीतन (ऋ०)।

(ख) तु "बलवान् होना", अम् "चोट पहुंचाना", तथा शम् "परिश्रम करना" से परे आने वाले हलादि सार्वधातुक तिङ् प्रत्यय से पूर्व कहीं-कहीं ई (पा० ईट्) आगम मिलता है[१०५]; यथा— तवीति (ऋ०); अमीषि (ऋ०); तै० सं० में अमीति, अमीष्व तथा आमीत्: शमीष्व (वा० सं०, परन्तु तै० सं० शमिष्व); शमीध्वम् (तै० ब्रा०)।

५. अस् "होना"—म० पु० ए० में अस् के स् का लोप हो जाता है

(टि० ३२५); यथा—असि। सार्वधातुक ङित् (अपित्) प्रत्यय से पूर्व अस् के आदि वर्ण अ का लोप हो जाता है[१०६]; यथा—सन्ति, स्मः, स्यात्। म० पु० ए० लोट् में एधि (Azdhi द्वारा) रूप बनता है[१०७]। लङ् में प्र० पु० ए० के प्रत्यय त् और म० पु० ए० के प्रत्यय स् से पूर्व ई (पा० ईट्) का आगम होता है[१०८]; यथा—आसीत्, आसीः। परन्तु कुछेक वैदिक रूपों में यह ई आगम नहीं मिलता है[१०९]; यथा— प्र० पु० ए० लङ् में आः (ऋ०)।

६. हन्— जब हन् "मारना" से परे झलादि (य् र् ल् व् ङ् ञ् ण् न् म् से भिन्न व्यञ्जन जिस के आदि में हो) कित् या ङित् प्रत्यय आये, तब हन् के न् का लोप हो जाता है[११०]; यथा— हथ (लट्), हत (लोट्) परन्तु हन्ति। अजादि कित् या ङित् प्रत्यय से पूर्व हन् की उपधा के अ का लोप हो जाता है[१११], और ञित् तथा णित् प्रत्यय एवं न् से पूर्व हन् के ह् का घ् बन जाता है[११२], यथा— घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्, शतृ० पुं० घ्नन्, स्त्री० घ्नती। म० पु० ए० लो० में जहि रूप बनता है[११३]। तै० आ० ४,२७ में हन्धि रूप भी मिलता है।

७. वश्— कित् तथा ङित् प्रत्यय परे रहने पर, वश् "इच्छा करना" को सम्प्रसारण हो जाता है (टि० ८६): यथा— उश्मसि उशन्ति, शतृ० पुं० उशन्, शान० पुं० उशानः। श्मसि (ऋ० २,३१, ६) में आदि वर्ण का लोप मिलता है। परन्तु पित् प्रत्यय से पूर्व सम्प्रसारण नहीं होता; यथा— वश्मि।

८. दुह्— दुह् "दोहना" के अनेक वैदिक रूप विशेषतया उल्लेखनीय हैं। परस्मैपद में लङ् के प्र० पु० ए० में साधारण रूप अधोक् के अतिरिक्त अदुहत् भी मिलता है, और प्र० पु० ब० में अदुहन् के अतिरिक्त दुहुः (ऋ०) रूप भी बनता है (टि० १५)। इन के अतिरिक्त अ० ८,१०,१४ में लङ् के प्र० पु० ब० का अदुहन् रूप भी मिलता है[११४]। ऋ० में विलि० के प्र० पु० ए० का रूप दुहीयत् और

प्र० पु० ब० का रूप दुहीयन् मिलता है[११५]।

आत्मनेपद में लट् के प्र० पु० ए० में साधारण रूप दुग्धे के अतिरिक्त दुहे (टि० २१) और प्र० पु० ब० में साधारण रूप दुह्रते[११६] के अतिरिक्त दुह्रते (टि० १९) तथा दुह्रे (टि० १९ तथा २१) भी उपलब्ध होते है। और इन रूपों के समान ही मै० सं० में लङ् के प्र० पु० ए० का रूप अदुह्र (टि० २१) और प्र० पु० ब० का रूप अदुह्र (टि० १९ तथा २१) भी मिलता है। इसी प्रकार लोट् के प्र० पु० ए० में दुहाम् (टि० २१) और प्र० पु० ब० में दुह्रताम् (टि० १९) तथा दुह्राम् (टि० १९ तथा २१) रूप भी बनते हैं। इस का शान० रूप दुघान बनता है।

९. **अभ्यस्तसंज्ञक धातु**—(क) अभ्यस्तसंज्ञक (टि० ८) धातुओं से परे लट् के प्र० पु० ब० में अन्ति के स्थान पर अति प्रत्यय और लोट् के प्र० पु० ब० में अन्तु के स्थान पर अतु प्रत्यय का प्रयोग होता है (टि० ९); यथा—शास् "शासन करना" से लो० प्र० पु० ब० में शासतु (तै० सं०); जागृ "जागना" से लट् के प्र० पु० ब० में जाग्रति (अ०)। पाणिनीय व्याकरण में जक्ष् "खाना, हंसना", जागृ, दरिद्रा "बुरी प्रकार चलना", दीधी "चमकना", वेवी "जाना", तथा चकास् "चमकना" अदादिगण के धातु माने गये हैं। परन्तु आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ये मूल धातु नहीं है अपितु अन्य धातुओं से यङ्लुगन्त में बनने वाले द्वित्वयुक्त अङ्ग है; यथा—गृ से जागृ, हस् तथा घस् से जक्ष्, द्रा से दरिद्रा, धी से दीधी, और वी से वेवी[११७]। दे० अनु० ३०१ इत्यादि।

(ख) हलादि कित् या ङित् प्रत्यय (तथा लुङ् में अङ् प्रत्यय) से पूर्व शास् धातु के आ का इ हो जाता है[११८]; यथा—विलि० प्र० पु० ए० शिष्यात् (उप०, गृ० सू०)। लोट् के म० पु० ए० में शास् के स् का लोप होकर केवल शा बचता है[११९]; यथा—शाधि (ऋ०)।

सप्तमोऽध्यायः

१०. **लोडर्थे लट्**— ऋ० में म० पु० ए० लट् (परस्मैपद) के कुछ ऐसे रूप मिलते है जिन में अदादिगण के रूपों की भांति सीधे धातु के साथ **सि** प्रत्यय जोड़ा जाता है; और ऐसे रूप प्रायेण लोट् के अर्थ में प्रयुक्त होते है[१२०]। ऐसे रूपों का समाधान करते हुए सायण कहीं लोट् के अर्थ में लट् का प्रयोग मानता है और कहीं इन्हें लोट् के रूप मानता है[१२१]। कतिपय प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है— जेषि (जि "जीतना" से), नेषि (नी "ले जाना" से), यक्षि (यज् "यज्ञ करना" से), यंसि (यम् "देना" से), वक्षि (वह् "ले जाना" से)।

११. **लडर्थे लिट्**— पाणिनि के मतानुसार, विद् "जानना" के साथ लट् के अर्थ में लिट् में आने वाले प्रत्यय अ (णल्), अतुस्, उस्, इत्यादि (दे० अनु० २५२) भी प्रयुक्त होते है[१२२]। और ब्रू "बोलना" के साथ प्र० पु० के तीनों वचनों और म० पु० ए० तथा द्वि० में विकल्प से लट् के अर्थ में लिट् में आने वाले प्रत्यय (अ, अतुस्, उस्, थ, अथुस्) प्रयुक्त होते है और इन प्रत्ययों से पूर्व ब्रू को आह् आदेश हो जाता है[१२३]। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि लिट्-प्रत्ययों से पूर्व विद् को द्वित्व नही होता है। वैदिक भाषा में इन के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध होते है— वेद विदुः, वेत्थ, विदथुः, विद, विद्म। पाश्चात्य विद्वान् इन्हें पूर्णतया लिट् के रूप मानते है और इन के लिट् में द्वित्व के अभाव को स्वीकार करते है[१२४]। इस के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, आह, आहुः इत्यादि रूप ब्रू से नहीं बने है अपितु अह् "कहना" धातु से बने है[१२५]। दे० अनु० २५३।

१२. **अदा० के क्रिया-प्रकार वाचक रूप**— जो रूप भारतीय विद्वानों के मतानुसार अदा० के क्रिया-प्रकार-वाचक है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार लुङ् के अङ्ग से बने है, उन के लिये दे० अनु० २६६।

२. जुहोत्यादिगण

२३७. लगभग ५० धातुओं से जुहोत्यादिगण के रूप बनते हैं। इन में से लग-

भग एक-तिहाई (१६) धातुओं के रूप लौकिक संस्कृत में और शेष के रूप वैदिक संस्कृत में मिलते है। इस गण के धातुओं के साथ भी अदादिगण की भांति कोई विकरण नही जोड़ा जाता है[१२६], परन्तु धातुओं को द्वित्व हो जाता है[१२७]। द्वित्व के साधारण नियमों के अतिरिक्त जु० के कुछ धातुओं के द्वित्व की अपनी विशेषताएं भी है जिन का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है। लिट्, लुङ् के एक भेद, सन्नन्त और यङन्त तथा यङ्लुगन्त में होने वाले द्वित्व की विशेषताओं का वर्णन यथास्थान किया जायगा।

२३८. द्वित्व के साधारण नियम—

१. धातु के प्रथम अक्षर का द्वित्व होता है अर्थात् धातु के केवल उतने अवयव का द्वित्व होता है जिस के अन्त में धातु का प्रथम अच् आता हो[१२८]; यथा— बुध् "जानना" से बुबुध्–; अव् "अनुग्रह करना" से आव्- (अ+अव्)। द्वित्व के समय जिस अवयव के दो समान उच्चारण होते है उन में से प्रथम के लिये पाणिनीय व्याकरण मे **अभ्यास** और दोनों के लिये **अभ्यस्त** संज्ञा का व्यवहार किया जाता है[१२९]; यथा— बुबुध् में प्रथम बु अभ्यास कहलाता है और दोनों बुबु अभ्यस्त कहलाते है।

२. यदि धातु के प्रथम अक्षर (Syllable) का स्वर दीर्घ हो, तो अभ्यास में उस स्वर का ह्रस्व हो जाता है[१३०]; यथा— दा "देना" से ददा–; राध् "समृद्ध होना" से रराध्–; जीव् "जीना" से जिजीव्–।

३. धातु के जिस अवयव को द्वित्व होता है उस में यदि एक से अधिक व्यञ्जन हों, तो अभ्यास का आदि व्यञ्जन बचता है और शेष सब व्यञ्जनों का लोप हो जाता है[१३१]; यथा— प्रच्छ् "पूछना" से पप्रच्छ्–।

४. यदि धातु के आदि में श् ष् स् (पा० शर्) में से कोई व्यञ्जन हो और शर् से परे किसी वर्ग का प्रथम या द्वितीय वर्ण (पा० खय्) हो, तो अभ्यास में केवल खय् बचता है[१३२]; यथा— स्कन्द्

"छलांग लगाना" से चस्कन्द्-; स्था से तस्था-।

५. धातु के कवर्ग तथा हकार का अभ्यास में चवर्ग बन जाता है[133]; यथा— गम् से जगम्-; खन् से चखन्-; स्कन्द् से चस्कन्द्-; हन् से जघन्-।

६. अभ्यास में महाप्राण व्यञ्जन अल्पप्राण में परिणत हो जाते हैं[134]; यथा— स्था से तस्था-; धा "धारण करना" से दधा-; भी "डरना" से बिभी-।

२३९. जुहोत्यादिगण में द्वित्व के विशेष नियम—

१. अभ्यास के ऋ तथा ॠ का इ बन जाता है[135]; यथा— भृ "धारण करना" से बिभृ-; पॄ "भरना" और पृ "पार करना" से पिपर्ति; पृच् "मिलना" से पिपृच्-। ऋ "जाना" धातु के अभ्यास के ऋ का इ बनता है और पुनः इ को इय् (पा० इयङ्) आदेश हो जाता है[136]; यथा— इयर्मि। परन्तु वृत् "मुड़ना" के अभ्यास के ऋ का अ बनता है; यथा— व॒व॒र्ति॒ (ऋ०)।

२. कतिपय आकारान्त धातुओं के अभ्यास के आ का इ बन जाता है[137]; यथा— मा (पा० माङ्) "मापना" से मिमीते; मा "ध्वनि करना" से मिमाति; हा (पा० ओहाङ्) "दूर जाना" से जिहीते; गा "जाना" से जिगाति; शा "तेज करना" से शिशाति। कतिपय वैदिक रूपों में अभ्यास के अ का भी इ बन जाता है (टि० १३७); यथा— वच् "बोलना" से विवक्ति; वश् "इच्छा करना" से वि॒व॒ष्टि॒ (ऋ०); सच् "संयुक्त होना" से सिषक्ति। परन्तु कहीं-कहीं अभ्यास में अ ही रहता है; यथा— सच् से सश्च् के द्वारा प्र० पु० ब० लट् में सश्चति (ऋ०) और वश् से ववश् के द्वारा म० पु० ए० लट् में व॒वक्षि (ऋ०) बनता है।

२४०. जुहोत्यादिगण के रूप— पित् प्रत्यय से पूर्व धातु के इक् स्वर (इ ई उ ऊ ऋ ॠ) को गुण हो जाता है; यथा— हु "होम करना" से जुहोति। लट् के प्र० पु० ब०-प० में अति (टि० ९) और आ०

में अते (टि० १८) प्रत्यय प्रयुक्त होता है; यथा— धा "धारण करना" से दधति, दधते। लङ् के प्र० पु० ब० प० में प्रायेण उस् (टि० १४) प्रत्यय आता है और उस् प्रत्यय से पूर्व धातु के अन्तिम इक् स्वर को गुण हो जाता है[१३८]; यथा— अजुहवुः। सार्वधातुक अजादि प्रत्यय से पूर्व √हु के उ का व् बनता है (दे० टि० १५४); यथा— जुह्वति, उवङ् नहीं होता है।

संहिताओं में उपलब्ध रूपों के आधार पर भृ "धारण करना" के निम्नलिखित रूप बन सकते है—

परस्मैपद

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	बिभर्ति, बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति।
म० पु०	बिभर्षि, बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ।
उ० पु०	बिभर्मि	बिभृवः	बिभृमः, बिभृमसि।

लङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अबिभः	अबिभृताम्	अबिभरु, अबिभ्रन्।
म० पु०	अबिभः	अबिभृतम्	अबिभृत, अबिभृतन।
उ० पु०	अबिभरम्	(अबिभृव)	अबिभृम।

लोट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	बिभर्तु	बिभृताम्	बिभ्रतु।
म० पु०	बिभृहि, बिभृतात्	बिभृतम्	बिभृत, बिभृतन, बिभर्तन।

उ० पु० के रूप लेट् के रूपों के समान है।

लेट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	बिभरत्	(बिभरतः)	बिभरन्
म० पु०	बिभरः, बिभरासि	बिभरथः	बिभरथ।
उ० पु०	बिभराणि	(बिभराव)	बिभराम।

विधिलिङ्

प्र० पु० बिभृयात् ; बिभृयाताम् ; बिभृयुः ।
म० पु० बिभृयाः ; बिभृयातम् ; बिभृयात ।
उ० पु० बिभृयाम् ; (बिभृयाव) ; बिभृयाम ।

शत्रन्त (प्रथ० ए०)

नपु०, पुं० बिभ्रत् ; स्त्री० बिभ्रती ।

आत्मनेपद

लट्

प्र० पु० बिभृते ; बिभ्राते ; बिभ्रते ।
म० पु० बिभृषे ; बिभ्राथे ; बिभृध्वे ।
उ० पु० बिभ्रे ; बिभृवहे ; बिभृमहे ।

लङ्

प्र० पु० अबिभृत ; (अबिभ्राताम्) ; अबिभ्रत ।
म० पु० अबिभृथाः ; (अबिभ्राथाम्) ; (अबिभृध्वम्) ।
उ० पु० (अबिभ्रि) ; (अबिभृवहि) ; (अबिभृमहि) ।

लोट्

प्र० पु० बिभृताम् ; (बिभ्राताम्) ; बिभ्रताम् ।
म० पु० बिभृष्व ; बिभ्राथाम् ; बिभृध्वम् ।

लेट्

प्र० पु० बिभरते, बिभराते ; (बिभरैते) ; बिभरन्त ।
म० पु० बिभरसे ; (बिभरैथे) ; (बिभरध्वे) ।
उ० पु० (बिभरै) ; बिभरावहै ; बिभरामहै ।

विधिलिङ्

प्र० पु० बिभ्रीत ; (बिभ्रीयाताम्) ; बिभ्रीरन् ।
म० पु० (बिभ्रीथाः) ; (बिभ्रीयाथाम्) ; (बिभ्रीध्वम्) ।
उ० पु० बिभ्रीय ; (बिभ्रीवहि) ; बिभ्रीमहि ।

शान० (प्रथ० ए०)

नपुं० बिभ्राणम् ; पुं० बिभ्राणः ; स्त्री० बिभ्राणा।

विशेष— लिड्वर्ग, यङ्लुगन्त, द्वित्वयुक्त (चङ्युक्त) लुङ् तथा जु० के अङ्ग से बने लेट् के रूपों में सादृश्य के कारण, ऐसे रूपो के व्याख्यान में कहीं-कहीं मतभेद है; यथा— अवैरी शुश्रुचे (ऋ० ३,३३,१०) को जु० में ले० उ० पु० ए० का रूप मानता है, जबकि ग्रासमैन तथा ह्विटने इसे द्वित्वयुक्त लुङ् का ले० रूप मानते है और मैक्डानल के मतानुसार यह लिड्वर्ग के अङ्ग से बना ले० रूप है[१३९]। इस प्रकार के मतभेद के कारण जु० के ले० के उपलब्ध तथा अनुपलब्ध (कोष्ठकान्तर्गत) प्रयोगों के सम्बन्ध में भी मतभेद है। पा० (७,४,७५) *√निज्, √विज् तथा √विष् के उन रूपो को जु० के मानता है* जिन के अभ्यास के इ को गुण होता है; यथा— नेनेक्ति, वेवेष्टि इत्यादि। परन्तु ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इन्हे यङ्लुगन्त के रूप मानते हैं (अनु० ३००)।

जुहोत्यादिगण के उल्लेखनीय अपवाद—

१. दा तथा धा को छोड़ कर जु० के शेष आकारान्त धातुओं के अन्तिम आ का ई बन जाता है, जब धातु से परे हलादि सार्वधातुक कित् या ङित् (अपित्) प्रत्यय आए[१४०]; यथा— हा "दूर जाना" से जिहीते; मा "ध्वनि करना" से मिमीते; शा "तेज करना" से शिशीते; रा "देना" से ररीथाः (ऋ०)। हा (पा० ओ+हाक्) "छोड़ना" के आ का उत्तरकालीन सहिताओं में कही ई और कही इ हो जाता है[१४१], परन्तु ऋ० में केवल क्त प्रत्यय से पूर्व आ का इ मिलता है; यथा— लो० के म० पु० ए० मे जहीतात् (अ०) तथा जहीहि[१४२] (लौकिक), द्वि० में जहीतम् (अ०) तथा जहितम् (तै० आ०), ब० में जहीत (अ०); लट् में प्र० पु० द्वि० मे जहितः (तै० ब्रा०), उ० पु० ब० में जहिमः (अ०); लङ् के प्र० पु० द्वि० में अजहिताम् (तै० सं०, ऐ० ब्रा०)। विलिङ् में यकारादि प्रत्यय

से पूर्व हा "छोड़ना" के आ का लोप हो जाता है[143]; यथा— प्र० पु० ए० जह्यात् (शां० आ०), व० जह्युः (अ०)।

२. सार्वधातुक कित् या ङित् अजादि प्रत्यय परे रहने पर, आकारान्त धातुओं के अभ्यस्त (टि० १२६) अङ्ग के अन्तिम आ का लोप हो जाता है[144]; यथा— लट् के प्र० पु० ब० में हा "छोड़ना" से जहति (ऋ०), दा से ददति, धा से दधति; आ० में हा "दूर जाना" से जिहते, मा "मापना" से मिमते (ऋ०), और उ० पु० ए० में मिमे (ऋ०)।

३. सार्वधातुक कित् या ङित् (अपित्) अजादि तथा हलादि प्रत्यय से पूर्व दा "देना" और धा "धारण करना" धातु के आ का लोप हो जाता है (टि० १४४); यथा— आ० में लट् का प्र० पु० ए० दत्ते, धत्ते (धा के अभ्यास के दकार के धकार के लिये दे० सन्धि-प्रकरणम् पृ० १३६, अनु० ७२घ), व० दधते; लोट् का म० पु० ए० दत्स्व, धत्स्व, व० दधताम्। परस्मैपद में लोट् म० पु० ए० के हि प्रत्यय से पूर्व दा और धा से क्रमशः दे और धे अङ्ग बनते है (टि० १०७), यथा— देहि, धेहि। परन्तु इन दोनों धातुओं से बना दद्धि रूप भी ऋ० मे मिलता है। लोट् तथा लङ् के म० पु० ब० में पित् प्रत्यय तप् तथा तनप् (टि० १६) से पूर्व इन दोनों धातुओ के अभ्यस्त अङ्ग के अन्तिम आ का लोप नहीं होता है (टि० १४४), यथा— ददात, दधात, ददातन, दधातन, अददात, अदधात। दा तथा धा धातु के अभ्यस्त अङ्ग से भ्वा० में बने हुए रूप भी मिलते है[145], यथा— लट् के प्र० पु० ए० में ददति (ऋ० २,३५,१०), आ० ददते (ऋ० १,२४,७), व० दधन्ति (ऋ० ७,५६,१९): लो० प्र० पु० व० दधन्तु (ऋ०)।

४. लोट् म० पु० ए० के प्रत्यय हि (धि के लिये दे० टि० ४५) से पूर्व, कतिपय धातुओं के अन्तिम स्वर में वैसा ही विकार होता है जैसा कि पित् प्रत्यय से पूर्व होता है (टि० ४७); यथा— यु "पृथक्

करना" से युयोधि, शी "तेज करना" से शिशाधि (शिशीहि के अतिरिक्त), द्वि० में युयोतम् (युयुतम् के अतिरिक्त)। लोट् के म० पु० ब० में त के अतिरिक्त तप् तथा तनप् पित् प्रत्ययों से बने हुए रूप भी मिलते हैं (टि० १६); यथा— युयोत, युयोतन; हु "होम करना" से जुहोत, जुहोतन। हा "छोड़ना" से लङ् म० पु० ब० में तनप् प्रत्यय द्वारा अजहातन (टि० १६) बनता है।

५. अधिकतर वैदिक प्रयोगों मे दी "चमकना", धी 'ध्यान करना" तथा पी "फूलना" के अभ्यास के ई का ह्रस्व नहीं होता है[१४६]: यथा— लङ् के प्र० पु० ए० में— अदीदेत, अदीधेत, अपीपेत् (ऋ०); आ० लट् के उ० पु० ए० में दीध्ये, दीध्ये (ऋ०)। परन्तु लोट् के म० पु० ए० में दीदिहि तथा पीपिहि के अतिरिक्त दिदिहि (ऋ०) भी मिलता है।

६. व्यच् "व्याप्त करना" के य् को सम्प्रसारण हो जाता है[१४७]; यथा— लट् प्र० पु० द्वि० विविक्तः; लङ् प्र० पु० ए० अविव्यक्, द्वि० अविविक्ताम्। ह्वृ "कुटिल होना" के कुछ रूपों में इस के व् को सम्प्रसारण करके धातु को द्वित्व होता है; यथा— ले० म० पु० ए० जुहुरः (ऋ०); आ० मे ले० प्र० पु० ब० जुहुरन्त और अडा-गमरहित लङ् से बने विधिमूलक (Injunctive) मे म० पु० ए० जुहूर्थाः (ऋ०)[१४८]।

७. हलादि तथा अजादि ङित् (अपित्) प्रत्यय से पूर्व, भस् "चबाना", सच् "संयुक्त होना" तथा हस् "हंसना" की उपधा के अकार का लोप हो जाता है[१४९]; यथा— लट् प्र० पु० ब० में बप्सति[१५०], सश्चति; शतृ० जक्षत् "हंसता हुआ"; परन्तु प्र० पु० ए० लट् बभस्ति (अ०) और लेट् बभसत् (ऋ०)।

८. आधुनिक विद्वानो का मत है कि स्था, पा "पीना" तथा हन् मूलतः जु० के धातु थे और भ्वा० में जु० का अभ्यस्त अङ्ग (तिष्ठ, पिब, जिघ्न) प्रयुक्त होता है (टि० ७८)। घ्रा, भस्, मा "ध्वनि

करना", रा "देना", तथा सच् के अभ्यस्त अङ्ग (जिघ्र, बप्स, मिम, ररं, सश्च) से भी कहीं-कहीं स्वा० में रूप बनते हैं।

६. **जु० के क्रिया-प्रकारवाचक रूप**— जो रूप भारतीय विद्वानों के मतानुसार जु० के क्रिया-प्रकारवाचक है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार लिट् या चङ्-लुङ् के अङ्ग से बने है, उन के लिये दे० अनु० २५८-२६३;२७३।

३. स्वादिगण

२४१. लगभग ५० धातुओं के रूप स्वादिगण में बनते हैं। इन में से लगभग ३० धातुओं के स्वा० के रूप केवल वैदिकभाषा मे, तीन-चार धातुओं के केवल लौकिक संस्कृत में, और लगमग २० धातुओ के स्वा० के रूप वैदिक तथा लौकिक दोनों में मिलते हैं। स्वा० में धातु के साथ अनुदात्त नु (पा० श्नु) विकरण जोड़ा जाता है[151], परन्तु पित् प्रत्यय से पूर्व इस के उ को गुण (टि० ११क) होकर उदात्त नो बन जाता है। यदि विकरण के उ से पूर्व संयुक्त व्यञ्जन न हों और इस से परे उ० पु० द्वि० तथा ब० के क्रमशः वकारादि तथा मकारादि प्रत्यय हों, तो उ का प्रायेण लोप हो जाता है[152]। लो० म० पु० ए० (प०) में यदि विकरण के उ से पूर्व सयुक्त व्यञ्जन न हों, तो वैदिकभाषा में कहीं-कही हि प्रत्यय का लोप हो जाता है; यथा— शृणु, शृणुहि, परन्तु आप्नुहि (टि० ४८, अनु० २१८)। ऋ० मे हि-प्रत्ययान्त रूप हि-रहित रूपों की तुलना में तिगुने है, परन्तु अ० में ऐसे रूप हि-रहित रूपों के पष्ठांश के लगभग हैं और ब्रा० तथा सूत्रों मे ऐसे हि-युक्त रूपों का लगभग अभाव है। लोट् के म० पु० द्वि० तथा ब० में कही-कही पित्-प्रत्ययान्त रूप मिलते हैं (टि० १६); यथा— हिनोतम (ऋ०), कृणोत, कृणोतन। विलि० के अत्यल्प वैदिक प्रयोग मिलते हैं; आ० के प्र० पु० ए० में और प० के प्र० पु० ए० तथा उ० पु० ए० और ब० में मिलते है।

२४२. **स्वादिगण के रूप**— स्वादिगण के उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर कृ "करना" के निम्नलिखित रूप बनते हैं—

कृ "करना" के रूप

परस्मैपद

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	कृणोति	कृणुतः	कृण्वन्ति ।
म० पु०	कृणोषि	कृणुथः	कृणुथ ।
उ० पु०	कृणोमि	(कृण्वः)	कृण्मसि, कृण्मः ।

लङ्

प्र० पु०	अकृणोत्	अकृणुताम्	अकृण्वन् ।
म० पु०	अकृणोः	अकृणुतम्	अकृणुत ।
उ० पु०	अकृणवम्	(अकृण्व)	(अकृण्म) ।

लोट्

प्र० पु०	कृणोतु, कृणुतात्	कृणुताम्	कृण्वन्तु ।
म० पु०	कृणु, कृणुहि	कृणुतम्	कृणुत, कृणोत, कृणोतन ।

लेट्

प्र० पु०	कृणवत्	(कृणवतः)	कृणवन् ।
म० पु०	कृणवः	(कृणवथः)	कृणवथ ।
उ० पु०	कृणवानि, कृणवा	कृणवाव	कृणवाम ।

विधिलिङ्

प्र० पु०	कृणुयात्	(कृणुयाताम्)	(कृणुयुः) ।
म० पु०	(कृणुयाः)	(कृणुयातम्)	(कृणुयात) ।
उ० पु०	कृणुयाम्	(कृणुयाव)	कृणुयाम ।

शत्रन्त (प्रथ० ए०)

नपुं० कृण्वत् ; पुं० कृण्वन् ; स्त्री० कृण्वती ।

सप्तमोऽध्यायः

आत्मनेपद

लट्

प्र० पु० कृणुते, कृण्वे[५३] ; (कृण्वाते) ; कृण्वते, कृण्व्रते ।
म० पु० कृणुषे ; कृण्वाथे ; (कृणुध्वे) ।
उ० पु० कृण्वे ; (कृण्वहे) ; कृण्महे, कृणुमहे ।

लङ्

प्र० पु० अकृणुत ; (अकृण्वाताम्) ; अकृण्वत ।
म० पु० अकृणुथा ; (अकृण्वाथाम्) ; अकृणुध्वम् ।
उ० पु० (अकृण्वि) ; (अकृण्वहि) ; (अकृण्महि) ।

लोट्

प्र० पु० कृणुताम् ; (कृण्वाताम्) ; कृण्वताम् ।
म० पु० कृणुष्व ; कृण्वाथाम् ; कृणुध्वम् ।

लेट्

प्र० पु० कृणवते ; कृणवैते ; कृणवन्त, कृणवन्ते ।
म० पु० कृणवसे ; कृणवैथे ; (कृणवध्वे) ।
उ० पु० कृणवै ; कृणवावहै ; कृणवामहै ।

विधिलिङ्

प्र० पु० कृण्वीत ; (कृण्वीयाताम्) ; (कृण्वीरन्) ।
म० पु० (कृण्वीथाः) ; (कृण्वीयाथाम्) ; (कृण्वीध्वम्) ।
उ० पु० (कृण्वीय) ; (कृण्वीवहि) ; (कृण्वीमहि) ।

शान० (प्रथ० ए०)

नपुं० कृण्वानम् ; पुं० कृण्वानः ; स्त्री० कृण्वाना ।

२४३. स्वा० के उल्लेखनीय अपवाद—

१. यदि नु (पा० श्नु) विकरण से पूर्व धातु का अन्तिम अच् हो, तो सार्वधातुक अजादि प्रत्यय परे रहने पर नु के उ का व् बनता है[५४]; यथा—सुन्वन्ति, शृण्वन्ति, कृण्वन्ति। परन्तु यदि नु के उ से पूर्व संयुक्त व्यञ्जन हों अर्थात् हलन्त धातु के साथ नु

जुड़ता हो, तो ऐसे अजादि प्रत्यय से पूर्व नु के उ का उव् (पा० उवङ्) बनता है (टि० ८४); यथा— ऋ० में अ॒श्नु॒व॒न्ति॒, अ॒श्नु॒व॒ते॒, अ॒श्नु॒व॒न्तु॒ ।

२. नु विकरण से पूर्व √श्रु को शृ आदेश हो जाता है[१५५]; यथा— शृणोति । लो० म० पु० ए० में श्रु के साथ हि के अतिरिक्त धि प्रत्यय भी आता है (टि० ४५), विकरणलोप भी मिलता है; यथा— शृणु और शृणुहि के अतिरिक्त शृणुधि (ऋ०) तथा श्रुधि (ऋ०) । इसी प्रकार वृ "ढांपना" से वृधि (ऋ०) बनता है। पाश्चात्य विद्वान् श्रुधि तथा वृधि को लुङ्वर्ग के अङ्ग से बने लो० के रूप मानते है (अनु० २६६ग)। लट् के म० पु० ए० आ० में शृण्विषे (ऋ०) रूप कर्मवाच्य के अर्थ में आता है; प्र० प० व० आ० मे शृण्विरे (ऋ०) रूप भी बनता है (दे० नीचे ५म भाग)।

३. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, ऊर्णु (जिसे भारतीय वैयाकरण अदा० का धातु मानते है) वास्तव मे वृ "ढापना" का नु-विकरण-युक्त विशेष अङ्ग है। प्राचीन वैदिक भाषा में इस से बने रूप नु-विकरण-युक्त अङ्ग से बनने वाले रूपो के अनुसार हैं; यथा— लट् में ऊ॒र्णोति, ऊ॒र्णुते, लो० मे ऊ॒र्णोतु ऊ॒र्णु, ऊ॒र्णुहि, ऊ॒र्णुष्व और लङ् में और्णोत् । परन्तु ब्रा० में इसके रूप कहीं-कहीं अदा० के उकारान्त धातुओं के समान बनते है[१५६]: यथा— ऊर्णौति ।

४. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, स्वा० के नु-विकरण-युक्त पांच अङ्ग क्र्या० में भी प्रयुक्त होते है (दे० अनु० २२६,७; टि० ८०) ।

५. लट् प्र० पु० व० आ० के कुछेक (छ धातुओं से बने) ऋग्वैदिक रूपों में इरे प्रत्यय मिलता है[१५७]; यथा— इ॒न्वि॒रे॒, ऋ॒ण्वि॒रे॒, पि॒न्वि॒रे॒, शृ॒ण्वि॒रे॒, सु॒न्वि॒रे॒, हि॒न्वि॒रे॒ ।

४. तनादिगण

२४४. पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार, निम्नलिखित दस धातु तनादिगण में गिनाये गये हैं— तन्, सन्, क्षण्, क्षिण्, ऋण्, तृण्, घृण्,

वन्, मन्, कृ। यदि इन में से ऋण्, क्षिण्, घृण्, तथा तृण् के स्थान पर क्रमशः ऋ, क्षि, घृ तथा तृ धातु मान कर स्वा० के अनुसार लड्वर्ग के अङ्ग से रूप बनाये जाएं, तो कोई अन्तर नहीं होगा। लिट्, लुङ् तथा लृट् मे बनने वाले रूप अवश्य भिन्न होंगे। यद्यपि सि० कौ० इत्यादि मे इन के लिट्, लुङ् इत्यादि के रूप दिखलाये गये हैं, परन्तु वैदिकभाषा मे इन से बना ऐसा कोई रूप नही मिलता है।

अत एव तनादिगण में इन चारों धातुओं की गणना अनावश्यक है। तना० में तन्, सन्, क्षण्, वन् तथा मन् की गणना करना आवश्यक है। इन धातुओं के साथ तना० का विकरण उ[१५८] जोड़ने पर इन के लड्वर्ग अङ्ग से बने रूप सर्वथा स्वा० के रूपो के समान बनते हैं। इस समानता के आधार पर अनेक पाश्चात्य विद्वान ऐसे रूपों में स्वा० का नु विकरण मानते हुए तना० की पृथक्ता को अनावश्यक समझते है और कहते है कि लड्वर्ग के अङ्ग में नु विकरण से पूर्व आने वाला इन धातुओं का अ सम्भवतः मूलध्वनि नासिक्य-घोष (sonant nasal) का प्रतिनिधित्व करता है[१५९]। लिट्, लुङ् तथा लृट् इत्यादि में बनने वाले रूपो से स्पष्ट है कि ये पांचो धातु नकारान्त है। पाणिनि (टि० १५८) ने कृ के साथ भी तना० के उ विकरण का विधान तो अवश्य किया है, परन्तु उक्त सूत्र में कृ का तनादि (गण) से पृथक् ग्रहण किया है। कृ के पृथक् उल्लेख के सम्बन्ध में अनेक व्याख्यान है[१६०]। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पा० धातुपाठ पूर्णतया प्रामाणिक नही है और पाणिनि ने स्वा० में कृ की सामान्य गणना करके इस के शेष रूपों का व्याख्यान करने के लिये उक्त सूत्र में इस के साथ उ विकरण का विधान किया होगा। और पा० के मतानुसार, कृ मूलतः तनादि-गण का धातु नही था।

कृ को छोड़ कर तना० के शेष धातुओं के लड्वर्ग अङ्ग के रूप

सर्वथा स्वा० के रूपों के समान हैं। अत एव यहां पर उन की रूपावलि देना अनावश्यक है। कृ के उ-विकरण-युक्त अङ्ग से बने रूपों पर विचार करने से पहले इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि ऋ० में कृ के इस अङ्ग से बने हुए केवल दो रूप— कुरु तथा कुर्मः— मिलते हैं और ये भी केवल दशम मण्डल में, परन्तु कृ के स्वा० के अङ्ग से बने रूपों का ऋ० में प्राचुर्य है। अ० में भी कृ के स्वा० के अङ्ग से बने रूप इस के उ-विकरण-युक्त अङ्ग से बने रूपों की तुलना में छः गुने से अधिक हैं। ब्रा० तथा सूत्रों की भाषा में उ-विकरण-युक्त अङ्ग से बने रूप ही मिलते है।

कृ के उ-विकरण-युक्त अङ्ग से बनने वाले रूपों की उल्लेखनीय विशेषताएं निम्नलिखित हैं— (१) पित् प्रत्यय से पूर्व कृ के ऋ को तथा विकरण के उ को गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा— करोति (अ०, तै० सं०, वा० सं०), करोमि (अ०, तै० सं०), करोतु (तै० सं०, वा० सं०)। (२) कित् तथा ङित् (अपित्) सार्वधातुक प्रत्यय से पूर्व कृ का कुर् बन कर उ-विकरण सहित कुरु— अङ्ग बनता है[१६१]; यथा—कुर्वन्ति (अ०), कुरुते (अ०), कुर्वते (अ०)। (३) उ० पु० के वकारादि तथा मकारादि प्रत्ययों से पूर्व और विलि० प० के यकारादि प्रत्यय (टि० ६०) से पूर्व उ विकरण का लोप हो जाता है[१६२]; यथा— कुर्मः, कुर्यात्। (४) लो० म० पु० ए० में हि का लोप हो जाता है (टि० ४८) और कुरु रूप बनता है। कृधि (टि० ४५) को पाश्चात्य विद्वान् लुङ्वर्ग के अङ्ग से बना लो० रूप मानते हैं (अनु० २६६ग)।

कतिपय आधुनिक विद्वान् तरुते (ऋ० १०,७६,२) तथा हनोमि (पारस्कर गृ० सू० १,३,२७) को क्रमशः तृ तथा हन् के तना० रूप मानते है। कुछेक अन्य विद्वान् तरुते में तॄ धातु मानते है।

५. रुधादिगण

२४५. लगभग ३० धातुओं के रूप रुधादिगण में बनते हैं और इन में से लग-

भग आधे धातुओं के रूप केवल वैदिकभाषा में ही मिलते हैं। यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि इस गण के सभी धातु हलन्त हैं। इस गण का विकरण उदात्त न (पा० श्नम्) है जो धातु के अन्तिम अच् के पश्चात् जोड़ा जाता है[१६३]। सार्वधातुक कित् तथा ङित् (अपित्) प्रत्यय से पूर्व न के अ का लोप हो कर केवल न् बचता है (टि० १०६)। धातुओं के अन्तिम च्, ज्, द्, ध्, प्, ह् के साथ प्रत्ययों के आदि व्यञ्जन (त् थ् इत्यादि) की सन्धि होने पर जो विकार होते है उन के लिये देखिए **सन्धिप्रकरणम्।**

लङ् के प्र० पु० ए० तथा म० पु० ए० के प्रत्यय क्रमशः त् तथा स् का लोप हो जाता है (अनु० ७०)।

२४६. **रुधादिगण के रूप** – वैदिकभाषा मे रुधा० के धातुओं के जो रूप उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर युज् "जोड़ना" के निम्नलिखित रूप बनते है। कोष्ठकान्तर्गत रूप अनुपलब्ध है।

परस्मैपद

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	युनक्ति	(युङ्क्तः)	युञ्जन्ति।
म० पु०	युनक्षि	(युङ्क्थः)	(युङ्क्थ)।
उ० पु०	युनज्मि	(युन्ज्वः)	युन्ज्मः।

लङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अयुनक्	(अयुङ्क्ताम्)	अयुञ्जन्।
म० पु०	अयुनक्	अयुङ्क्तम्	(अयुङ्क्त)।
उ० पु०	(अयुनजम्)	(अयुन्ज्व)	(अयुन्ज्म)।

लोट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	युनक्तु	युङ्क्ताम्[१६४]	युञ्जन्तु ।
म० पु०	युङ्धि[१६५]	युङ्तम्, युङ्क्तम्[१६५]	युङ्त[१६५], युङ्क्त, युनक्त, युनक्तन ।

लेट्

प्र० पु०	युनजत्	युनजतः	युनजन् ।
म० पु०	युनजः	(युनजथः)	(युनजथ) ।
उ० पु०	(युनजानि)	युनजाव	युनजाम ।

विधिलिङ्

प्र० पु०	युञ्ज्यात्	(युञ्ज्याताम्)	(युञ्ज्युः) ।
म० पु०	(युञ्ज्याः)	(युञ्ज्यातम्)	(युञ्ज्यात) ।
उ० पु०	(युञ्ज्याम्)	(युञ्ज्याव)	(युञ्ज्याम) ।

शत्रन्त (प्रथ० ए०)

नपुं० युञ्जत् ; पुं० युञ्जन् ; स्त्री० युञ्जती ।

आत्मनेपद

लट्

प्र० पु०	युङ्क्ते[१६४]	युञ्जाते	युञ्जते ।
म० पु०	युङ्क्षे	युञ्जाथे	युङ्ग्ध्वे ।
उ० पु०	युञ्जे	(युञ्ज्वहे)	(युञ्ज्महे) ।

लङ्

प्र० पु०	(अयुङ्क्त)	(अयुञ्जाताम्)	अयुञ्जत ।
म० पु०	(अयुङ्क्थाः)	(अयुञ्जाथाम्)	(अयुङ्ग्ध्वम्) ।
उ० पु०	(अयुञ्जि)	(अयुञ्ज्वहि)	(अयुञ्ज्महि) ।

लोट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	युङ्ताम्[१६४]	(युञ्जाताम्)	युञ्जताम् ।
म० पु०	युङ्क्ष्व	युञ्जाथाम्	युङ्ग्ध्वम् ।

लेट्

प्र० पु०	युनजते	(युनजैते)	(युनजन्त) ।
म० पु०	(युनजसे)	(युनजैथे)	(युनजध्वे) ।
उ० पु०	(युनजै)	(युनजावहै)	युनजामहै ।

विधिलिङ्

प्र० पु०	युञ्जीत	(युञ्जीयाताम्)	(युञ्जीरन्) ।
म० पु०	(युञ्जीथाः)	(युञ्जीयाथाम्)	(युञ्जीध्वम्) ।
उ० पु०	(युञ्जीय)	(युञ्जीवहि)	(युञ्जीमहि) ।

शान० (प्रथ० ए०)

नपुं० युञ्जानम् ; पुं० युञ्जानः ; स्त्री० युञ्जाना ।

२४७. रुधा० के उल्लेखनीय अपवाद—(१) न विकरण के पश्चात् आने वाला धातु का न् लुप्त हो जाता है[१६५]; यथा—अञ्ज् से अनक्ति, इन्ध् से इन्धे, उन्द् से उनत्ति, भञ्ज् से भनक्ति, हिंस् से हिनस्ति । (२) हलादि पित् प्रत्यय से पूर्व तृह् "कुचलना" के साथ जुड़े हुए न विकरण को इ (पा० इम्) का आगम होता है[१६६]; यथा—तृणेढि (दे० अनु० ७२-७३); ले० प्र० पु० व० में तृणहान् (अ०) रूप मिलता है । (३) अडागमरहित लङ् तथा वि० मू० में प्र० पु० ए० के रूप √पिष् से पिणक् (म० पु० ए० में भी), √रिच् से रिणक्, √पृच् से पृणक् तथा √वृज् से वृणक् बनते है ।

९. क्र्यादिगण

२४८. लगभग ५० धातुओं के रूप क्र्या० में बनते हैं। इनमें से लगभग ३० धातुओं के क्र्या० रूप केवल वैदिकभाषा में, पांच-छः के रूप केवल लौकिकसंस्कृत में, और लगभग १५ धातुओं के क्र्या० रूप वैदिक तथा लौकिक दोनों में मिलते है। क्र्या० का विकरण उदात्त **ना** (पा० श्ना) है[१९७], जो पित् प्रत्ययों से पूर्व अविकृत रहता है। परन्तु हलादि कित् तथा ङित् (अपित्) प्रत्ययों से पूर्व इस का **नी** (टि० १४०), और अजादि कित् तथा ङित् प्रत्ययों से पूर्व (आ का लोप होकर) केवल **न्** (टि० १४४) बन जाता है। आ० के प्र० पु० ब० में इस **न्** के पश्चात् लट् में **अते**, लङ् में **अत**, और लो० में **अताम्** प्रत्यय आता है (टि० १८)।

२४९. क्र्या० के रूप—क्र्या० के उपलब्ध रूपों के आधार पर ग्रभ् "पकड़ना" के निम्नलिखित रूप बनते है।

ना विकरण से पूर्व, जो कि ङित् माना जाता है (टि० ११), ग्रभ् तथा उत्तरकालीन ग्रह् को सम्प्रसारण हो जाता है (टि० ८६)।

परस्मैपद

लट्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	गृभ्णा́ति	गृभ्णी॒तः	गृभ्ण॒न्ति।
म० पु०	गृभ्णा́सि	गृभ्णी॒थ	गृभ्णी॒थ, गृभ्णी॒थन।
उ० पु०	गृभ्णा́मि	(गृभ्णी॒वः)	गृभ्णी॒मः, गृभ्णी॒मसि।

लङ्

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अगृभ्णात्	(अगृभ्णीताम्)	अगृभ्णन्।
म० पु०	अगृभ्णाः	अगृभ्णीतम्	अगृभ्णीत।
उ० पु०	अगृभ्णाम्	(अगृभ्णीव)	(अगृभ्णीम)।

सप्तमोऽध्यायः

लोट्

प्र० पु० गृभ्णातु ; गृभ्णीताम् ; गृभ्णन्तु ।
म० पु० गृभ्णीहि(अ०), गृभ्णाहि[१९७क],
गृभ्णीतात्, गृभाण[१९८] ; गृभ्णीतम् ; गृभ्णीत,
गृभ्णीतन ।

लेट्

प्र० पु० गृभ्णात्, गृभ्णाति ; (गृभ्णातः) ; गृभ्णान् ।
म० पु० गृभ्णाः ; (गृभ्णाथः) ; गृभ्णाथ ।
उ० पु० गृभ्णानि ; (गृभ्णाव) ; गृभ्णाम ।

विधिलिङ्

प्र० पु० गृभ्णीयात् ; (गृभ्णीयाताम्) ; (गृभ्णीयुः) ।
म० पु० गृभ्णीयाः ; (गृभ्णीयातम्) ; (गृभ्णीयात) ।
उ० पु० गृभ्णीयाम् ; (गृभ्णीयाव) ; (गृभ्णीयाम) ।

शतृ० (प्रथ० ए०)

नपुं० गृभ्णत् ; पुं० गृभ्णन् ; स्त्री० गृभ्णती ।

आत्मनेपद

लट्

प्र० पु० गृभ्णीते ; (गृभ्णाते) ; गृभ्णते ।
म० पु० गृभ्णीषे ; (गृभ्णाथे) ; (गृभ्णीध्वे) ।
उ० पु० गृभ्णे ; (गृभ्णीवहे) ; गृभ्णीमहे ।

लङ्

प्र० पु० अगृभ्णीत ; (अगृभ्णाताम्) ; अगृभ्णत ।
म० पु० (अगृभ्णीथाः) ; (अगृभ्णाथाम्) ; (अगृभ्णीध्वम्) ।
उ० पु० अगृभ्णि ; (अगृभ्णीवहि) ; अगृभ्णीमहि ।

लोट्

प्र० पु० गृभ्णीताम् ; (गृभ्णाताम्) ; गृभ्णताम् ।
म० पु० गृभ्णीष्व ; (गृभ्णाथाम्) ; गृभ्णीध्वम् ।

लेट्

प्र० पु० (गृ॒भ्णा॒ति॑) ; (गृ॒भ्णै॒ते॑) ; (गृ॒भ्णा॒न्त॑) ।
म० पु० (गृ॒भ्णा॒सि॑) ; (गृ॒भ्णै॒थे॑) ; (गृ॒भ्णा॒ध्वै॑) ।
उ० पु० (गृ॒भ्णै॒) ; गृ॒भ्णा॒व॑है ; गृ॒भ्णा॒म॑है ।

विधिलिङ्

प्र० पु० गृ॒भ्णी॒त ; (गृ॒भ्णी॒याता॑म्) ; (गृ॒भ्णी॒रन्) ।
म० पु० (गृ॒भ्णी॒थाः) ; (गृ॒भ्णी॒याथा॑म्) ; (गृ॒भ्णी॒ध्वम्) ।
उ० पु० (गृ॒भ्णी॒य) ; (गृ॒भ्णी॒वहि॑) ; (गृ॒भ्णी॒महि॑) ।

शान० (प्रथ० ए०)

नपुं० गृ॒भ्णा॒नम् ; पुं० गृ॒भ्णा॒नः ; स्त्री० गृ॒भ्णा॒ना ।

२५० **क्र्या० के उल्लेखनीय अपवाद**— (१) क्र्या० के विकरण से पूर्व पू "पवित्र करना", जू "शीघ्र होना", जी (ज्या से सम्प्रसारण द्वारा टि० १८) "दबाना", शॄ "कुचलना", स्तॄ "फैलाना" इत्यादि धातुओं का अन्तिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है[१६९]; यथा— पु॒नाति॑, जु॒नासि॑, जि॒नामि॑, शृ॒णामि॑ (अ०), स्तृ॒णा॒मि (अ०) ।

(२) क्र्या० के विकरण से पूर्व ज्ञा "जानना" को जा आदेश हो जाता है (टि० ९४); यथा— *जा॒नाति॑* ।

(३) क्र्या० के विकरण से पूर्व हलन्त धातुओं की उपधा के नकार का लोप हो जाता है[१७०]; यथा—बन्ध् "बांधना" से बु॒ध्नाति॑, मन्थ् "मथना" से म॒थ्नाति॑, स्कम्भ् तथा स्तम्भ् "दृढ़ करना" से स्कु॒भ्नाति॑ तथा स्तु॒भ्नाति॑ ।

(४) पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, क्र्या० के कतिपय धातुओं के कुछ रूप नकार-सहित अङ्ग से भ्वा० में भी बनते हैं; यथा— पॄ "भरना" के पृ॒ण- अङ्ग से ऋ० में भ्वा० के दस, तथा मॄ "कुचलना" के मृ॒ण- अङ्ग से ऋ० में भ्वा० के पाँच रूप बनते हैं—पृ॒णति॑, मृ॒ण॒सि इत्यादि। परन्तु भारतीय वैयाकरणों के अनुसार, ऐसे रूप पृण्, मृण् इत्यादि धातुओं से तुदा० में बनते है ।

सप्तमोऽध्यायः

लिड्वर्ग के अङ्ग से आख्यातरूप

२५१. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, लिट् के प्रत्ययों से पूर्व जो अङ्ग प्रयुक्त होता है, उस अङ्ग से कालवाचक लिट् तथा अतिलिट् (Pluperfect) के अतिरिक्त क्रिया-प्रकार-वाचक लकार लेट्, लोट्, विधिलिङ् तथा विधिमूलक (Injunctive) लकार के रूप भी बनते हैं। इस सम्बन्ध में भारतीय मत का परिचय नीचे यथास्थान दिया जायगा। पाश्चात्य विद्वान् लिड्वर्ग के अङ्ग से -आन तथा -वांस् प्रत्ययों के द्वारा बने हुए अङ्ग मानते हैं, जब कि पा० (३,२,१०६-७) कानच् तथा क्वसु प्रत्ययों के द्वारा ऐसे वैदिक रूपों का समाधान करता है। वैदिकभाषा में लिट् का प्रचुर प्रयोग मिलता है और लगभग ३०० धातुओं से बने हुए लिट् के रूप उपलब्ध होते हैं। लिट् के प्रत्यय अन्य लकारों के प्रत्ययों से भिन्न है और द्वित्व तथा धातु-विकार के सम्बन्ध में भी इस लकार की कुछ अपनी विशेषताएं है, जिन का विस्तृत विवेचन यथास्थान किया गया है।

२५२. **लिट् के प्रत्यय**— लिट् में निम्नलिखित प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अ (पा० णल्)	अतुस्	उस्।
म० पु०	थ (पा० थल्)	अथुस्	अ।
उ० पु०	अ (पा० णल्)	(व)	म।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ए (पा० एश्)	आते	रे (पा० इरेच्)।
म० पु०	से	आथे	ध्वे
उ० पु०	ए	(वहे)	महे

णित्, पित्, कित्—पा० के अनुसार, प० में प्र० पु० ए० का प्रत्यय अ (णल्) नित्य णित् और उ० पु० ए० का प्रत्यय अ (णल्) विकल्प से णित् है[१७१]। प० में प्र० पु०, म० पु० तथा उ० पु० के ए० के प्रत्यय (अ, थ, अ) पित् माने जाते हैं। इन तीन प्रत्ययों को छोड़ कर लिट् के शेष सब प्रत्यय अपित् हैं। जिस धातु के अन्त में संयुक्त व्यञ्जन न हों उस से परे आने वाला अपित् लिट्-प्रत्यय कित् होता है[१७२]। णित्, पित्, तथा कित् प्रत्ययों से पूर्व धातुओं के स्वरों में होने वाले विकारों का वर्णन अनु० २१२ में किया गया है।

विशेष— (१) धातु के आकारान्त अङ्ग से परे प० में प्र० पु० तथा उ० पु० ए० के प्रत्यय अ (पा० णल्) के स्थान पर औ प्रत्यय आता है[१७३]; यथा पा "पीना" से पपौ। रोट, ग्रासमैन प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् पप्रा (ऋ० १,६९,१) को प्रा "भरना" का लिट् मान कर इसे उक्त नियम का अपवाद समझते है[१७४]।

(२) यद्यपि पा० ने अतुस्, उस् तथा अथुस् प्रत्यय माने है, पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार इन प्रत्ययों के अन्त में मौलिक ध्वनि र् है, स् नहीं।

(३) वैदिकसंहिताओं में लि० उ० पु० द्वि० का रूप उपलब्ध नहीं होता है।

(४) उपनिषदों में तथा कतिपय उत्तरकालीन ग्रन्थों में √श्रु के साथ उ० पु० ब० का मस् प्रत्यय भी कहीं-कहीं प्रयुक्त होता है[१७४क]; यथा शुश्रुमः।

(५) पा० के अनुसार, आ० में प्र० पु० ब० का प्रत्यय इरे है[१७५]। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् मूल प्रत्यय केवल रे मानते हैं और इ को इस के साथ आगम के रूप में स्वीकार करते हैं। इस मत के समर्थन में यह तथ्य है कि बहुत से वैदिक रूपों में केवल रे प्रत्यय मिलता है[१७६]; यथा— √धा से दध्रे, √नुद् से नुनुद्रे, √विद् से विविद्रे।

सप्तमोऽध्यायः

ऋ० के छः रूपों में रिरे प्रत्यय मिलता है; यथा— √चित् (पा० √कित्) से चिकित्रिरे, जगृभ्रिरे, दद्रिरे (√दा, सायण √दद) बुभुज्रिरे, विविद्रिरे, ससृज्रिरे। पा० के अनुसार, इन रूपों में इरे प्रत्यय को र् (रुट्) का आगम हुआ है (टि० १६)। इसी प्रकार सा० में दुदुह्रिरे और तै० ब्रा० में दुदुह्रिरे रूप मिलते हैं।

इट् आगम— अजादि प्रत्यय धातु के साथ सीधे जोड़ दिये जाते हैं। परन्तु हलादि प्रत्ययों (थ, व, म, से, ध्वे, वहे, महे) से पूर्व कहीं-कहीं इ (पा० इट्) आगम जोड़ दिया जाता है। यद्यपि निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना कठिन है, तथापि इस विषय में प्रमुख प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) ऋकारान्त धातुओं— √कृ, √भृ, √वृ, √सृ— से परे आने वाले हलादि लिट् प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता है[१७७]; यथा— चकृम, चकर्थ, चकृषे, जभर्थ, ववर्थ (√वृ "आच्छादित करना"), ववृषे, ववृमहे, ससृव (श० ब्रा०)। आ० प्र० पु० ब० में √कृ से परे सदा इरे प्रत्यय आता है; यथा— चक्रिरे। √भृ से परे आ० म० पु० ए० के प्रत्यय से को ऋ० में इट् आगम होता है; यथा— जभ्रिषे। ऋ "जाना" से परे हलादि लिट्-प्रत्यय को इडागम होता है[१७८]; यथा— आरिथ, आरिम। √श्रु, √सु "रस निकालना" तथा √स्तु से परे आने वाले हलादि लिट्-प्रत्यय को इट् का आगम नही होता है (टि० १७७); शुश्रोथ (पै० सं०), शुश्रुम, सुषुम।

(२) उपर्युक्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य अजन्त धातुओं से परे आने वाले थ (प० म० पु० ए०) प्रत्यय को भी प्रायेण इट् आगम नहीं होता है[१७९]; यथा— ददाथ (√दा), जिगेथ (√जि), निनेथ (√नी)। परन्तु बभूथ के अतिरिक्त दो वार बभूविथ भी ऋ० में मिलता है।

(३) उपर्युक्त ऋकारान्त तथा अजन्त धातुओं (टि० १७७) से भिन्न कुछेक

अजन्त धातुओं से परे आने वाले थ से भिन्न हलादि लिट्-प्रत्ययों को इट् का आगम होता है[१८०]; यथा—√धा से दधिम, दधिषे, दधिध्वे; √स्था से तस्थिम; √रा "देना" से ररिम, ररिषे; √भू से बभूविम (अ०)।

(४) जिन हलन्त-धातुओं में अकार आता है उन से परे आने वाले थ प्रत्यय को प्रायेण इट् आगम नहीं होता है[१८१]; यथा—√तन् से ततन्थ (टि० १७९), जगन्थ (√गम्), जघन्थ (√हन्), ययन्थ(√यम्), ससत्थ (√सद्); परन्तु आविथ (√अव्), आसिथ (√अस् "होना")। इस प्रकार के अकारवान् धातुओं से परे आने वाले अन्य हलादि लिट्-प्रत्ययों तथा इन से भिन्न हलन्त धातुओं से परे आने वाले सभी हलादि लिट्-प्रत्ययों को प्रायेण इट् का आगम होता है (दे० टि० १८०); यथा—√हन् से जघ्निम (अ०), √पत् से पप्तिम (ऋ०), √तन् से तत्निषे, √सद् से सेदिम (ऋ०); √आप् से आपिथ (अ०), √दुह् से दुदोहिथ (ऋ०), √विद् "पाना" से विवेदिथ, √युप् "मिटाना" से युयोपिम। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का समाधान यह है कि यदि हलन्त धातुओं के अङ्ग का अन्तिम अक्षर लघु हो, तो ऐसे अङ्ग से परे आने वाले हलादि लिट्-प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता है, परन्तु यदि अन्तिम अक्षर गुरु हो तो प्रत्यय को इट् का आगम होता है ताकि वैदिक छन्दः में लघु और गुरु का क्रम बना रहे[१८२]; यथा—ततन्थ, जगन्म, जगृभ्म (टि० १७९), युयुज्म; परन्तु पप्तिम, आसिथ, आपिथ, उवोचिथ, ऊचिम।

२५३. लिट् में द्वित्व की विशेषताएं—लिट् में द्वित्व के साधारण नियम वे ही हैं जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है (अनु० २३८)। लिट् में द्वित्व की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

१. अकारादि तथा आकारादि धातुओं के अभ्यास के अ का आ बन जाता है[१८३]; यथा—अन् "श्वास लेना" से आन, अव् "रक्षा

करना" से आर्व, अस् "होना" से आस, आप् "प्राप्त करना" से आप, अश् "खाना" से आश, अह् "कहना" से आह (टि० १२५)।

२. ऋवर्णयुक्त धातुओं के अभ्यास के ऋ का अ बन जाता है[१८४]; यथा— चकार (√कृ), चकर्त (√कृत्), ततर्द (√तृद्), जजार (√जॄ)।

इस नियम के अनुसार बने अभ्यास के आदि अ का दीर्घ होने से (टि० १८३) और धातु के ऋ को गुण होने से (टि० २००), ऋ "जाना" धातु का अङ्ग सभी लिट्-प्रत्ययों से पूर्व आर्- बनता है; यथा—आर, आरिथ, आरथुः आरुः।

३. जिस अकारादि धातु में अ से परे संयुक्त व्यञ्जन हों उस धातु के अभ्यास के आ (दे० उपर्युक्त नियम १) के पश्चात् न् (पा० नुट्) का आगम होता है[१८५]। मैक्डानल के मतानुसार[१८६], जिन पांच धातुओं का आदि अ छन्दःपरिमाण के विचार से गुरु है, उन का द्वित्व आन् से बनता है और वे पांच धातु ये हैं— अंश्[१८७] (पा० अश्) "पहुंचना", अञ्ज् "अञ्जन करना", ऋध् (√अर्ध् के ह्रास से उत्पन्न) "समृद्ध होना", अर्च् "स्तुति करना", अर्ह् "योग्य होना"; यथा—प्र० पु० ए०— आनंश, आनश, आनशे, आनञ्ज (वा० सं०, तै० सं०), आनजे, आनृधे, आनृचे; प्र० पु० ब०— आनशुः, आनज्रे (√अञ्ज्, कवा०), आनृधुः (अ०), आनृचुः[१८८], आनृहुः[१८८] (तै० सं०); म० पु० ब०— आनश, आनशध्वे (ला० श्रौ०); उ० पु० ए०— आनशे, आनजे; उ० पु० ब०—आनश्म। इस प्रकार के दो अन्य रूपों—ऋज् "पहुंचना" से आनृजुः (अ०) और अंह् "तंग होना" से आनाह (ऋ० ८,४८,५)—के व्याख्यान विवादास्पद है[१८९]।

४. हलादि धातुओं के अभ्यास का स्वर साधारणतया ह्रस्व रहता है (टि० १३०), परन्तु लगभग ३५ हलादि धातुओं के अभ्यास का स्वर वैदिक-

भाषा में दीर्घ मिलता है[१९०]; यथा— कन् "प्रसन्न होना" से चाकन्, क्लृप् (पा० कृप्) "समर्थ होना" से चाक्लृप्रे, गृ (पा० जागृ) "जागना" से जागार[१९१], गृध् "लोभ करना" से जागृधुः (पपा० जगृधुः), तृप् "तृप्त होना" से तातृपुः (पपा० ततृपुः अ०), तृष् "प्यासा होना" से तातृषुः (पपा० ततृषुः), धृ "धारण करना" से दाधार, नम् "झुकना" से नानाम (पपा० ननाम), मह् "महान् होना, देना" से मामहे (पपा० ममहे), मृज् "पोंछना" से मामृजे (पपा० ममृजे) तथा मामृजुः (पपा० ममृजुः), मृश् "छूना" से परिमामृशुः (पपा० परिऽममृशुः), रध् "अधीन होना" से रारधुः (पपा० ररधुः), इत्यादि। इसी प्रकार रन्, रभ्, वञ्च्, वन्, वश्, वस् "पहनना", वाश्, वृज्, वृत्, वृध्, वृष्, शद्, सह्, स्कम्भ्, दी, धी, पी (पा० प्याय् टि० १४६), जू तथा तु धातुओं के अभ्यास का स्वर दीर्घ मिलता है। अ तथा ऋ से बने अभ्यास के आ को पपा० में प्रायेण ह्रस्व करके दिखलाया जाता है।

५. अभ्यास के इ तथा उ से परे असवर्ण अच् आने पर इ का इय् और उ का उव् हो जाता है (टि० १३६)। उदाहरणार्थ इकारादि तथा उकारादि धातुओं का द्वित्व करने पर प० के ए० में जब धातु के इ उ को गुण या वृद्धि हो जाती है (अनु० २५४क) तब गुण या वृद्धि से पूर्व अभ्यास के इ का इय् और उ का उव् हो जाता है; यथा— इ "जाना" से प्र० पु० ए० इयाय, म० पु० ए० इयेथ (ऋ०, अ० में १ बार इयथ); उच् "प्रसन्न होना" से प्र० पु० ए० उवोच, म० पु० ए० उवोचिथ। प० के ए० के प्रत्ययों को छोड़ कर लिट् के शेष सभी प्रत्ययों (पा० कित् प्रत्ययों) से पूर्व अभ्यास के इ उ और उस से परवर्ती इ उ की सवर्णदीर्घसन्धि हो जाती है; यथा— उच् से आ० म० पु० ए० ऊचिषे, इष् "इच्छा करना" से प्र० पु० ब० ईषुः, म० पु० द्वि० ईषथुः। पाणिनि लिट् के कित् प्रत्ययों से पूर्व इ "जाना" के अभ्यास को दीर्घ और अजादि प्रत्ययों से

पूर्व धातु के इ का य् बना कर ईयतुः, ईयुः इत्यादि का व्याख्यान करता है[१९२]।

६. भू "होना" के अभ्यास के स्वर का अ बन जाता है और अजादि प्रत्ययों से पूर्व धातु के साथ व् (पा० वुक्) आगम जोड़ा जाता है[१९३]; और प० प्र० पु० ए० में सू "उत्पन्न करना" के अभ्यास के स्वर को अ आदेश और धातु के ऊ को व् (पा० वुक्) आगम हो जाता है[१९४]; यथा—बभूव, बभूवतुः, बभूविम, ससूव (ऋ०)। ऋ० में √भृ "धारण करना" के अभ्यास में प्रायेण भ् का ज् बनता है और केवल एक बार ब् बनता है; यथा—जभार, जभ्रुः, जभर्थ, जभ्रे, जभ्रिषे, जभ्रिरे, परन्तु बभ्रे।

७. **द्वित्व का अभाव**—लिट् के कतिपय वैदिक रूपों में द्वित्व का अभाव मिलता है (टि० १९०); यथा—अर्ह् "योग्य होना" से अर्हिरे, तक्ष् "घड़ना" से तक्षथुः तथा तक्षुः, दभ् (पा० दम्भ्) "धोखा देना" से आदभुः (ऋ०)[१९५]; धा "धारण करना" से धिषे (म० पु० ए०) तथा धिरे, निन्द् "निन्दा करना" से निन्दिम, यम् "नियन्त्रित करना" से यमतुः तथा यमुः, स्कम्भ् "सहारा देना" से स्कम्भथुः तथा स्कम्भुः। विद् "पाना" से बना आ० प्र० पु० ब० का रूप विद्रे (ऋ०) भी द्वित्वरहित लिट् माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान् विद् "जानना" से बने हुए वेद, विदुः इत्यादि रूपों को द्वित्वरहित लिट् मानते हैं (टि० १२४), परन्तु पाणिनि इन्हें लट् के रूप मानता है (टि० १२२)। अ०, वा० सं० तथा सा० में उपलब्ध चेततुः को कतिपय विद्वान् चित् "जानना" का द्वित्व-रहित लिट् मानते हैं[१९६]।

२५४. लिट् के अङ्ग की विशेषताएं—

(क) **धातु के स्वर को वृद्धि, गुण**—प्र० पु० ए० के प्रत्यय अ (पा० णल्) से पूर्व अजन्त धातुओं के अन्तिम अच् को वृद्धि हो जाती है[१९७]; यथा—स्तु "स्तुति करना" से तुष्टाव; नी "ले जाना"

से निनाय। जिन हलन्त धातुओं की उपधा में अ हो, उनके अ को भी इस प्रत्यय से पूर्व वृद्धि हो जाती है[१९८]; यथा—√पच् से पपाच (अ०), परन्तु √तक्ष् से ततक्ष। उ० पु० ए० के प्रत्यय अ (पा० णल्) से पूर्व यह वृद्धि वैकल्पिक है (टि० १७१) और वैदिक-भाषा में इस से पूर्व धातु के अच् को वृद्धि होने के उदाहरण अति विरल हैं; यथा— √गम् से जगाम (ऋ०), √ग्रभ् से जग्राभ, √ग्रह् से जग्राह (अ०)[१९९], परन्तु वृ "आच्छादित करना" से ववार (तै० सं० ३,५,५,१), √कृ से चकार (आश्व० श्रौ० सू०) √जि से जिगाय (आश्व० श्रौ० सू०)।

वृद्धि न होने पर धातु के अन्तिम अच् को उ० पु० ए० के अ प्रत्यय से पूर्व गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा— भी "डरना" से बिभय (ऋ०), √कृ से चकर (ऋ०)। प्र० पु०, म० पु० तथा उ० पु० के एकवचन के प्रत्ययों (अ, थ, अ) से पूर्व, धातु की उपधा के इ, उ तथा ऋ को और थ से पूर्व धातु के अन्तिम इ, उ, ऋ को भी गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा—रिच् "खाली करना" से रिरेच, पुष् "पुष्ट करना" से पुपोष, कृत् "काटना" से चकर्त (ऋ०), √दुह् से दुदोहिथ (ऋ०), √विश् से विवेश (ऋ०), √नी से निनेथ, √कृ से चकर्थ। णल्-वर्जित लिट्-प्रत्ययों से पूर्व, ऋ "जाना" और ॠकारान्त धातुओं के अन्तिम अच् को गुण हो जाता है[२००]; यथा—ऋ से आरिथ, आरथुः; √स्तॄ "बिछाना" से तस्तरुः (ब्रा०)।

(ख) **अङ्ग के अन्तिम आ का लोप**— आकारान्त तथा एजन्त धातुओं से बने (टि० ६१) आकारान्त अङ्ग के अन्तिम आ का लोप हो जाता है, जब उससे परे इट् आगम या अपित् अजादि लिट्-प्रत्यय आये[२०१]; यथा— √ज्ञा से जज्ञे, √दा से ददथुः, ददुः, √स्था से तस्थिम, त्रै "बचाना" से तत्रे।

(ग) **अभ्यास-लोप और धातु के अ का ए**— जिन हलादि तथा हलन्त धातुओं में असंयुक्त व्यञ्जनों के मध्य अ आये और जिन का आदि

व्यञ्जन अभ्यास में अविकृत रहता हो (अर्थात् महाप्राण या कण्ठ्य नहीं है जो अभ्यास में विकृत हो जाता है), उन धातुओं से परे कित् (टि० १७२) लिट्-प्रत्यय आने पर अभ्यास का लोप और धातु के अ का ए बन जाता है[२०२]; यथा—√पच् से पेचे (ऋ०), √पत् से पेततुः; √यम् से येमतुः (ऋ०), येमुः, येमथुः, येमाते; √चर् से चेरुः (अ०), चेरिम (अ०); √सद् से सेदतुः, सेदुः, सेदथुः, सेद, सेदिम (ऋ०), सेदिरे (ऋ०)। प० म० पु० ए० के थ से पूर्व इट् का आगम होने पर, पाणिनि के मतानुसार ऐसे धातुओं के अभ्यास का लोप और अ का ए हो जाता है[२०३] और महाभाष्य तथा काशिका में पेचिथ और शेकिथ उदाहरण दिये गये है। परन्तु वैदिकभाषा में इस नियम के उदाहरण मृग्य हैं।

अपवाद— उपर्युक्त नियम के अनेक अपवाद भी मिलते हैं; यथा— (१) √दम्भ् और √बन्ध् में संयुक्त व्यञ्जनों के मध्य अ होने पर भी अभ्यासलोप और अ का ए होता है[२०४]; यथा—देभुः (ऋ०), बेधुः (अ०), बेधे (अ०), बेधिरे (अ०)। इसी प्रकार श० ब्रा० में √सञ्ज् से बना सेजुः और कौ० ब्रा० में √श्रम् से बना श्रेमुः रूप मिलता है। (२) यद्यपि √भज् "भागी होना" का आदि व्यञ्जन अभ्यास में विकृत होता है, तथापि इस के अभ्यास का लोप और अ का ए होता है[२०५]; यथा—भेजे, भेजाते, भेजिरे। पाणिनि ने अनेक अन्य धातुओं में भी इस नियम का अपवाद बतलाया है[२०६], परन्तु उनके वैदिक उदाहरण मृग्य हैं। (३) वकारादि धातुओं के अभ्यास का लोप और अ का ए नहीं होता है[२०७]; यथा— √वन् "जीतना" से ववन्म (ऋ०)।

(घ) **संप्रसारण**— (अभ्यास में तथा कित् प्रत्ययों से पूर्व)— निम्नलिखित वकारवान् तथा यकारवान् धातुओं का जो वकार या यकार अभ्यास में आता है उसे संप्रसारण हो जाता है[२०८]— वच् "बोलना", वद् "बोलना", वप् "बोना", वस् "चमकना, रहना", वह् "ले

जाना", ह्वे "पुकारना", स्वप् "सोना", व्यच् "व्याप्त करना", व्यध् "वींधना", व्ये "आच्छादित करना", यज् "यज्ञ करना", ज्या "वश में करना", स्यन्द् "बहना"; यथा— उवाच, उवास, उवाह, जुहाव[२०८क], उवाद (श० ब्रा०), सुष्वाप (पैं० सं०), जिज्यौ (ब्रा०), सिष्यन्दे (अ०, ब्रा०)। व्यच्, व्यध् तथा व्ये धातुओं के अभ्यास में तथा अन्यत्र केवल य् को संप्रसारण होता है, व् को नहीं होता है[२०९]; यथा— विव्याच, विव्यक्थ, विव्याध (ब्रा०)। जुहाव को छोड़ कर उपर्युक्त उदाहरणों में पित् लिट्-प्रत्ययों से पूर्व, अभ्यास के य् व् को संप्रसारण होता है, परन्तु धातु के य् व् को संप्रसारण नही होता है। कित् लिट्-प्रत्ययों से पूर्व, अभ्यास तथा धातु दोनों के य् व् को संप्रसारण होता है[२१०], और संप्रसारण से बने दोनों इकारों तथा उकारों की सवर्णदीर्घसन्धि हो जाती है; यथा प० में—ऊहतुः (√वह्), ऊहुः, ऊचुः, ऊपुः (√वप्), ऊषुः (√वस्), सिष्यदुः (√स्यन्द्, अ०), सुषुपुः (√स्वप्), विव्यथुः (√व्ये), ऊष (√वस्), ऊचिम (√वच्), ऊदिम (√वद्), ऊषिम (√वस्); आ० में— ऊपे (ऋ०), ईजे, सिष्यदे (अ०), ऊचिरे, ऊहिरे, ऊचिषे, पिपे, ऊहिषे।

तित्याज (ऋ०) में √त्यज् के अभ्यास के य् को संप्रसारण होता है (टि० १८८), और ऊवुः (ऋ०) में √वे "बुनना" के व् को संप्रसारण होता है[२११]। कित् लिट्-प्रत्ययों से पूर्व, √ग्रभ् तथा √ग्रह् धातुओं के र् को संप्रसारण हो जाता है (टि० ८६); यथा प० में— जगृभुः, जगृहुः, जगृभथुः, जगृभ्म, जगृह्म (सा०); आ० में— जगृभ्रे, जगृभ्रिरे (ऋ०), जगृहे। चिच्युषे (ऋ०) में √च्यु "हिलाना" के अभ्यास के य् को संप्रसारण हुआ है (टि० १८८)। √द्युत् "चमकना" के अभ्यास के य् को भी संप्रसारण हो जाता है[२१२]; यथा— दिद्योत (अ०), दिद्युतुः (तै० सं०); आ०- दिद्युते। √श्वि "फूलना" के व् को संप्रसारण और अभ्यास के उ का ऊ

हो जाता है[२१३]; यथा— शूशुवुः, शूशुवे (ऋ०)।

अपवाद— कतिपय वैदिक रूपों में अपवादस्वरूप य् व् को संप्रसारण नही होता है; यथा— √वच् से ववाच (ऋ०) तथा ववक्षे (ऋ० ७, १००,६), और √यज् से येजे (ऋ० ६,३६,२)। ऋ० में √वश् "इच्छा करना" और √वस् "पहनना" के लिट्-रूपों में संप्रसारण का अभाव मिलता है; यथा— वावशुः, वावशे, वावसे (पपा० ववसे)।

(ङ) **धातु के अ का लोप**— अजादि कित् लिट्-प्रत्यय से पूर्व, √खन् "खोदना", √गम्, √घस् "खाना", √जन्, √तन्, √पत्, √पन् "स्तुति करना", √मन् "मनन करना", √वन् "जीतना", √सच् "संयुक्त होना", तथा √हन् की उपधा के अ का लोप हो जाता है[२१४]; यथा प०— चख्नुः (अ०), जग्मतुः, जग्मुः, जक्षुः (श० ब्रा०), जज्ञतुः, जज्ञुः (ऋ० में एक बार जजनुः), पप्तुः (ऋ०), पप्तिम (ऋ०), सश्चुः (ऋ०), सश्चिम, जघ्नुः, जघ्निम; आ०— जग्मे, जज्ञे, तत्ने (इस के अतिरिक्त ऋ० में ततने तथा तते), तत्निरे (ऋ०), तत्निषे, पप्ने (ऋ०), मम्नाते (ऋ०), मम्नाथे (ऋ०), वव्ने (ऋ०), सश्चिरे (ऋ०), जघ्ने (ब्रा०)।

(च) **उपधा के अनुनासिक व्यञ्जन का लोप**— अपित् लिट्-प्रत्ययों से पूर्व, हलन्त धातुओं की उपधा के अनुनासिक व्यञ्जन या अनुस्वार का लोप हो जाता है (टि० १७०); यथा √क्रन्द् "चिल्लाना" से चक्रदे (ऋ०), √तंस् "हिलाना" से ततस्रे (ऋ०), √दम्भ् से देभुः, √बन्ध् से बेधुः, √सञ्ज् से सेजुः (श० ब्रा०), √स्तम्भ् से तस्तभुः। परन्तु कुछ वैदिक रूपों में यह लोप नहीं होता है; यथा— √स्कम्भ् से स्कम्भुः (ऋ०) तथा स्कम्भथुः (ऋ०)।

(छ) **इयङ्, उवङ्**— इ/ई के इय् (पा० इयङ्) और उ/ऊ के उव् (पा० उवङ्) के सम्बन्ध में अन्तःपदसन्धि के नियम (अनु० ६७) लिट् में भी लागू होते है—जिस अनेकाच् अङ्ग में अन्तिम इ/ई से पूर्व

संयुक्त व्यञ्जन हों, अजादि प्रत्यय से पूर्व उस के इ/ई का इय् (पा० इयङ्) बनता है, परन्तु संयुक्त व्यञ्जन न होने पर य् बनता है; यथा—√श्रि "सहारा लेना" से शिश्रिये, √प्री "तृप्त करना" से पिप्रिये, परन्तु √जि "जीतना" से जिग्युः, √भी से बिभ्यतुः, बिभ्युः। अजादि प्रत्यय से पूर्व, अङ्ग के अन्तिम उ/ऊ का साधारणतया उव् (पा० उवङ्) बनता है; यथा—√यु "जोड़ना" से युयुवे, √श्रु से शुश्रुवे, √श्वि "फूलना" के संप्रसारण से बने शु (पाश्चात्य विद्वान् √शू) से शूशुवे, (ऋ०) √धू "हिलाना" से दुधुवे (अ०)। परन्तु √ह्वे के संप्रसारण से बने हु (पाश्चात्य विद्वान् √हू) से जुहुवुः (श० ब्रा०) तथा जुहुवे (ब्रा०) के अतिरिक्त जुह्वे (ऋ०) भी बनता है।

(ज) **व्यञ्जन-विकार**—लिट् में अभ्यास से परे आने वाला √चि "इकट्ठा करना", √चि "जानना", √चित् "जानना", √जि "जीतना", √हन् "मारना" और √हि "भेजना" का व्यञ्जन अपने मौलिक कण्ठ्य व्यञ्जन (दे० अनु० २५ख) में परिणत हो जाता है[२१५]; यथा—चिकाय, चिक्ये; चिकाय, चिक्युतुः; चिकेत; जिगाय; जघान; जिघाय (ब्रा०), जिघ्युः (ब्रा०)। वकारादि तथा मकारादि प्रत्ययों से पूर्व √गम् के म् का न् हो जाता है[२१६]; यथा—जगन्वान्, जगन्म (ऋ०)।

२५५. **लिट् में √कृ तथा √अस् का अनुप्रयोग**—वैदिकभाषा के मन्त्रभाग में ईकारादि तथा ऊकारादि धातुओं के अनेक रूप साधारणतया द्वित्व करके बनाये जाते हैं; यथा—√ईड् "स्तुति करना" से प्र० पु० ए० ईळे (ऋ०); √ईर् "प्रेरित करना" से प्र० पु० ब० ईरिरे (ऋ० में ३ बार एरिरे); ईशिरे ? (√ईश्, ऋ०); ईषे (√ईष्, ऋ०); ऊहे (√ऊह "विचार करना")। और मन्त्रभाग में केवल एक उदाहरण में √गम् के णिजन्त के साथ आम् प्रत्यय जोड़ कर लिट् में √कृ का अनुप्रयोग किया गया है—गमयां चकार (अ० १८,२,२७)।

सप्तमोऽध्यायः

पपा० में ये दो पृथक् पद माने गये हैं। उत्तरकालीन संहिताओं के ब्राह्मण-भाग में तथा ब्राह्मणग्रन्थों (विशेषतः श० ब्रा०) में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिन में ईकारादि, ऊकारादि, एकारादि, तथा कुछ अन्य धातुओं और णिच्, सन् इत्यादि गौणप्रत्ययों से युक्त धातुओं के अन्त में आम् प्रत्यय जोड़कर प्रायेण √कृ का और दो-तीन बार √अस् "होना" के लिट्-रूप का अनुप्रयोग किया जाता है[२१७]; यथा ई॒क्षां च॑क्रे (ब्रा०); ए॒धां च॑क्रिरे (श० ब्रा०); √आस् "बैठना" से आ॒सां च॑क्रे (ब्रा०); बि॒भ॒यां च॑कार (ब्रा०); √विद् "जानना" से वि॒दां च॑कार (ब्रा०, उप०, सू०); √हु "होम करना" से जु॒ह॒वां च॑कार (ब्रा०, उप०); √चि या √चाय् "जानना" से चायां चक्रुः (जै० ब्रा०); √व्ये "घेरना" से व्य॒यां च॑कार (श० ब्रा०); ईक्षामास (शां० श्रौ० सू०); जनयामास (श्वे० उप०); मन्त्रयामास (ऐ० ब्रा०)।

२५६. लिट् के रूप—

वैदिक भाषा में उपलब्ध लिट्-रूपों के आधार पर कुछ प्रतिनिधि धातुओं के लिट्-रूप नीचे चलाये गये हैं। कोष्ठकान्तर्गत रूप अनुपलब्ध हैं।

√धा "रखना"

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	द॒धौ	द॒धतुः	द॒धुः।
म० पु०	द॒धाथ	द॒धथुः	द॒ध।
उ० पु०	(द॒धौ)	(द॒धिव)	द॒धिम।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	द॒धे	द॒धाते	द॒धिरे।
म० पु०	द॒धिषे	द॒धाथे	द॒धिध्वे।
उ० पु०	द॒धे	(द॒धिवहे)	द॒धिमहे।

√नी "ले जाना"

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	निनाय	निन्यतुः	निन्युः ।
म० पु०	निनेथ	निन्यथुः	निन्य ।
उ० पु०	निनय	(निनीव)	निनीम ।

आत्मनेपद

प्र० पु०	निन्ये	निन्याते	निन्यिरे[२१८] ।
म० पु०	निनीषे	निन्याथे	निनीध्वे ।
उ० पु०	निन्ये	(निनीवहे)	निनीमहे ।

√स्तु "स्तुति करना"

परस्मैपद

प्र० पु०	तुष्टाव	तुष्टुवतुः	तुष्टुवुः ।
म० पु०	तुष्टोथ	तुष्टुवथुः	तुष्टुव ।
उ० पु०	तुष्टव	(तुष्टुव)	तुष्टुम ।

आत्मनेपद

प्र० पु०	तुष्टुवे	तुष्टुवाते	तुष्टुविरे ।
म० पु०	तुष्टुषे	तुष्टुवाथे	तुष्टुध्वे ।
उ० पु०	तुष्टुवे	(तुष्टुवहे)	तुष्टुमहे ।

√कृ "करना"

परस्मैपद

प्र० पु०	चकार	चक्रतुः	चक्रुः ।
म० पु०	चकर्थ	चक्रथुः	चक्र ।
उ० पु०	चकर, चकार	(चकृव)	चकृम।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	चक्रे ;	चक्राते ;	चक्रिरे ।
म० पु०	चकृषे ;	चक्राथे ;	चकृध्वे ।
उ० पु०	चक्रे ;	(चकृवहे) ;	चकृमहे ।

√मुच् "छोड़ना"

परस्मैपद

प्र० पु०	मुमोच ;	मुमुचतुः ;	मुमुचुः ।
म० पु०	मुमोचिथ ;	मुमुचथुः ;	मुमुच ।
उ० पु०	मुमोच ;	(मुमुच्व) ;	मुमुच्म ।

आत्मनेपद

प्र० पु०	मुमुचे ;	मुमुचाते ;	मुमुत्रे ।
म० पु०	मुमुक्षे ;	मुमुचाथे ;	मुमुचिध्वे[२१९] ।
उ० पु०	मुमुचे ;	(मुमुच्वहे) ;	मुमुच्महे ।

√तन् "फैलाना"

परस्मैपद

प्र० पु०	ततान ;	तेनतुः ;	तेनुः ।
म० पु०	ततन्थ ;	तेनथुः ;	तेन ।
उ० पु०	ततन ;	(तेनिव) ;	तेनिम ।

आत्मनेपद

प्र० पु०	तेने ;	तेनाते ;	तेनिरे ।
म० पु०	तेनिषे ;	तेनाथे ;	तेनिध्वे ।
उ० पु०	तेने ;	(तेनिवहे) ;	(तेनिमहे) ।

√गम् "जाना"

R. C. Anuragi

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	जगाम	जग्मतुः	जग्मुः।
म० पु०	जगन्थ	जग्मथुः	जग्म।
उ० पु०	जगम	(जगन्व)	जगन्म।

आत्मनेपद

प्र० पु०	जग्मे	जग्माते	जग्मिरे।
म० पु०	जग्मिषे	जग्माथे	जग्मिध्वे।
उ० पु०	जग्मे	(जगन्वहे)	जगन्महे।

√वच् "बोलना"

परस्मैपद

प्र० पु०	उवाच, ववाच (ऋ०)	ऊचतुः	ऊचुः।
म० पु०	उवक्थ (अ०)	ऊचथुः	ऊच।
उ० पु०	उवच	(ऊचिव)	ऊचिम।

आत्मनेपद

प्र० पु०	ऊचे	(ऊचाते)	ऊचिरे।
म० पु०	ऊचिषे, ववक्षे (ऋ०)	ऊचाथे	(ऊचिध्वे)।
उ० पु०	ऊचे	(ऊचिवहे)	(ऊचिमहे)।

अतिलिट् (Pluperfect)

२५७. (क) **नामकरण**—वैदिकभाषा में कुछ ऐसे आख्यात-रूप मिलते हैं जिन में लिट् के अङ्ग के समान धातु को द्वित्व होता है, और अभ्यास से पूर्व

अट् आगम और अङ्ग के साथ गौण प्रत्यय (अनु० २१२) जोड़े जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार के कुछ रूपों में जु० के लङ् या द्वित्वयुक्त लुङ् (अनु० २७२-२७३) का सन्देह होता है, तथापि कुछ रूप ऐसे हैं जिन में लिट् से बने अङ्ग की सत्ता को स्वीकार करना सम्भव है; यथा— अपेचिरन् (अ०), अजभरतन (ऋ०)। क्योंकि केवल लिट् के अङ्ग में √पच् का पेच् (अनु० २५४ग) और अभ्यास में √भृ के भ् का ज् (अनु० २५३.६) बनता है, इस लिये यह माना जा सकता है कि ये दोनों रूप लिट् के अङ्ग से ही बने है। परन्तु भारतीय व्याकरण में ऐसा कोई लकार नही है जिसमें लिट् के अङ्ग से पूर्व अट् आगम और अन्त मे गौण प्रत्यय जोड़े जाते हों। अत एव छान्दस विशेषता या निपातन द्वारा ही ऐसे रूपों का समाधान किया जाता है[२०]। ग्रीकभाषा में मिलने वाले आख्यात-रूपों की रचना के सादृश्य के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसे वैदिक रूपों के लिये Pluperfect संज्ञा का व्यवहार किया है, परन्तु सभी विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ग्रीक-भाषा के Pluperfect और वैदिकभाषा के तथाकथित Pluperfect में अर्थसाम्य नहीं है। हमने इस ग्रन्थ में Pluperfect के लिये अति-लिट् संज्ञा का प्रयोग किया है।

(ख) **अङ्ग तथा प्रत्यय**— लङ् के अङ्ग की भांति अतिलिट् के प० ए० का अङ्ग सशक्त (strong) अर्थात् प० ए० के प्रत्यय **पित्** (अनु० २१२) और शेष प्रत्यय **अपित्** अर्थात् अन्यत्र अशक्त (weak) अङ्ग प्रयुक्त होता है। लङ् की भांति अतिलिट् में गौण प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं और प० प्र० पु० ब० में उस् (टि० १४) तथा आ० प्र० पु० ब० में प्रायेण रन् या इरन् प्रत्यय मिलता है। परन्तु आ० में रम्, रन्त तथा अन्त प्रत्ययों के प्रयोग के उदाहरण भी मिलते हैं। कुछ रूपों में प० प्र० ए० के प्रत्यय त् तथा म० ए० के प्रत्यय स् से पूर्व ई (पा० ईट्—टि० १०९) आगम भी मिलता है; यथा— अजग्रभीत्, अबुभोजीः। इसी प्रकार कुछ रूपों में प्रत्यय से पूर्व अ आगम भी मिलता है; यथा— अचक्रत् (√कृ)।

(ग) **अडागम का लोप**—पाश्चात्य विद्वान् यह भी मानते हैं कि जिस प्रकार लङ् तथा लुङ् के कुछ रूपों में अट् आगम का लोप हो जाता है (अनु॰ २१४), उसी प्रकार अतिलिट् के कुछ रूपों में भी अडागम का लोप मिलता है; यथा– √कन् से चाकन् (म॰ पु॰ ए॰), √नम् से नुनमः (म॰ पु॰ ए॰), √स्तम्भ् से तुस्तम्भत्।

(घ) **अतिलिट् के रूप**— अनेक पूर्ववर्ती विद्वानों के मत का अनुसरण करते हुए[२२१], मैक्डानल निम्नलिखित वैदिक आख्यातों को अतिलिट् के रूप मानता है[२२२]।

परस्मैपद के रूप

प्र॰ पु॰ ए॰— अजगन् (√गम्), अचिकेत् (√चित्), रारन् (पपा॰ ररन्; √रन् "आनन्दित होना"); ईट्-सहित—अचुच्युवीत्, अजग्रभीत्, अरिरेचीत्, अवावरीत् (√वृ "आच्छादित करना"); अट्-सहित—अचक्रत्, अचिकितत् तथा अचिकेतत् (√चित), अदधावत्, अशुश्रवत् (मै॰ सं॰), असस्वजत्, चक्रदत्, जग्रभत् (वा॰ सं॰ ३२, २), तुस्तम्भत् (ऋ॰ १, १२१,३)।

प्र॰ पु॰ द्वि॰— अवावशीताम् (ऋ॰ १,१८१,३)[२२२क]।

प्र॰ पु॰ व॰— अचुच्यवुः, अशिश्रयुः (√श्रि), अशुश्रवुः (√श्रु), अबीभयुः (खिलसूक्त १,७,५)।

म॰ पु॰ ए॰— अजगन्, ऐयेः (ऋ॰ ५,२,८), चाकन्, नुनमः; ईट्-सहित—अबुभोजीः, अविवेशीः, अविवेषीः, जिहिंसीः (अ॰)।

म॰ पु॰ द्वि॰— अततंसतम्, अमुमुक्तम्, मुमुक्तम्।

म॰ पु॰ व॰— अजगन्त, अजगन्तन, अजभर्तन; ईट्-सहित— अचुच्युवीतन।

उ॰ पु॰ ए॰— अचचक्षम्; अजग्रभम् (अ॰), अतुष्टवम्, आपिप्रयम्। (तै॰ सं॰ ५,१,११,३; वा॰ सं॰ २६,७), चकरम्, चिकेतम् (√चित्), जग्रभम् (अ॰)।

आत्मनेपद के रूप

प्र० पु० ए०— दिदिष्ट (√दिश्)।

प्र० पु० व०— अचक्रिरन्, अजग्मिरन्, अपेचिरन् (अ०), अववृत्रन्, अववृत्रन्त, अससृग्रम् (√सृज्)।

अकारान्त अङ्ग वाले रूपों के समान रूप— अतित्विषन्त, अदद्दहन्त, अददंहन्त (तै० सं० ४,६,२,४), अवावशन्त (√वाश् "ध्वनि करना"), चकृपन्त, दधृपन्त (ऋ०), वावशन्त (√वाश्)।

म० पु० द्वि०— अपस्पृधेथाम् (ऋ० ६,६६,८)।

उ० पु० ए०— अशुश्रवि।

अन्य रूप— अवैरी (टि० २२१) ने आशिश्रेत्, विविदत्, अममन्दुः तथा अवावचीत्[223] भी अतिलिट् के रूप माने हैं। वैनफी (टि० २२१) के अनुसार, अदुद्रोत् (ऋ०), आनर्षत् (तै० आ० २,९), तथा आनर्च्छत् (महाभारत) भी अतिलिट् के रूप हैं। उत्तरकालीन संस्कृत के अररक्षत्, अचस्कन्दत् इत्यादि रूप भी डैल्ब्रिक (टि० २२१) के अनुसार, लुङ् के नहीं अपितु अतिलिट् के ही है। ह्विटने के मतानुसार (टि० २२१), निम्नलिखित रूप भी अतिलिट् के हैं— सुषुप्थाः (ब्रा०, सू०), दुधर्षीत् (√धृष्), अपिप्रत (ऋ० √पृ "भरना")[224], वावृधन्त (पपा० ववृधन्त), जुहुरन्त[224]।

(ङ) जु० के लङ् और द्वित्वयुक्त लुङ् से अतिलिट् का भेद—अतिलिट् के अनेक रूपों में जु० के लङ् और कुछ रूपों में द्वित्वयुक्त लुङ् का सन्देह होता है। जु० के लङ् और द्वित्वयुक्त लुङ् के रूपों से अतिलिट् के रूपों के भेद पर विचार करते हुए, मैक्डानल (Ved. Gr., p. 364) कहता है— "जु० के लङ् और द्वित्वयुक्त लुङ् से अतिलिट् का भेद करना कुछ कठिन है। यद्यपि अतिलिट् का अर्थ वही है जो जु० के लङ् का है, तथापि (दोनों प्रकार के रूपों में द्वित्व-विषयक साम्य होने पर) अतिलिट् के रूपों का वैशिष्ट्य इस तथ्य से प्रकट

होता है कि इस रूप के धातु से जु० के लट् आदि में कोई रूप नहीं बनता है। इसके विपरीत, अर्थ की सहायता से अतिलिट् और द्वित्वयुक्त लुङ् का भेद स्पष्ट होता है जब दोनों लकारों में द्वित्व-विषयक साम्य हो।" ह्विटने का भी यही मत है कि अतिलिट् और द्वित्व-युक्त लुङ् के अर्थ का भेद इन दोनों के पृथक्-करण में सहायक है[२२५]। आधुनिक विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते है कि अर्थ की दृष्टि से लङ् तथा अतिलिट् में कोई निश्चित भेद नहीं है और इन दोनों का अर्थ लगभग समान है[२२६]; यथा— **अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन** (ऋ० १०,७२,७) "(हे देवो!) तुम समुद्र में छुपे हुए सूर्य को लाये।"

(च) **अतिलिट् के सम्बन्ध में मतभेद**— जैसा कि अवैरी (पृ० २२८) ने लिखा है, अतिलिट् सर्वमान्य नही है। इस के थोड़े से रूपों को छोड़ कर शेष रूपों के विषय में अनेक मतभेद है। ग्रासमैन (WZR.) **अजगन्, अचिकेत्, अमुमुक्तम्, मुमुक्तम्** (अडागम-रहित), **अजगन्त, अजगन्तन, अजग्मिरन्, अववृत्रन्,** तथा **अववृत्रन्त** को (जु० के) लङ् के, **अजग्रभीत्, अचक्रत्, अचिकितन, अदुद्रावत्, चक्रदत्, अशुश्रवुः, ननमः, अततंसतम्, चक्रम्, अचक्रिरन्, अतिविषन्त, अदहन्त, चकृपन्त,** तथा **अपस्पृधेथाम्** को लुङ् के; **अवावशन्त,** तथा **वावशन्त** को यङ्लुगन्त के लुङ् के रूप मानता है। अवैरी तथा ग्रासमैन **चाकन्** और **रारन्** को यङ्लुगन्त लेट् मानते है (दे० अनु० ३०३ख)। ह्विटने अतिलिट् में गिनाये जाने वाले **अदुद्रावत्, अशुश्रवत्, अचुच्यवीत्, अचुच्यवुः, अशिश्रयुः अशुश्रवुः, अतुष्टवम्** को लुङ् के रूप मानता है[२२७]। बैनफी तथा डैल्ब्रिक **ऐयेः** को √इ "जाना" का अतिलिट् मानते है; रोट तथा ग्रासमैन के मतानुसार, यह √ईष् का लुङ् है; और ह्विटने (Roots) इसे √ईष् या √एष् "जाना" का अतिलिट् समझता है। डैल्ब्रिक (Alt. V., pp. 111,122) के मतानुसार, **नेशत्** (ऋ० ४,१,१७)

अतिलिट् का रूप है, परन्तु ग्रासमैन, ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति विद्वान् इसे लुङ् का रूप मानते हैं। डैल्ब्रिक, ग्रासमैन तथा ह्विटने प्रभृति विद्वान् यह स्वीकार करते है कि अनेक आख्यात रूप संदिग्ध हैं और उन्हें निश्चयपूर्वक अतिलिट्, लुङ्, या जु० लङ् के रूपों में नही गिनाया जा सकता। ऐसे अनेक रूपों में यङ्लुगन्त के लङ् का भी सन्देह होता है। (दे० अनु० ३०२)।

(छ) **भारतीय मत**— भारतीय वैयाकरणों तथा भाष्यकारों के मतानुसार, अतिलिट् में गिनाये गये उपर्युक्त रूपों में से अधिकतर रूप जु० लङ् के हैं, कुछ यङ्लुगन्त लङ् के हैं और कुछ रूप णिजन्त धातुओं से द्वित्वयुक्त लुङ् के हैं। ऋ० के सायणभाष्य के अनुसार निम्नलिखित रूपों का व्याख्यान इस प्रकार है—

जु० लङ्— अजगन्, अशिश्रेत्, अचुच्यवु., अशिश्रयुः, अबुभोजीः, अमुमुक्तम्, अजगन्त, अचुच्यवीतन, अववृत्रन्, अससृग्रम्।

लुङ्— ननमः, अततंसतम्, अतुष्टवम्, चकृपन्त।

यङ्लुगन्त लङ्— चाकन्, अविवेशीः, वावशन्त। रारन्= (पपा० ररन्) √रा "देना"+जु० लेट् प्र० पु० व०। ऐयेः=√इ "जाना"+दि० लङ् म० पु० ए०। अवावचीत्=√वच् "बोलना"+यङ्लुगन्त लुङ् प्र० पु० ए०।

लिड्वर्ग के क्रियाप्रकारवाचक लकार (Moods)

२५८. पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार, जिस प्रकार लड्वर्ग के अङ्ग से लेट्, लोट्, विलि० के रूप वनते है उसी प्रकार लिड्वर्ग के अङ्ग से भी इन लकारों के रूप वनते है। लिड्वर्ग के अङ्ग से बने हुए इन लकारों के रूप प्रायेण ऋ० में ही मिलते हैं। इन लकारों की रूप-रचना तथा रूपों की परिगणना के विषय में आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ कहा है उसका सारांश निम्नलिखित है।

२५९. (क) **लेट् के अङ्ग और प्रत्यय**— लिड्वर्ग के अङ्ग से लेट् के रूप वनाने के लिये सामान्यतः शक्ताङ्ग (Strong stem) के साथ अडागम

जोड़ कर प्रायेण **गौण** प्रत्यय जोड़े जाते हैं (अनु० २१७), और धातु के स्वर पर उदात्त रहता है; यथा— जभरत् (√भृ) । प० के कुछ रूपों में और आ० के अधिकतर रूपों में मूल प्रत्ययों (अनु० २१२-१३) का प्रयोग मिलता है, और प० के ऐसे मूल प्रत्ययों से पूर्व अङ्ग के **अभ्यास** पर उदात्त रहता है (जैसा कि साधारणतया जु० के रूपों में रहता है); यथा— जुजोषति। ऋ० में आ० के जुजोषते के अभ्यास पर उदात्त है, परन्तु सा० में जुजोषते के धातु पर उदात्त है । लगभग एक दर्जन रूपों में **अशक्ताङ्ग** (Weak stem) और गौण प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है; यथा— मुमुचः (म० पु० ए०), दधृषन्त (ऋ०, प्र० पु० ब०) । लेट् के कुछेक रूपों में अङ्ग के साथ आडागम (टि० ३४) जोड़ा जाता है; यथा— पपृचासि, वावृधाति ।

(ख) **लेट् के उपलब्ध रूप**— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार[२२८], लिड्वर्ग के अङ्ग से बने हुए लेट् के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते है।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— चक्रदत् (√क्रन्द्), चाकनत् (√कन्), चिकेतत् (√चित्), चिकेतति, चाक्लृपत् (अ०), जघनत्, जजनत् (मै० सं०), जभरत्, जुगुरत्, (√गुर्), जूजुवत् (√जू), जुजोषत्, जुजोषति, ततनत्, तुष्टवत् (√स्तु), ददाशत् (√दाश्), ददाशति, दुधनत् (√धन् "भागना"), दुधर्षत् (√धृष्), दुधर्षति, आ+दिदेशति, दीदयत् (√दी "चमकना"), दीदयति, पप्रथत्, पस्पर्शत्, पिप्रयत् (√प्री "प्रसन्न करना"), बुबोधति, ममदत् (अ० √मद् "हृष्ट होना"), ममन्दत् (√मन्द् "हृष्ट होना"), मुमुचत्, मुमुरत् (√मृ 'कुचलना"), मुमोचत्, मुमोचति, रारणत्, (पपा० ररणत्), ववर्तत् (√वृत्), ववर्तति, ववृतत्, वावनत् (√वन् "जीतना", तै० सं० २,४,५,१), विविदत्, शुश्रवत् (√श्रु), शूशुवत् (√श्वि, टि० २१३), सासहत् (पपा० ससहत्), सुषूदत् (√सूद्)।

सप्तमोऽध्यायः

प्र० पु० ब०— जुजुषन्, जुजोषन्, ततनन्, पप्रथन्, ममदन्।

म० पु० ए० - चक्रदः (√क्रन्द्), चाकनः, चिकितः (√चित्), जुजोषः, जुजोषसि, ततनः, ददाशः, दीदयः, दीदयसि, पपृचासि, पप्रथः, पिप्रयः, बुबोधः, ममदः, मामहः, मुमुचः, रारणः (पपा० ररणः), सासहः (पपा० ससहः), सुपूदः।

म० पु० द्वि०—चिकेतथः, जुजोषथः, निनीथः (√नी, ऋ० १,१८१,१)।

म० पु० ब०— जुजोषथ, बुबोधथ।

उ० पु० ए०— अनजा (पपा० अनज, ऋ० ५,५४,१)—मैक्डानल; परन्तु सायण—"प्रापय" (म० पु० ए०)। ग्रासमैन (WZR., s.v.), अवैरी (पृ० २५१) तथा डैल्ब्रिक (Alt. V., p. 126) के अनुसार, लिट् म० पु० ब० का रूप है।

उ० पु० ब०— चाकनाम, ततनाम, शूशवाम (√शिव, टि० २१३)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— जुजोषते (सा० जुजोषते), ततपते, दधृषते, युयोजते, वावृधते, शशमते (√शम् "परिश्रम करना")।

प्र० पु० ब०— चक्रमन्त, चाकनन्त, ततनन्त, दधृषन्त, मामहन्त, रुरुचन्त।

(ग) **व्याख्यान-विषयक मतभेद**— जु०, यङ्लुगन्त और द्वित्वयुक्त लुङ् के अङ्ग से बनने वाले लेट् के रूपों में और लिड्वर्ग के अङ्ग से बने लेट् के रूपों में सर्वत्र भेद करना कठिन है। अडागम-रहित अतिलिट् और लिड्वर्ग के अङ्ग से बने लेट् के रूपों में भी एक दूसरे का सन्देह होता है। इसलिये ऐसे अनेक रूपों के व्याख्यान के सम्बन्ध में मतभेद मिलता है। कुछेक प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है।

परस्मैपद

चक्रदत् तथा चक्रदः—लि० से लेट् (Avery, p. 252); अतिलिट् (Skt. Gr., p. 295; Roots; Ved. Gr., p. 364; Ved. Gr.

Stu; p. 376.) । अवैरी (पृ० २५३) के अनुसार अतिलिट् में भी चक्रदत् का प्रयोग मिलत है । ग्रासमैन (WZR; *s.v.* √Krand) के अनुसार, ये दोनों लुङ् के रूप है ।

चाकनत्, चाकनः, चाकनाम, चाकनन्त— अवैरी (pp. 270-71) तथा ग्रासमैन (WZR; *s v.*, Kan) के मतानुसार ये पद यङ्लुगन्त लेट् के रूप हैं (दे० अनु० ३०३ख) ।

तुस्तम्भत्—(ऋ० १,१२१,३)—लि० से लेट् (WZR; *s.v.* √Stambh; Alt. V., p. 194); अतिलिट् (Avery, p. 253; Ved. Gr., p. 364; Ved. Gr. Stu., p. 158) ।

तुष्टवत् — (ऋ० ८,८,१६)— लि० से लेट् (Alt, V. p. 195; Avery, p. 252; Ved. Gr, p. 360; Ved. Gr Stu, p. 156); लु० से लेट् (Skt. Gr., p. 312; Roots, *s.v.* √1 Stu) । ग्रासमैन (WZR., *s.v.* √Stu) के अनुसार, यह रूप लि० या लु० के अङ्ग से बना लेट् है ।

दधर्षत्— लि० से लेट् (Avery, p. 252; WZR., *s.v.* √dhṛṣ); अतिलिट् (Skt. Gr., p. 295); अतिलिट् से वि० मू० (Ved. Gr., p. 361)

दूधोत्— लि० से लेट् (Avery, p. 252; WZR., *s.v.* √dhū); अतिलिट् (Alt. V., p. 136); अतिलिट् से वि० मू० (Ved. Gr., p. 361; Ved. Gr. Stu., p. 156).

नेशत्— लि० से लेट् (Avery, p. 252); लु० से वि० मू० (Ved. Gr., p. 376; Ved. Gr. Stu., p. 395).

रारणत्, रारणः— अवैरी तथा ग्रासमैन के मतानुसार ये यङ्लुगन्त लेट् के रूप है (अनु० ३०३ख) ।

विविदत् (ऋ० ७,२१,६)— लि० से लेट् (WZR., *s.v.* √1 Vid; Skt. Gr., p. 293; Ved. Gr, p. 360); अतिलिट् (Avery, p. 253; Alt. V., P. 128).

सप्तमोऽध्यायः

सुस्वः (ऋ० १,८८,५)— लि० से लेट् (Avery, p. 25?; WZR, *s.v.* √Svar); अतिलिट् से वि० मू० (Ved. Gr., p. 361).

सिषेत् (ऋ० ८,६७,८)— लि० से लेट् (Avery, p. 252; Alt. V., p. 128); अतिलिट् से वि० मू० (Ved. Gr., p. 361); लु० से वि० मू० (WZR, *s.v.* √1. Si; Skt. Gr., p. 312).

आत्मनेपद

अनशामहै (ऋ० ८,२७,२२)— √अश् "प्राप्त करना" के लि० से लेट् (MWD, *s.v.* √अश् १; Skt. Gr., p. 282; Roots, *s.v.* √1 aś, aṅś); √अंश् "प्राप्त करना" के लि० से लेट् (Ved. Gr., pp. 361, 438; Ved. Gr. Stu., pp. 156,369); √अंश् "प्राप्त करना" से रुधा० में लेट् (Alt. V., p. 194; Avery, p. 238)। ग्रासमैन इस पद का नशामहै पाठ (तु० Alt. V., p. 160), स्वीकार करता है, और इसे √नश् "प्राप्त करना" के लेट् का रूप मानता है (WZR., *s.v.* √2. naś).

ततपंते (ऋ० ४,२,६)— लि० से लेट् (Skt. Gr., p. 293; Roots, *s.v.* √tap; Ved. Gr., p. 361; Ved. Gr. Stu., p. 156), लु० से लेट् (WZR., *s.v.* √tap; Avery, p. 267; MWD., *s.v.* √तप् २).

शश्वचै (ऋ० ३,३३,१०)— √श्वञ्च् "फैलाना" के लि० से लेट् उ० पु० ए० (Ved. Gr., p. 361; Ved. Gr. Stu., p. 425); लु० से लेट् (Skt. Gr., p. 312; Roots, *s.v.* √śvañc); लु० (WZR., *s.v.* √śvañc; Ved. Gr., p. 361 f.n. 3); जु० में लेट् (Avery, p. 237). सायण के मतानुसार यह सुबन्त पद है।

२६०. **अतिलिट् के विधिमूलक (Injunctive) लकार के रूप**— मैक्डानल के मतानुसार[२२९], वैदिकभाषा में लगभग एक दर्जन ऐसे रूप मिलते है जो अडागमरहित अतिलिट् के समान हैं और जिन्हें अतिलिट् के अङ्ग से बने वि० मू० के रूप माना जा सकता है; यथा—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— दूधर्षीत्, दूधोत् (√धू "हिलान"), सिषेत् (√सि "बान्धना"), सुस्रोत् (√स्रु "बहना", ऋ० १०,१०१,८), सस्वः (√स्वृ "शब्द करना"); म० पु० ए०—शशाः (√शास्, ऋ० १ ८०,१)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ब०— चक्रमन्त, चाकनन्त, ततनन्त, ददभन्त, पप्रथन्त, मामहन्त, रुरुचन्त, वावृधन्त, विव्यचन्त।

भारतीय विद्वानों के मतानुसार तो इन रूपों का व्याख्यान सर्वथा भिन्न है ही, पाश्चात्य विद्वानों में भी उपर्युक्त रूपों के व्याख्यान के विषय में अनेक मतभेद है [दे० अनु० २५६(ख), (ग) तथा २५७(घ), (च)]।

२६१. (क) **लिट् से लोट् के रूप**— अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार[२३०], लिड्वर्ग के अङ्ग से बने हुए लोट् के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि ऐसे अधिकतर रूपों की रचना जु० के लोट् के रूपों (अनु० २४०) के समान ही होती है। परन्तु कुछ रूपों में इस का अपवाद मिलता है और इन के अङ्ग के अन्त में, अकारान्त अङ्ग के रूपों की भांति, अकार मिलता है; यथा— जुजोषतम्, मुमोचतम्, रारणता, मामहस्व।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— चाकन्तु[२३१], दिदेष्टु (ऋ० ७,४०,२), बभूतु (ऋ० १, १२७,१०), ममत्तु (√मद्), मुमोक्त, रारन्तु (पपा० ररन्तु, ऋ० ३,४२,८)।

म० पु० ए०— चाकन्धि (ऋ० १०,१४७,३), चिकिद्धि, तितिग्धि (√तिज्, अा०), दिदिड्ढि (√दिश्), पिप्रीहि (√प्री), ममद्धि (√मद्), मुमुग्धि (√मुच्), रारन्धि (पपा० ररन्धि), शशाधि (√शास्), शुशुग्धि (√शुच्, ऋ० १,९७,१)।

म० पु० द्वि०— जजस्तम् (√जस्), जुजोपतम्, मुमुक्तम्, मुमोचं-तम्, ववृक्तम् (√वृज्)।

म० पु० व०— जुजुष्टन (जुष्), दिदिष्टन (√दिश्), ममत्तन (√मद्), मुमोचत, रराणता (ऋ० १,१७१,१), ववृत्तन (√वृत्)।

आत्मनेपद

म० पु० ए०— दधिष्व (√धा), पिप्रयस्व, मामहस्व (पपा० ममहस्व), मिमिक्ष्व (√मिह्, ऋ० १,४८,१६), ववृत्स्व वावृधस्व (पपा० ववृधस्व), वावृपस्व (पपा० ववृपस्व)।

म० पु० व०— दधिध्वम् (√धा) ववृद्ध्वम् (ऋ० ८,२०,१८; लिखित पाठ- ववृध्वम्)।

प्र० पु० व०— दद्दश्राम् (√दश्; अ० १२,३,३३); मामहन्ताम्।

(ख) व्याख्यान-विषयक मतभेद— लि० से बने लोट् के रूपों के सम्बन्ध मे भी पाश्चात्य विद्वानों में पूर्ण मतैक्य नही है और अनेक मतभेद भी मिलते है।

परस्मैपद

चाकन्तु तथा चाकन्धि— लिट् से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Roots, p. 17; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 374); यङ्-लुगन्त से लोट् (WZR., *s.v.* √Kan; Avery, p. 271; Alt. V., p. 132).

जुजोपतम् तथा जुजुष्टन— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Roots, p. 54; Ved. Gr., p. 362; Ved Gr. Stu., p. 384); जु० लोट् (WZR., √Juṣ; Avery, pp. 244–45; Alt. V., p. 108).

दिदेष्टु, दिदिड्ढि तथा दिदिष्टन—लि० से लोट् (Ved' Gr., p. 362) जु० लोट् (WZR., √diś; Avery, pp. 242-43; Roots, p. 73).

ममत्तु, ममद्धि तथा ममत्तन— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294;

Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 404); जु० लोट् (Roots, p. 118; WZR., *s.v.* √mad; Avery, pp. 242-43,245).

मुमोक्तु, मुमुग्धि, मुमुक्तम्, मुमोचतम् तथा मुमोचत— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Roots, p. 122; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 406); जु० लोट् (WZR., √muc; Avery, pp. 242ff).

रराणता— लि० से लोट् (Avery, p. 253; Ved. Gr., p. 362); लि० से लेट् (WZR., *s.v.* √ran; Ved. Gr., p. 362 f. n. 10; Ved. Gr. Stu., p. 411)[२३२].

ररन्तु तथा ररन्धि— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Roots, p. 135; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 411); यङ्-लुगन्त से लोट् (WZR., *s.v.* √ran; Avery, p. 271; Alt. V., p. 132); दे० अनु० ३०३।

ववृत्तन— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294, Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 157); जु० लोट् (WZR., √vṛt); लुङ् से लोट् (Avery, p. 268).

शशाधि— लि० से लोट् (Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 157; Roots, p. 172; WZR., √śās); जु० लोट् (Avery, p.242).

आत्मनेपद

दधिष्व तथा दधिध्वम्— लि० से लोट् (Avery, p. 253; Alt. V., p. 106; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 392; Roots, p. 82); जु० लोट् (WZR., √dhā).

पिप्रयस्व—लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Roots, p. 102; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 400); लुङ् से लोट् (WZR., √prī); जु० लोट् (Avery, p. 242).

मामहस्व तथा मामहन्ताम्—लि० से लोट् (Avery, p. 253; Skt. Gr., p. 294; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 403); यङ्लुगन्त से लोट् (WZR., √mah).

मिमिक्ष्व—लि० से लोट् (Avery, p. 253; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 405–√mikṣ; MWD., √मिक्ष्); जु० लोट् (Roots, p. 120 –√mikṣ; WZR., √mih).

ववृत्स्व तथा ववृद्ध्वम्— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 157); जु० लोट् (WZR., √vṛt; Avery, pp. 242, 245; Alt. V., p. 108; Roots, p. 164).

वावृधस्व— लि० से लोट् (Skt. Gr., p. 294; Roots, p. 164; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 421; Avery, p. 253); णिजन्त के लुङ् से लोट् (WZR., √vṛdh).

वावृषस्व— लि० से लोट् (Avery, p. 253; Skt. Gr., p. 294; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 421; Roots, p. 165); जु० लोट् (WZR., √vṛṣ).

२६२. (क) **लिट् से विधिलिङ् के रूप**— अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार[२१३], लिड्वर्ग के अङ्ग से बने हुए विधिलिङ् के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं। अशक्ताङ्ग (weak stem) के पश्चात् सोदात्त आगम (या/ईय्— अनु० २१९) के साथ प्रत्यय जोड़ कर विलि० के रूप बनाये जाते हैं। परस्मैपद के उपलब्ध रूप आत्मनेपद के रूपों के दुगुने से भी अधिक हैं।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अनज्यात्, चच्छद्यात्, जक्षीयात् (√घस् "खाना"), जगम्यात्, जगायात् (√गा "जाना"), चाकन्यात्, जगृभ्यात्, जुगुर्यात्, (√गुर्), तुतुज्यात्, तुतुर्यात् (√तुर्/√तॄ), निनीयात्, पपत्यात् (अ०), पपीयात् (√पा "पीना"), पपृच्यात्,

बभूयात्, ममन्यात्, रिरिच्यात्, ववृत्यात्, ससह्यात् (अ०), ससृज्यात्, सासह्यात् (पपा० ससह्यात्)।

प्र० पु० ब०— जगम्युः, ततन्युः, दधन्युः (√धन् "भागना"), ममृड्युः, ववृज्युः, ववृत्युः।

म० पु० ए०— चक्रियाः, जुगुर्याः, पुपुष्याः, पुपूर्याः (√पॄ "भरना"), बभूयाः, रुरुच्याः, ववृत्याः, विविश्याः, शुश्रूयाः (पपा० शुश्रुयाः ऋ० ८,४५,१८)।

म० पु० द्वि०— जगम्यातम्, शुश्रूयातम् (पपा० शुश्रुयातम्)।

उ० पु० ए०— आनश्याम्, जगम्याम्, पपृच्याम्, रिरिच्याम्, ववृत्याम्।

उ० पु० ब०— तुतुर्याम, ववृत्याम, शूशुयाम, सासह्याम (पपा० ससह्याम)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— जग्रसीत, दुधुवीत, मामृजीत (पपा० ममृजीत), ववृतीत, शिश्रीत, शुशुचीत।

म० पु० ए०— चक्षमीथाः, वावृधीथाः (पपा० ववृधीथाः)।

उ० पु० ए० – ववृतीय; ब०— ववृतीमहि।

(ख) **व्याख्यान-विषयक मतभेद**— उपर्युक्त रूपों में से बहुत से रूपों के व्याख्यान के विषय में मतभेद मिलता है। मुख्य भेद यही है कि कतिपय विद्वान् इन्हे लिट् से बने विलि० के रूप न मान कर जु० विलि० के रूप मानते है। ग्रासमैन तथा अवैरी निम्नलिखित धातुओं से बने उपर्युक्त विलि० के रूपों को जु० के रूप मानते हैं— √गम् (जगम्यात् इत्यादि), √गुर् (जुगुर्यात् इत्यादि), √तुर् (तुतुर्यात् इत्यादि; WZR., tar, tir, tur), √धन् (दधन्युः), √पृच् (पपृच्यात् इत्यादि), √मन् (ममन्यात्)[२३४]। अवैरी (पृ० २४१) के मतानुसार, चक्रियाः तथा जगायात् भी जु० के रूप हैं। ग्रासमैन चक्रियाः को लुङ् के अङ्ग से बना विलि० का रूप मानता है। ग्रासमैन

(WZR. √vṛt) तथा ह्विटने (Roots, p. 164) के मतानुसार, √वृत् से बनने वाले उपर्युक्त विलि० रूप (<u>ववृत्यात्</u> इत्यादि) जु० के है। परन्तु रोट (SPW. √vṛt) तथा अवैरी (पृ० २६८) के मतानुसार, √वृत् से बने हुए उपर्युक्त रूप णिजन्त धातु के लुङ् के अङ्ग से बनते है। ग्रासमैन <u>चाकन्यात्</u> (ऋ०) को यङ्लुगन्त विलि० मानता है (अनु० ३०३ग)।

ग) **लिट् से आलि०**— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, <u>सासहिष्ठाः</u> (√सह् ; ऋ० ६, ४५,१८; पपा० <u>ससहिष्ठाः</u>) लिट् के अङ्ग से बना आलि० का रूप है। ह्विटने पहले (Skt. Gr., pp. 294,312) <u>रिरिषीष्ट</u> को लिट् का आलि० मानता है, परन्तु पीछे (Roots, √riṣ) इसे चङ्-लुङ् का आलि० समझता है (दे० अनु० २७३)।

२६३. **लिट् के लेट्, लोट् तथा विलि० के विषय में भारतीय मत—** लिड्वर्ग के अङ्ग से लेट्, लोट् तथा विलि० के जिन रूपों की रचना मानी जाती है उन के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के मतभेद का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इस मतभेद से एक बात पूर्णतया स्पष्ट है कि बहुत थोड़े रूपों के सम्बन्ध में मतैक्य है और अधिकतर ऐसे रूपों का व्याख्यान विवादास्पद है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए डैल्ब्रिक (Alt. V., pp. 135–36) ने ऐसे विवादास्पद रूपों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षक के अधीन किया है—"जो रूप निश्चयपूर्वक किसी लकार में नहीं रक्खे जा सकते"। और वह स्वीकार करता है कि ऐसे रूपों को किसी एक लकार में रखने का कोई निश्चित आधार नहीं है और लिट् या जु० के अङ्ग से इन की रचना मानी जा सकती है।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने लेट्, लोट् तथा विधिलिङ् के उपर्युक्त रूपों में से अधिकतर रूपों का व्याख्यान जु० के आधार पर किया है। जु० के अनुसार ऐसे रूपों का समाधान करने के लिये भारतीय विद्वान् प्रायेण पाणिनीय सूत्र "बहुलं छन्दसि" (२,४,७६)

का सहारा लेते है। लेट् तथा लोट् के उपर्युक्त रूपों में से जजनंत् तथा दुधनंत् के अतिरिक्त, जो जु० के हैं, ममत्तु तथा रारन्धि का व्याख्यान इसी आधार पर काशिका में किया गया है[२३५]। सायण ने भी अधिकतर उपर्युक्त रूपों का समाधान जु० के आधार पर किया है और प्रायेण " 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः" या " 'बहुलं छन्दसि' इति शपः श्लु." यही व्याख्यान दिया है; कही-कही "छान्दसो विकरणस्य श्लुः" या "छान्दसः शपः श्लुः" यह व्याख्यान भी दिया गया है। सायण के मतानुसार, उपर्युक्त रूपों में से कुछेक रूप यङ्-लुगन्त के और कुछ चङ्युक्त लुङ् के है।

यङ्लुगन्त— चाकनंत्, चाकनाम, चाकन्धि, मामहस्व, रारन्तु।

चङ्युक्त लुङ्— जूजुवत्, ततनंत्. तस्तम्भत्, ननमः, पप्रथत्, पप्रथन्, मुमुचः, ववर्तत्। सायणभाष्य में कुछेक शब्दों के दो व्याख्यान मिलते हैं; यथा— ऋ० १,१०,५ के सायणभाष्य के अनुसार रारणत् √रण् के यङ्लुगन्त से बना लेट् है, परन्तु ऋ० १,९१,१४ के सायणभाष्य में यह जु० लेट् माना गया है। इसी प्रकार ऋ० १,४३, ३ के सायणभाष्य मे चिकेतति जु० लेट् और ऋ० ८,२६,१४ के सायणभाष्य मे यङ्लुगन्त का लेट् माना गया है। चाकन्तु (टि० २३१) के विषय में सायण कहता है कि यह जु० ("छान्दसः शपः श्लुः") या यङ्लुगन्त का रूप है। सायण के मतानुसार, चक्षमीथाः (ऋ० २, ३३,७), दुधर्षीत् (ऋ० ४,४,३), तथा शशाः (ऋ० १,८०,१) जु० लङ् के रूप है।

पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार, √जन्, √तुर् तथा √धन् जु० के धातु है। इस लिये इन धातुओ से बने उपर्युक्त रूपों को जु० के मानना समीचीन है। लिड्वर्ग के अङ्ग के आधार पर उपर्युक्त रूपों का व्याख्यान करना अनावश्यक है और जु० को आधार मानना अधिक सरल है। कहीं-कहीं अर्थ के अनुसार, यङ्लुगन्त के आधार पर भी व्याख्यान किया जा सकता है। इन रूपों में लिड्वर्ग के अङ्ग की दुरूह

कल्पना करने से कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं होता है और इतने अधिक अपवाद शेष रहते हैं कि उन में वैदिक वैशिष्ट्य (सायण आदि के अनुसार 'छान्दसत्व'') के अतिरिक्त कोई आधार नहीं मिलता है। जु० का आधार लेने पर भी हमें बहुत से रूपों में वैदिक वैशिष्ट्य का सहारा अवश्य लेना पड़ेगा, परन्तु लिड्वर्ग के अङ्ग की एक निराधार कल्पना से बच जायेंगे।

लुङ्वर्ग के अङ्ग से आख्यातरूप

२६४. संहिताओं में लुङ् का प्रचुर प्रयोग मिलता है। ऋ० में प्रयुक्त होने वाले लगभग आधे धातुओं से लुङ् के रूप उपलब्ध होते हैं। वैदिक-भाषा में लगभग ४५० धातुओं से बने लुङ् के रूप मिलते हैं। उत्तरोत्तर लुङ् का प्रयोग घटता गया है और लौकिक संस्कृत में इस का प्रयोग बहुत ही कम है।

लुङ् के अङ्ग— लुङ् के रूप सात विशिष्ट अङ्गों से बनते हैं और पाश्चात्य विद्वानों ने इन विशिष्ट अङ्गों के अनुसार लुङ् के भेदों का नामकरण इस प्रकार किया है - (१) Root-Aorist; (२) a-Aorist; (३) Reduplicated Aorist; (४) s-Aorist; (५) iṣ-Aorist; (६) siṣ-Aorist; (७) sa-Aorist. लगभग सभी आधुनिक विद्वानों ने इन के नामकरण का उपर्युक्त क्रम स्वीकार किया है और इसी क्रम से लुङ् के रूपों की परिगणना की है। मैक्डानल ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ (Vedic Grammar) में उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही लुङ् के भेदों का व्याख्यान किया है, परन्तु उत्तरवर्ती ग्रन्थ (Vedic Grammar for Students) में उपर्युक्त क्रम के स्थान पर निम्नलिखित क्रम अपनाया है— (१) sa-Aorist; (२) s-Aorist; (३) iṣ-Aorist; (४) siṣ-Aorist; (५) a-Aorist; (६) Root-Aorist; (७) Reduplicated Aorist. मैक्डानल ने इस नये क्रम के पक्ष में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया है और न ही यह तर्क-संगत प्रतीत होता है। हम इस ग्रन्थ में पूर्वोक्त बहु-सम्मत क्रम के अनुसार लुङ् के रूपों का व्याख्यान करेंगे। पूर्वोक्त क्रम के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय लुङ्भेद सकार-रहित

(Non-sigmatic) और शेष चार भेद सकार-सहित (Sigmatic) कहलाते हैं। पाणिनीय व्याकरण में विहित प्रत्ययों के अनुसार, हमने इन भेदों के लिये निम्नलिखित नाम निर्धारित किये हैं और इस ग्रन्थ में इन्हीं नामों का प्रयोग किया जायगा— (१) विकरणलुग्-लुङ् (Root-Aorist); (२) अङ्-लुङ् (a-Aorist); (३) चङ्-लुङ् (Reduplicated Aorist); (४) अनिट्-सिज्लुङ् (s-Aorist); (५) सेट्-सिज्लुङ् (iṣ-Aorist); (६) सक्-सेट्-सिज्लुङ् (siṣ-Aorist); (७) क्स-लुङ् (sa-Aorist)। यहां पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वैदिक भाषा में लगभग २५० धातुओं के रूप सकार-रहित लुङ् में और लगभग २०० धातुओं के रूप सकार-सहित लुङ् में बनते है। लगभग ५० धातुओं के रूप लुङ् के अनेक भेदों में उपलब्ध होते है और √बुध् "जागना" के रूप लुङ् के पांच विभिन्न अङ्गों से बनते है; यथा— अबोधि, बुधन्त, अबूबुधत्, अभुत्सि, बोधिषत्।

लुङ के प्रत्यय— लुङ् में केवल गौण-प्रत्ययों (अनु० २१२-१३) का प्रयोग होता है। परस्मैपद में सिच् से परे प्र० पु० व० में गौण-प्रत्यय अन् के स्थान पर उस् का प्रयोग किया जाता है (टि० १४) और आकारान्त धातुओं से परे सिच् का लुक् होने पर भी अन् के स्थान पर उस् प्रत्यय आता है (टि० १४)।

अडागम और लङ् से भिन्नता— लङ् की भांति लुङ् में भी धातु से पूर्व अट् आगम का प्रयोग किया जाता है और वैदिकभाषा में लुङ् के अडागमरहित रूप भी उपलब्ध होते है (दे० अनु० २१४)। यद्यपि लकारों के प्रयोग के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन आगामी अध्याय में किया जायगा, तथापि यहां पर इस तथ्य का निर्देश आवश्यक है कि कुछेक लुङ् के भेदों और लङ् के रूपों में समानता होने पर भी अर्थ की दृष्टि से दोनों लकारों में विशेष अन्तर माना जाता है। विकरण-लुग्-लुङ् और अङ्-लुङ् के रूपों की क्रमशः लङ् के अदा० तथा तुदा० के रूपो से समानता है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रूपों की ऐसी समानताओं में लङ् या लुङ् का निर्णय करने के लिये अर्थ के

अतिरिक्त इस तथ्य को भी ध्यान में रक्खा जाता है कि ऐसे धातु का अदा० या तुदा० में लट् का रूप मिलता है या नहीं। यदि किसी धातु से अदा० या तुदा० में बना लट् का रूप उपलब्ध होता है, तो उस धातु से बना उपर्युक्त प्रकार का भूतकालिक रूप लङ् का माना जायगा। परन्तु यदि ऐसे धातु से अदा० में लट् का रूप नहीं मिलता है, तो उस का ऐसा भूतकालिक रूप विकरण-लुग्-लुङ् का, और तुदा० में लट् का रूप न मिलने पर उपर्युक्त प्रकार का भूतकालिक रूप अङ्-लुङ् का माना जायगा; यथा— अभूत्, अगमत्।

लुङ्वर्ग के क्रिया-प्रकार-वाचक लकार (Moods)— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, लुङ्वर्ग के विभिन्न अङ्गों से विधिमूलक लकार (Injunctive), लेट्, लोट्, विधिलिङ् तथा आलि० के रूप भी बनते हैं। प्रत्येक लुङ्भेद के कालवाचक रूपों के साथ-साथ उस के अङ्ग से बनने वाले क्रिया-प्रकार-वाचक रूपों की रचना के विषय में विचार किया जायगा। ऐसे क्रियाप्रकारवाचक रूपों के सम्बन्ध में भारतीय वैयाकरणों का व्याख्यान तो सर्वथा भिन्न है ही, पाश्चात्य विद्वानों में भी अनेक मतभेद हैं। इन सब मत-भेदों का विवेचन प्रत्येक लुङ्भेद के साथ-साथ यथा-स्थान किया जायगा।

लुङ्वर्ग के अङ्ग से शत्रन्त तथा शानजन्त रूप— आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, वैदिक भाषा में लुङ्वर्ग के अङ्ग से शत्रन्त तथा शानजन्त रूप भी बनते हैं। लुङ् के प्रत्येक भेद के अनुसार, ऐसे शत्रन्त तथा शानजन्त रूपों के सम्बन्ध में यथा-स्थान विचार किया जायगा।

१. विकरण-लुग्-लुङ् (Root-Aorist) के रूप

२६५. वैदिकभाषा में लगभग १३० धातुओं से **विकरण-लुग्-लुङ्** के रूप बनते हैं। इन में से लगभग १०० धातुओं से बने लुङ्रूप संहिताओं में और लगभग ३० धातुओं से बने रूप ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अकेले ऋ० में ८० से अधिक धातुओं से बने रूप मिलते हैं। यद्यपि परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं, तथापि

परस्मैपद के रूपों का बाहुल्य है।

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, इस लुङ् में धातुमात्र अङ्ग के साथ लकार के प्रत्यय जोड़ दिये जाते है और इसी लिये यह धातु-लुङ् (Root-Aorist) कहलाता है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इस में लुङ् के विकरण (सिच् इत्यादि) का लुक् मान कर व्याख्यान किया जाता है और इसी आधार पर हमने इस के लिये विकरणलुग्-लुङ् संज्ञा का व्यवहार किया है।

(क) **परस्मैपद में सिच् का लुक्**— पाणिनि के व्याख्यानानुसार, परस्मैपद में √गा "जाना", √स्था, √दा, √धा (इत्यादि दा तथा धा- रूप वाले धातु), √पा "पीना" तथा √भू से परे सिच् का लुक् हो जाता है[२३६]। आकारान्त धातुओं से परे प० के प्र० पु० ब० में **उस्** प्रत्यय प्रयुक्त होता है जिस से पूर्व धातु के आ का **पर-रूप** हो जाता है (टि० ६३)। आकारान्त धातुओं के उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर √स्था के रूप इस प्रकार बनेंगे—

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अस्थात्	अस्थाताम्	अस्थुः।
म० पु०	अस्थाः	अस्थातम्	अस्थात।
उ० पु०	अस्थाम्	×	अस्थाम।

लुङ् के प्रत्ययों से पूर्व √भू के ऊ को गुण नहीं होता है[२३७] और अजादि प्रत्ययों से पूर्व √भू को व् (पा० वुक्) का आगम होता है (टि० १९३)। वैदिकभाषा में √भू के निम्नलिखित रूप मिलते है—

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अभूत्	अभूताम्	अभूवन्।
म० पु०	अभूः	अभूतम्	अभूत।
उ० पु०	अभूवम् (तै० सं० इत्यादि)	×	अभूम।

ऋ० में दो बार केवल अभुवम् रूप मिलता है जिस में सायण छान्दस ह्रस्व मानता है।

सप्तमोऽध्यायः

करना"), वर्, अधाक् (√दह् "जलाना" टि० २५४), वर्क् (√वृज्), अवृक् (अ०), अकर्, कर्, अगन् (√गम्, टि० २१६)।

म० पु० ए०— अघस्, आनट्[२४५], अवर् (√वृ "आच्छादित करना"), आवर् (√वृ "आच्छादित करना"), वर्, वर्क् (√वृज्), अकर्, कर्, अगन्। अजादि कित् तथा ङित् (टि० ११) प्रत्यय से पूर्व √गम्, √जन्, √घस् तथा √तन् की उपधा के अ का लोप हो जाता है (टि० १११); यथा—

प० प्र० पु० ब०— अग्मन्, अक्षन् (√घस्)।

आ० प्र० पु० ब०— अग्मत, अज्ञत (टि० २४४), अत्नत (√तन्)। इसी प्रकार हलादि कित् तथा ङित् प्रत्यय से पूर्व भी √घस् की उपधा के अ का लोप हो जाता है (टि० १४६); यथा— आ० प्र० पु० ए०— ग्ध[२४६]। झलादि कित् तथा ङित् प्रत्यय से पूर्व √गम् के म् का लोप (टि० ११०) और मकारादि तथा वकारादि प्रत्यय से पूर्व म् का न् (टि० २१६) हो जाता है; यथा— आ० प्र० पु० ए० अगत (अ०), म० पु० ए० अगथाः (वा० सं०); अगन्म, गन्वहि, अगन्महि। इसी प्रकार आकारान्त और बहुत से अन्य हलन्त तथा अजन्त धातुओं से परे लुङ्-विकरण का लुक् माना जाता है; यथा—

प० प्र० पु० ए०— अप्राः (टि० २४६), अप्रात् (√प्रा, अ०), अश्रेत् (√श्रि), अश्रोत् (√श्रु); त्-प्रत्यय-लोप वाले रूप— अतन्[२४७], अदर् (√दृ), अक्रन्[२४८] (√क्रम्), अभेत् (√भिद्), भेत्, अभ्राट् (√भ्राज्), अमोक् (√मुच्, अ०), अम्यक् (√म्यक्ष्), अवर्त् (वृत्), अस्तर् (√स्तृ); स्कन् (√स्कन्द्)।

म० पु० ए०—अप्राः (ऋ०)[२४९], अश्रेः (√श्रि), अस्पर् (√स्पृ "जीतना"), क्रन्[२४८], भेत् (√भिद्)। लुङ् में √कृ के अनुप्रयोग के लिये दे० अनु० २८४।

(घ) **आ० प्र० पु० ए० में इ प्रत्यय (पा० च्चिण् विकरण)**— पा० के

अनुसार, आ० प्र० पु० ए० में √पद् से परे नित्य और √दीप्, √जन्, √बुध्, √पूर्, √ताय्, तथा √प्याय् से परे विकल्प से लुङ् के च्लि विकरण को कर्तृवाच्य में भी चिण् (इ) आदेश होता है[२५०], और चिण् से परे आ० प्र० पु० ए० के प्रत्यय त का लुक् हो जाता है[२५१]। चिण् के णित् होने से √पद् का अ दीर्घ हो जाता है (टि० १९८) और इस विकरण के आर्धधातुक होने से √बुध् के उ को गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा— अपादि (अ०), पादि, अबोधि। परन्तु √जन् के अ का दीर्घ नहीं होता है[२५२]; यथा— अजनि, जनि (ऋ० ८,७,३६ में जानि, परन्तु पपा० जनि)। √दीप् √पूर्, √ताय् तथा √प्याय् के वैदिक उदाहरण मृग्य हैं।

पाश्चात्य विद्वान् इन रूपों में इ-विकरण न मान कर त के स्थान पर इ प्रत्यय मानते हैं और कहते हैं कि ऐसे रूप प्रायेण कर्म-वाच्य (Passive) के है, परन्तु √गम् इत्यादि अकर्मक धातुओ से बने ऐसे रूपों का अर्थ कर्तृवाच्य से भिन्न नहीं है[२५३]; यथा— अगामि, अभ्राजि, अराधि, अरोचि, असादि। पा० के अनुसार, ये रूप साधारणतया भाव-वाच्य या कर्मवाच्य के हो सकते हैं, परन्तु ऋ० में इन सब उद्धृत रूपों का प्रयोग कर्तृवाच्य में मिलता है और वाक्य में इन का कर्ता प्रथ० में है। वा० सं० २८,१५ का अयावि (√यु "पृथक् करना") प्रयोग भी कर्तृवाच्य में है। सायण तथा ग्रासमैन इन में से कुछ रूपों का प्रयोग कर्मवाच्य में भी मानते है। रूप-रचना की दृष्टि से कर्तृवाच्य, भाववाच्य तथा कर्मवाच्य के रूप सर्वथा समान हैं और केवल वाक्य-गत प्रयोग से ही इन के वाच्य का निश्चय किया जा सकता है। ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति विद्वानों ने ऐसे सब रूपों की परिगणना केवल कर्मवाच्य (Passive) में की है (टि० २५३), तथापि हमने ऐसे कर्मवाच्य रूपों का विवेचन आगे चल कर पृथक् किया है (अनु० ३११)। ऐसे विधिमूलक (Injunctive) रूपों की परिगणना नीचे की गई है।

२६६. **विकरण लुग्-लुङ् के क्रिया-प्रकार-वाचक लकार**—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से विधिमूलकलकार (Injunctive), लेट् , लोट् , विलि० और आलि० के रूप भी बनते है। ऐसे वैदिक रूपों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

(क) **विधिमूलक-लकार** (Injunctive)—पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि विकरण-लुग्-लुङ् के अडागम-रहित रूपों में से लगभग आधे रूप काल-वाचक और आधे (लगभग ६०) विधिमूलक लकार के है; यथा—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०—भूत् , श्रेत् (√श्रि), उत्थात् (√स्था); त्-प्रत्यय-लोप वाले रूप—गन् (√गम्), धक्[२५४], धाक्[२५४], नक् तथा नट् (√नश् "व्याप्त करना"), वर् (√वृ), वर्क् √वृज्), स्कन् (√स्कन्द्)।

प्र० पु० ब०—भुवन् (√भू), व्रन् (√वृ), क्रमुः, गुः (√गा "जाना"), दभुः, दुः (√दा), धुः, स्थुः।

म० पु० ए०—जेः (√जि), भूः, भेः (√भी, वा० सं०, तै० स०); स्-प्रत्यय-लोप वाले रूप—कर् , धक्[२५४], भेत् (√भिद्). रोक् (√रुज् , वा० सं०), वर् (√वृ), वर्क् (वृज्), स्तर् (√स्तृ), स्पर् (√स्पृ)।

उ० पु० ए०—करम् (√कृ, अ०), गाम् (√गा), धाम् (√धा, वा० सं० १,२०), भुवम् , भोजम् , योजम् , स्थाम्।

उ० पुं० ब०—गाम, छेद्म (√छिद्), दघ्म (√दघ्), भूम , भेम (√भी), होम (√ह्वे)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०—अर्त (√ऋ), अष्ट (√अश् "व्याप्त करना"), युक्त (तै० सं० ४,३,११,४), व्रिक्त (√विज्), वृत (√वृ "वरना"); इ- (पा० च्चिण्) युक्त रूप—भेदि (√भिद् , वा० सं० ११, ६४), मोचि (अ०), रोचि।

प्र० पु० ब०— अशत (शां० आ० १२,१९)।

म० पु० ए०— धृथाः (अ०), नुत्थाः, भित्थाः (वा० सं० ११,६८), मृथाः (√मृ), मृड्ढाः[255], रिक्थाः (√रिच्), विक्थाः (√विज्, वा० सं० १,२३)।

उ० पु० ए०— नंशि[256]; उ० पु० ब०— धीमहि[257]।

(ख) लेट्— लेट् के लगभग १०० रूप मिलते है। मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् निम्नलिखित रूपों की परिगणना लेट् में करते है—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— करति, जोषति, दर्शति (अ०), भेदति, राधति, वर्जति, करत्, गरत् (√गृ, अ०), जोषत्, योधत्, राधत्, वरत् (√वृ "वरना"), वर्तत्, श्रवत्, स्परत्; गुण-रहित रूप[258]— ऋधत्, भुवत्, श्रुवत् (ऋ०); अकार-युक्त धातुओं के रूप[259]— गमत्, पदाति, पदात् (अ०), मथत् (अ० ७, ५०,५), यमत्, शकत्, सघत् (√सघ् "समर्थ होना"); आकारान्त अङ्ग वाले रूप[260]— गात्, दाति, दात्, धाति, धात्, सात् (√सो), स्थाति, स्थात्।

प्र० पु० द्वि०— करतः, गमतः, भूतः, श्रवतः, स्थातः।

प्र० पु० ब०— करन्ति, गमन्ति, पान्ति[260] (√पा "पीना"); करन्, गमन्[259], गरन्, दर्शन्, भुवन्[258], यमन्[259]।

म० पु० ए०— करसि, करः, गमः[259], तर्दः, पर्चः, भुवः[258], यमः[259], वरः (√वृ "वरना"), शकः[259], शासः; आकारान्त अङ्ग वाले धातु[260]— दाः, धाः, पाः (√पा "पीना", ऋ० ४,२०,४), प्राः, स्थाः।

म० पु० द्वि०— करथः, गमथः, दर्शथः, पाथः[260] (अ० ७,२९,१), भूथः, श्रवथः।

उ० पु० ए०— कराणि, गमानि, गानि, भुवानि[258]।

उ० पु० ब०— कराम, गमाम[261], गाम[260], धाम[260], राधाम।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— इषुते (ऋ० ७,१,८), करते, भोजते, योजते, वर्जते, स्तरते।

प्र० पु० व०— युवन्त (√यु "पृथक् करना", ऋ० ५,२,५)।

म० पु० ए०— करसे, जोषसे (अ०)।

म० पु० द्वि०— धेथे[२६०], धैथे।

उ० पु० व०— करामहे, गमामहे, धामहे, मनामहे (वा० सं० ४,११), स्तरामहे।

मैक्डानल के मतानुसार उपलब्ध रूपों के आधार पर √कृ के रूप लेट् में इस प्रकार बनेंगे—

प० प्र० पु० ए० — करति, करत ; द्वि०— करतः ; व०— करन्ति, करन्।

म० पु० ए०— करसि, करः ; द्वि०— करथः।

उ० पु० ए०— करा, कराणि ; व०— कराम।

आ० प्र० पु० ए०— करते ; व०— करन्त।

म० पु० ए०— करसे।

उ० पु० व०— करामहे, करामहै।

यद्यपि अर्थ की दृष्टि से सायण ऐसे अधिकतर रूपों को लेट् के मानता है, परन्तु रूप का व्याख्यान करते समय कही लेट् , कही 'व्यत्ययेन शप्', और कहीं अङ्-लुङ् भी मानता है (दे० ऋ० १,४३, २ पर भाष्य)।

(ग) लोट्— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से लोट् के वैदिक रूप ६० से भी अधिक है जिन में से लगभग एक दर्जन रूप आ० के और शेष प० के है। भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, लोट् के ऐसे सभी रूप अदा० के अङ्ग से बनते हैं (टि० ६५,७१), और ऐसे बहुत से रूपों के सम्बन्ध में ग्रासमैन का भी यही

मत है। अन्य पाश्चात्य विद्वानों मे भी ऐसे अनेक रूपों के अङ्ग के सम्बन्ध में मतभेद मिलता है।

अवैरी, ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, लोट् के निम्नलिखित वैदिक रूप विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से बनते हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— गन्तु, दातु, धातु, पातु (अ०), भूतु, श्रोतु, सोतु (√सु "रस निकालना")।

प्र० पु० द्वि०— गन्ताम् (वा० सं० ९,१९), घस्ताम् (वा० सं० २१, ४३), दाताम्, पाताम् (√पा "रक्षा करना"), वोळ्हाम्[२६०] (√वह्)।

प्र० पु० ब०— गमन्तु, दान्तु (√दो "अवखण्डित करना", अ० १२,३,३१), धान्तु, पान्तु (अ०), श्रुवन्तु।

म० पु० ए०— कृधि, गधि (√गम्), वोधि[२६२], यन्धि (√यम्), योधि[२६३], रन्धि (√रध्, √रन्ध्; ऋ० ४,२२,९), विड्ढि (√विश्, अ०), वृधि (√वृ "आच्छादित करना"), शग्धि (√शक्), श्रुधि, स्पृधि (√स्पृ); हि-प्रत्ययान्त— गहि, पाहि (अ०), माहि[२६४] (√मा "नापना"), साहि (√सो "बान्धना")।

म० पु० द्वि०— कर्तम् (अ०), कृतम्, गतम्, गन्तम्, जितम्, दातम्, धक्तम् (टि० २५४), धातम्, पातम् (अ०), भूतम्, भृतम् (वा० सं० ११,३०), यन्तम् (√यम्), रिक्तम् (√रिच्), वर्क्तम् (√वृज्), वर्तम् (√वृ "आच्छादित करना"), वोळ्हम्[२६०] (√वह्), शक्तम्, श्रुतम्, सितम् (√सो), सुतम्, स्थातम्, स्पृतम्।

म० पु० ब०— त-प्रत्ययान्त—कृत, गत, गात, दात, पात (अ०), भूत, वर्त (√वृत्), शस्त (√शंस्), श्रुत, स्थात; तप्-प्रत्ययान्त (टि० १६)—कर्त, गन्त, धात, यन्त, श्रोत, सोत (√सु), हेत (√हि); तन-प्रत्ययान्त (टि० १६)— गातन,

यातन, पातन (अ०), भूतन; तनप्-प्रत्ययान्त (टि० १६)—
कर्तन, गन्तन, धेतन (√धा, ऋ०, तै० ब्रा०), यन्तन (√यम्),
सोतन (√सु)।

आत्मनेपद

म० पु० ए०— कृष्व, धिष्व (√धा, टि० २६७), युक्ष्व (√युज्);
आद्युदात्त— मत्स्व (√मद्), यक्ष्व (√यज्), रास्व, वंस्व
(√वन्), सक्ष्व (√सच्, ऋ० १,४२,१); अनुदात्त—
दीष्व[२६५] (वा० सं० ३८,३), मास्व (√मा "नापना")।

म० पु० ब०— कृध्वम्, वोढ्वम्[२६०] (√वह्, वा० सं०)।

(घ) विधिलिङ् के रूप— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, विकरण-
लुग्-लुङ् के अङ्ग से वैदिकभाषा में विलि० के ४० से अधिक रूप
बनते हैं। भारतीय वैयाकरणों के अनुसार, ऐसे रूप प्रायेण अदा० में
बनते है (टि० ६५,७१)। अनेक पाश्चात्य विद्वान् निम्नलिखित रूपों
को ऐसे विलि० के मानते हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— भूयात् (अ०); द्वि०— युज्यौताम्; ब०— अश्युः
(√अश् "व्याप्त होना"), धेयुः (√धा), सह्युः। √कृ का
विलि० में अनुप्रयोग— पावयां क्रियात् (मै० सं०; टि० ३१०)।

म० पु० ए०— अव्याः (ऋ० १०,१३६,५), अश्याः (ऋ० ५,४२,१४),
ऋध्याः, गम्याः, ज्ञेयाः, भूयाः, मृध्याः, सह्याः।

उ० पु० ए०— अश्याम्, ऋध्याम् (अ०), देयाम्, धेयाम्, वृज्याम्,
शक्याम्; द्वि०— युज्याव; ब०— अश्याम, ऋध्याम,
क्रियास्म, भूयाम, वृज्याम, स्थेयाम।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— अरीत (√ऋ), उहीत (√वह्), वुरीत (√वृ
"वरना")।

म० पु० द्वि०— ऋध्याथे (ऋ० १,१७,६ पर सायण—लट्)।

उ० पु० ए०— अशीय, मुरीय (√मृ, ऋ०, अ०); ब०— अशीमहि, इधीमहि, ऋधीमहि, नशीमहि (√नश् "प्राप्त करना"), नसीमहि (√नस् "युक्त होना"), पृचीमहि, मुदीमहि, यमीमहि, सीमहि (√सो "बांधना")।

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरणों के अनुसार, उपर्युक्त रूपों में से प० के अनेक रूप आलि० के हैं; यथा— भूयात्, भूयाः, धेयुः (ऋ० ३, ५०, २ पर सायणभाष्य), स्थेयाम (ऋ० ८,२७,२० पर सायण, टि० २७०)। दे० नु० २८५।

(ङ) **आशीर्लिङ्**— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से आशीर्लिङ् के रूप भी बनते है, और मैक्डानल के अनुमान के अनुसार ऐसे लगभग ३० रूप मिलते हैं जो संहिताओं में प्रयुक्त लगभग २० धातुओं से बनते है; यथा—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— स्-प्रत्ययान्त रूप— अव्याः (ऋ० २,३८,१०), अश्याः (√अश् "व्याप्त करना"), ऋध्याः, गम्याः, दुध्याः, पेयाः (√पा "पीना"), भूयाः, यम्याः, यूयाः (√यु "पृथक् करना"), वृज्याः, श्रूयाः, सह्याः। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ऐसा त्-प्रत्ययान्त रूप ऋ० में नहीं है, परन्तु उत्तरकालीन वाङ्मय में ऐसे बहुत से रूप मिलते हैं।

म० पु० ए०— ह्विटने (Skt. Gr., p. 302) के मतानुसार, ऊपर विलि० के म० पु० ए० में परिगणित रूप— अव्याः, ज्ञेयाः, भूयाः, मृध्याः तथा सह्याः आलि० के हैं और ग्रासमैन अव्याः तथा सह्याः को और मोनियर-विलियम्स इन दो के अतिरिक्त भूयाः को भी आलि० का रूप मानता है। परन्तु अवैरी (पृ० २५५) और मैक्डानल इन सब को विलि० के रूप मानते है।

म० पु० द्वि०— भूयास्तम् (वा० सं० २,७); ब०— भूयास्त (तै० सं० ३,२,५,६)।

उ० पु० ए०— आप्यासम् (ऐ० आ० ५,३,२,३), ऋध्यासम् (वा० सं० ८,६), जीव्यासम् (अ०, वा० सं०), प्रियासम् (अ० ३, ५,४), भूयासम्, आज्यासम् (अ०), श्रियासम् (वा० सं० २, ८), राध्यासम् (वा० सं० ३७,३), वध्यासम् (अ०, वा० सं०), श्रूयासम् (अ०)।

उ० पु० ब०— ऋध्यास्म (अ०), क्रियास्म, भूयास्म (अ०, वा० सं०), राध्यास्म (अ०)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— पदीष्ट, मुचीष्ट।

भारतीय विद्वानों के मतानुसार भी ये रूप आलि० के हैं, परन्तु इन में विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग की कल्पना करना अनावश्यक है।

२६७. **विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से शत्रन्त तथा शानजन्त रूप**— पाश्चात्य विद्वान् विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से लगभग आठ शत्रन्त और चालीस शानजन्त रूपों की रचना भी मानते हैं; यथा—

(क) **शत्रन्त रूप**— (प्रथ० ब० पं०)— ऋधन्तः, क्रन्तः, ग्मन्तः, पान्तः "पीते हुए", भिदन्तः, स्थाताम् (ष० ब०, ऋ० १,७०,२–सायण "क्विप्")।

(ख) **शानजन्त तथा शाननन्त रूप**— ऐसे अधिकतर रूप अन्तोदात्त और कुछेक रूप आद्युदात्त है। पा० के अनुसार, अन्तोदात्त रूपों में शानच् और आद्युदात्त रूपों में शानन् प्रत्यय माना जा सकता है। अन्तोदात्त—इधान–, क्राण–, जुषाण–, तृपाण–, दृशान–, द्युतान–, धुवान– (तै० सं० ४,४,१२,५), निदान–, पिशान–, पृचान–, बुधान–, भियान– (√भी), युजान–, रुचान–, विपान–, व्राण– (√वृ "आच्छादित करना"), शुभान–, श्वितान–; आद्युदात्त—उहान–

(√वह्), चितान-, दशानम् (ऋ० २,१०,४), द्युतानात् (ऋ० १०,१८१,१-३), रुहाणाः (ऋ० १,३२,८), शुम्भान-।

भारतीय मत—ऐसे अधिकतर रूपों के समाधान में भारतीय विद्वान् विकरण का लुक् मानते हैं (टि० ६५,७१) अर्थात् अदा० के आधार पर इन का समाधान करते है परन्तु कुछेक शानजन्त रूपों के सम्बन्ध में सायण ने कही तुदा० का विकरण 'श' माना है (यथा—ऋ० १,११८,१० में जुपाणा ; १,३२,८ में रुहाणाः) परन्तु इन पदों का स्वर सायण के इस समाधान के अनुकूल नहीं है। सायण कही पर (ऋ० १,६५,१) युजान- में 'बहुलं छन्दसि' (टि० ६५) के द्वारा विकरण का लुक् मानता है, और कहीं (ऋ० ३,४३,६;३,५७,४; ४,२,३) उणादि कित् प्रत्यय आनच् (२,२४७) के द्वारा युजान- का समाधान करता है। इस उणादि सूत्र में दृशान- तथा बुधान- का समाधान भी इसी प्रत्यय द्वारा किया गया है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि सायणभाष्य के अनुसार उक्त उणादि सूत्र का प्रथम शब्द युजि है ("युजिबुधिदृशिभ्यः किच्च"), जबकि सि० कौ० के उपलब्ध संस्करणों में "युजि-" के स्थान पर "युधि-" पाठ और युधानः उदाहरण मिलता है। परन्तु युधानः रूप की अनुपलब्धि और युजानः की उपलब्धि के आधार पर सायण-सम्मत पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

२. अङ्लुङ् (a-Aorist) के रूप

२६८. ह्विटने (Roots, pp. 223-24) के मतानुसार, वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में ७६ धातुओं से अङ्-लुङ् के रूप बनते है जिन में से ६१ धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में और १८ धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक दोनों भाषाओं में मिलते हैं। इनमें से लगभग ४० धातु ऐसे हैं जिन की उपधा मे इ, उ या ऋ मिलता है; यथा— √मुच्, √विद् "पाना", √रुह्, √सिच्, √पुष्, √द्रुह्, √तृप्, √द्युत्, √वृत्, √वृध्; √छिद्, √दृश्, √बुध्, √भिद्,

(ख) लेट्— लेट् के कुछेक रूप मिलते है जो प्रायेण परस्मैपद के हैं। उपलब्ध रूपों के आधार पर √विद् के रूप लेट् में, मैक्डानल के मतानुसार, इस प्रकार बनेंगे—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— विदाति, विदात् ; द्वि०— विदातः ।

म० पु० ए०— विदासि, विदाः ; द्वि०— विदाथः ;

व०—विदाथ, विदाथन ।

उ० पु० द्वि०— विदाव ; ब०— विदाम ।

ऋ० ६,५९,१ में प्रयुक्त वोचा (पपा० वोच) उ० पु० ए० का रूप है। अत एव उस के आधार पर उ० पु० ए० में विदा रूप बन सकता है।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— विदाते ; उ० पु० व०— विदामहे ।

उ० पु० द्वि० में वोचावहै (ऋ० १,२५,१७) के आधार पर विदावहै रूप बनाया जा सकता है।

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, ऐसे कुछ रूप तुदा० के अङ्ग से लेट् में बनते है। यह मत समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इन में से √विद्, √मुच् इत्यादि के अन्य रूप भी तुदा० में बनते हैं। √वच् से बने रूप वोचति तथा वोचाति (ऋ०) और वोचासि (वा० सं० २३,५१) में पा० के अनुसार 'व्यत्यय' (टि० ७१) से अङ् विकरण हो सकता है। सायण तथा महीधर के मतानुसार लेट् का अट् या आट् आगम और 'व्यत्यय' से धातु को उम् आगम हुआ है।

(ग) लोट्— मैक्डानल के मतानुसार, अङ्-लुङ् के अङ्ग से बने हुए लोट् के लगभग दो दर्जन रूप मिलते हैं, जिनमें से केवल दो रूप आत्मनेपद के है। इनमें लगभग एक-तिहाई रूप √सद् (पा० षद्लृ) से बने

हुए है। अत एव उपलब्ध रूपों के आधार पर मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 168) के मतानुसार √सद् के रूप लोट् में इस प्रकार बनेंगे—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— सदतु ; द्वि०— सदताम् ; ब०— सदन्तु।
म० पु० ए०— सद ; द्वि० – सदतम् ; ब०— सदत, सदतन।

ऋ० ५,६१,१८ में वोचतात् भी मिलता है।

आत्मनेपद

प्र० पु० ब०— सदन्ताम् (अ०) ; म० पु० ब० — सदध्वम्।

व्याख्यान-भेद— मैक्डानल (Ved. Gr., p. 373) ने जिन रूपों की परिगणना की है उन में से मुच तथा विदतम् (ऋ० १,१५१,२), भारतीय विद्वानों के मतानुसार, तुदा० के लोट् के रूप है और मुच मे नुम् का आगम (टि० ८७) नही हुआ है, और कुर तथा करताम् (ऋ० १.२३,६) भ्वा० के लोट् के रूप हैं। √सद् से बने सभी रूप, सायण के मतानुसार, भ्वा० के है और 'व्यत्यय' (टि० ७१) से √सद् को सीद् आदेश (टि० ७८) नही हुआ है। उपर्युक्त रूपों में मैक्डानल ने विकरण के अ पर जो उदात्त दिखलाया है उस के लिये कोई वैदिक आधार उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि मैक्डानल द्वारा उद्धृत अधिकतर रूप सर्वानुदात्त है और कुछेक रूपों में धातु के अच् पर उदात्त है ; यथा— सन, सर, सदतम्, करताम् (ऋ० १,२३, ६)। केवल रुहतम् तथा व्यत में विकरण पर उदात्त मिलता है, परन्तु ये रूप विमू० के भी माने जा सकते हैं। ह्विटने (Skt. Gr., p. 307) ने विद का जो उदाहरण दिया है वह ग्रासमैन (WZR.) तथा मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 418) के मतानुसार, √विद् "जानना" के लिट् म० पु० ब० का रूप है और सायण भी इसे म० पु० ब० का रूप मानता है। अत एव अङ्-लुङ् के लोट्-के रूपों में इस

भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, ऐसे अधिकतर रूप तुदा० के अङ्ग से बने हैं। वृ॒ध्वा॒नः (ऋ० १,५५,६) इत्यादि कुछेक रूपों में सायण शप् का लुक् (टि० ९५) मान कर समाधान करता है। शि॒षन्तः में केवल अङ् विकरण मान कर समाधान किया जा सकता है (टि० ११८)।

२७१. **अङ्-लुङ् के उल्लेखनीय अपवाद**—(१) अङ् विकरण परे रहते √वच् के अ के पश्चात् उ (पा० उम्) का आगम होकर वोच-अङ्ग बनता है (टि० २६८); यथा—अवोचत्, वो॒चेयम् इत्यादि। √वच् से बने विलि० (पा० आलि०) के परस्मैपदी रूपों में लकार के आगम इय् (पा० यासुट्, टि० ६०-६१) पर उदात्त रहता है, यथा—वो॒चेयम्, वो॒चेम; और अन्यत्र धातु पर उदात्त रहता है, यथा—वोचे, वोचत्।

(२) अङ् विकरण परे रहते √शास् "उपदेश करना" के आ का इ बन जाता है (टि० ११८); यथा—शिषत् (ऋ० ४,२,७)।

(३) पा० के मतानुसार अङ् विकरण परे रहते √ख्या के आ का लोप हो जाता है (टि० २०१); यथा—अख्यत। मैक्डानल (Ved. Gr., p. 371; Ved. Gr. Stu., p. 168) के मतानुसार, अङ्-लुङ् में √ख्या तथा √व्या (धापा० √व्ये), √ह्वा (धापा० √ह्वे), √दा "देना", √धा "रखना" और √स्था के आ का अ बन जाता है; यथा—अव्यत्, अह्वत्, आदत, अ॒ध॒त् (सा०) तथा ध॒त्, आ॒स्थ॒त् (अ० १३,१,५)। मैक्डानल के व्याख्यानानुसार, ऐसे रूपों के अङ्ग का विकरण-लुग्-लुङ् से अङ्-लुङ् में परिवर्तन हुआ है। इन के सम्बन्ध में ह्विटने का समाधान भी यही है (Skt. Gr., p. 306)। परन्तु ह्विटने ने अन्यत्र (Roots, pp. 5,194) आ॒स्थ॒त् के व्याख्यान के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया है और मोनियर विलियम्स (MWD. √स्था I.) भी उक्त व्याख्यान को सन्दिग्ध समझता है। यास्क तथा पाणिनि प्रभृति भारतीय विद्वान्

√अस् के साथ थ् का आगम मान कर इस धातु से आस्थत् की रचना मानते हैं[२७१], √स्था से नहीं। पा० के अनुसार, अहंत इत्यादि रूपों में अङ् से पूर्व अङ्ग के आ का लोप हो जाता है (टि० २०१)।

(४) अङ् परे रहते, √दृश् तथा ऋकारान्त धातुओं के ऋ को गुण हो जाता है[२७२]; यथा— दर्शम्, आरत् (√ऋ), अकरः (अ०), असरः। √दृश् से बने कुछ रूपों में गुण नहीं होता है; यथा— अदृशन् (तै० सं० ४,५,१,३), दृशन् (विमू० प्र० पु० ब०), दृशेयम्, दृशेम (अ०)। भारतीय विद्वानों के मतानुसार, ऐसे रूपों में अङ् के स्थान पर अक् विकरण माना जा सकता है (टि० २७०)।

(५) अङ् परे रहते, हलन्त धातुओं की उपधा के नकार का लोप हो जाता है (टि० १७०); यथा— √क्रन्द् "चिल्लाना" से क्रदः (विमू० म० पु० ए०); √तंस् 'हिलाना" से अतसत; √ध्वंस् "गिराना" से ध्वसन्; √भ्रंश् "गिरना" से भ्रशत् (विमू०); √स्कम्भ् "अधीन करना" से स्कभाम् (लोट्), स्कभम् (विमू०)।

३. चङ्-लुङ् (Reduplicated Aorist) के रूप

२७२. संहिताओं में लगभग ९० धातुओं से और ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग ३० धातुओं से बने हुए चङ्-लुङ् के रूप उपलब्ध होते हैं। पा० के अनुसार, √श्रि "आश्रय लेना", √द्रु 'भागना", √स्रु "बहना", √धे "पीना", √श्वि "फूलना", तथा √गुप् "रक्षा करना" से बने रूपों को छोड़ कर चङ्-लुङ् के शेष सभी रूप ण्यन्त धातुओं से बनते हैं[२७३]। पाश्चात्य विद्वान् भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि अर्थ के अनुसार, चङ्-लुङ् के अधिकतर रूपों को णिजन्त धातुओं से बने हुए माना जा सकता है।

विकरण तथा द्वित्व— आधुनिक विद्वानों के मतानुसार इस लुङ् का विकरण अ और पा० (टि० २७३) के अनुसार चङ् है। चङ् परे

रहते धातु को द्वित्व हो जाता है[२७४] और व्यञ्जनों के द्वित्व के सम्बन्ध में पूर्वोक्त (अनु० २३८) साधारण नियम लगते है । परन्तु चङ् परे रहते धातु तथा अभ्यास के स्वर में जो विकार होते हैं वे प्रायेण इस लुङ् की प्रमुख विशेपता को प्रकट करते है । पा० के अनुसार, णि से परे चङ् आने पर णि का लोप हो जाता है[२७५], अङ्ग (अर्थात् धातु) की उपधा के दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है[२७६], और तत्पश्चात् अङ्ग (धातु) को द्वित्व होता है; यथा— √वाश् "ध्वनि करना" से वाश्+णि+चङ्+त्=वश्+चङ्+त्= ववश्+चङ्+त् । ण्यन्त धातु के चङ्-लुङ् के अभ्यास-विपयक विकारों का विवेचन करते हुए पाणिनि कहता है कि अभ्यास के जिस अ वर्ण से परे धातु का लघु अक्षर हो उस अ का, सन्नन्त (अनु० २९२) धातु के अकार की भांति, इकार बनता है[२७७]; यथा— विवश्+चङ्+त् । और यदि ऐसे चङ्-लुङ् में अभ्यास का अक्षर (इ उ) लघु हो तो उस का दीर्घ हो जाता है[२७८]; यथा— अवीवशत्, अबूबुधत् । परंतु यदि अभ्यास से परे धातु के संयुक्त अक्षर होंगे तो अभ्यास का ह्रस्व अक्षर भी गुरु माना जायगा और उस में दीर्घत्व नही होगा ; यथा— अचिक्रदत् (√क्रन्द्), असिस्यदत् (√स्यन्द्); इन धातुओं की उपधा के नकार के लोप के लिये देखिये टि० १७० ।

ऋकार-युक्त तथा लृकार-युक्त (केवल √क्लृप्, धापा० √कृप्) धातु के अभ्यास का ऋ या लृ साधारण नियम (टि० १८४) के अनुसार अ बनकर, उपर्युक्त नियम (टि० २७७) से इ के द्वारा ई (टि० २७८) मे परिणत हो जाता है, परन्तु अभ्यास से परे धातु का ऋ तथा लृ अविकृत रहता है[२७९]; यथा— अवीवृधत् (√वृध्), अवीवृतत् (√वृत्), अचीकृपम् (√कृप्), अचीक्लृपत् (√क्लृप्, अ०) । ऋकारान्त धातुओं के ऋ को चङ् परे रहते गुण हो जाता है ; यथा— √धृ से अदीधरत् (ऋ०) । पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, छन्दःसम्बन्धी मात्रा-क्रम को ध्यान में रखते

हुए चङ्-लुङ् के अभ्यास तथा धात्वङ्ग के अक्षरों में गुरु-लघु (—⏑) का क्रम मिलता है।

उल्लेखनीय अपवाद— (१) कुछेक रूपों में √दीप् की उपधा के ई को ह्रस्वत्व नहीं होता है[२८०]; यथा— दिदीपः (ऋ०) और अदीदिपत् (ब्रा०)। इसी प्रकार अदधावत् (ऋ० ६,८७,७) में भी उपधा को ह्रस्वत्व नहीं हुआ है। परन्तु कतिपय विद्वान् इसे अतिलिट् (Pluperfect) का रूप मानते है; दे० अनु० २५७(च)।

(२) पा० के मतानुसार √प्रथ् के अभ्यास के अ को इ नहीं होता है[२८१]; यथा— पप्रथत् (ऋ०) तथा पप्रथन्त (ऋ०)। परन्तु उद्धृत रूपों के व्याख्यान-भेद के सम्बन्ध में देखिए अनु० २६०, २६३।

(३) उपर्युक्त नियम (टि० २७८) के अपवाद-स्वरूप धात्वङ्ग के लघु अक्षर से पूर्व भी कतिपय वैदिक रूपो में अभ्यास के ह्रस्व स्वर को दीर्घत्व नहीं होता है; यथा— √गृ[२८१क] "जागना" से जिगृतम् (ऋ०) तथा जिगृत (ऋ०), √धृ "धारण करना" से दिधृतम् (ऋ०) तथा दिधृत। मैक्डानल के मतानुसार ये चङ्-लुङ् के रूप हैं जिन में अ विकरण का प्रयोग नही हुआ है, परन्तु भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार ये जु० के रूप हैं (टि० २८१क)। √अम् "हिंसा करना" के समस्त अङ्ग को द्वित्व हो कर आमंमन् रूप वनता है। जीह्वरतम् (√ह्वृ, तै० स० १,२,१३,२) में गुरु अक्षर परे रहते हुए भी अभ्यास के ह्रस्व स्वर को दीर्घत्व हो गया है, परन्तु वा० सं० ५,१७ में जिह्वरतम् पाठ मिलता है।

(४) अदिद्युतत् (√द्युत्, ऋ०) तथा अपिप्लवम् (√प्लु, श० ब्रा०) में अभ्यास के उ को इ हो गया है[२८२]।

(५) णिच् प्रत्यय परे रहते धातुओ के साथ जिस प् (पा० पुक्) का आगम होता है (टि० ३३९) वह चङ्-लुङ् में रहता है और अभ्यास से परे √स्था का आ इ में परिणत हो जाता है[२८३]; यथा— अतिष्ठिपत्। इसी प्रकार निम्नलिखित रूपों में √ज्ञा तथा √हा

"छोड़ना" का आ भी इ में परिणत हो जाता है— अजिह्निपत् (तै० सं० २,१,११,३), जीहिपः (ऋ० ३,५३,१९)। √ऋ "जाना" के णिजन्त से बना अर्पिपम् और √जि के णिजन्त से बने अजीजपत (वा० सं०) तथा अजीजिपत (ब्रा०) रूप मिलते है।

(६) √पत् से बने चङ्-लुङ् के कुछ रूपों में अभ्यास के अ का इ नहीं बनता है[२८४], और अभ्यास से परे धात्वङ्ग की उपधा के अ का लोप हो जाता है (टि० १११); यथा— अपप्तत्। परन्तु कुछ रूप उपर्युक्त साधारण नियमों के अनुसार बनते है; यथा— अपीपतत्। √नश् "नष्ट होना" से बने निम्नलिखित रूपों में लिट् के रूपों की भांति (टि० २०७) द्वित्व होता है[२८५]— अनेशन्, नेशत् (व्याख्यान-भेद के लिये दे० अनु० २५७च)। उपर्युक्त साधारण नियमों के अनुसार बने √नश् के रूप भी मिलते है; यथा— अनीनशत् (ऋ०)।

(७) मैक्डानल (Ved. Gr., pp. 374-75; Ved. Gr. Stu., p. 173) के मतानुसार, लगभग एक दर्जन अजन्त धातुओं तथा √स्वप् के चङ्-लुङ् के रूपों मे अ विकरण का लोप मिलता है; यथा— √श्रि से अशिश्रेत् (तै० सं०) इत्यादि। परन्तु ऐसे रूपों के व्याख्यान के विषय में गहन मतभेद है (दे० अनु० २५७ घ, ङ, च इत्यादि)। भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार ऐसे अधिकतर रूप जु० लङ् के है।

२७३. **चङ्-लुङ् के उपलब्ध रूप**— ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर √जन् "उत्पन्न करना" के चङ्-लुङ् रूप इस प्रकार बनेंगे—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अजीजनत्; ब०— अजीजनन्।

म० पु० ए०— अजीजनः; द्वि०— अजीजनतम्; ब०— अजीजनत।

उ० पु० ए०— अजीजनम्; ब०— अजीजनाव।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— अजीजनत; ब०— अजीजनन्त।

म० पु० व०— अजीजनध्वम् । ह्विटने (Skt. Gr., p. 311) ने उपलब्ध रूपों के बिना भी जो रूप चलाये है वे यहां पर नहीं दिखलाये गये है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, कालवाचक रूपों के अतिरिक्त क्रिया-प्रकार-वाचक रूप भी चङ्-लुङ् के अङ्ग से बनते हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों में भी अनेक रूपों के व्याख्यान के सम्बन्ध में मतभेद है; यथा—अवैरी (पृ० २६६-६८) ने चङ्-लुङ् में ऐसे रूप भी (**अतंतसतम्** इत्यादि) दिखलाये है जो मैक्डानल प्रभृति विद्वानों के मतानुसार अतिलिट् (Pluperfect) के है, और मैक्डानल द्वारा चङ्-लुङ् में परिगणित रूपों के सम्बन्ध में भी व्याख्यान-भेद है । मैक्डानल ने √वच् के जो रूप चङ्-लुङ् में गिनाये हैं उन का समावेश हम ने अङ्-लुङ् के रूपों में कर लिया है । अत एव √वच् के रूपों को छोड़ कर जो रूप मैक्डानल (Ved. Gr., pp. 375-77; Ved. Gr. Stu., pp. 174-75) ने चङ्-लुङ् और इस के विभिन्न क्रिया-प्रकार-वाचक लकारों में दिखलाये हैं वे निम्नलिखित हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अचिक्रदत् (√क्रन्द्), अचीक्लृपत् (अ०), अचीचरत् (अ०), अचुक्रुधत्, अचुच्युवत् (का० सं०), अजिज्ञिपत् (तै० सं० २,१,११,३), अजीजनत्, अजीहिडत् (अ०), अतिष्ठिपत्, अदिद्युतत्, अदीधरत्, अदूदुपत्, अनीनशत्, अपप्तत् तथा अपीपतत्, अबूबुधत्, अमूमुहत् (अ०), अरीरमत्, अरूरुचत्, अवीवशत् (√वाश्), अवीविपत्, अवीवृतत्, अवीवृधत्, अशिश्रियुत् (अ० ६,३१,३), अशिश्नथत्, अशीशमत् (√शम्, अ०), असिष्यदत् (√स्यन्द्), आममत् (√अम्); अडागम-रहित रूप— जीजनत्, दिद्युतत् (वा० सं० ३८,२२), दीधरत्, दुद्रवत्, नेशत् (ऋ० ४,१,१७), बीभयत् (√भी), ववृतत्, शिश्नथत्; अ-विकरण-रहित रूप—

अर्दुद्रोत्, अर्नूनोत्, अपूपोत्, असीमेत् (√मा "ध्वनि करना"), अशिश्रेत् (तै० सं १,८,१०,२), असुपोत् (√सू, मै० सं०), असुस्रोत् (वा० सं० १८,५८; तै० सं० ५,७,७,१); अडागम-रहित रूप— तूतोत् (√तु "बलवान् होना"), दूधोत् (√धू "हिलाना"); त्-प्रत्यय-रहित— अजीगर् (टि० २८१क), अशिश्नत् (√श्नथ्), दीधर्।

प्र० पु० ब०— अचिक्रदन्, अजीजनन्, अतित्रसन् (अ०), अदीधरन् (अ०), अनीनशन् (अ०), अनेशन् (वा० सं० १६,१०; तै० सं० ४,५,१,४), अपप्तन्, अपीपरन् (√पृ "पार करना"), अमीमृणन् (अ०), अवीवतन् (√वत् "जानना", ऋ०), अवीवरन् (√वृ "आच्छादित करना", अ०), अवीवशन् (√वाश्), अवीवृपन्, अवीवृधन्, अशीशमन् (अ०), अशूशुभन्, असिस्रसन् (√स्रंस्, अ०), असीषदन् (√सद्, वा० सं० १२,५४; तै० सं० ४,२,४,४); अडागम-रहित रूप— जीजनन्, पप्तन्।

म० पु० ए०— अचिक्रदः, अजीजनः, अतिष्ठिपः, अतीतरः (अ०), अतीतृपः (अ०), अनीनशः (√नश् "नष्ट होना", अ०), अपीपरः (अ०), अबूबुधः (अ०), अमीमदः (अ०), अरूरुपः (अ०), अवीवृधः (अ०), अशीशमः (अ०); अडागम-रहित रूप— जिह्वरः (अ०), दिद्युतः, रूरुपः (अ०), शूशुचः (तै० सं० ४,१,४,३), सिष्वपः; अ-विकरण-रहित रूप— तूतोः (√तु), सुस्रोः; स्-प्रत्ययरहित रूप— अजीगर् (टि० २८१क; √गॄ "निगलना", ऋ० १,१६३,७; वा० सं० २९,१८; तै० सं० ४,६,७,३), अजीगर् तथा अजीगर् (√गृ "जागना", टि० २८१क), दीधर्, सिष्वप्।

म० पु० द्वि०— अरूरुजतम् (खि० १,५,१०)।

म० पु० ब०— अजीजपत (√जि+णिच्, वा० सं० ९,१२), अरूरुचत (वा० सं० ३७,१५)।

उ० पु० ए०— अचीक्लृपम्, अजीगमम् (तै० सं०, वा० सं०, अ०),

अजीजभम् (√जम्भ्, अ०), अतिष्ठिपम् (अ०), अदूदुपम् (अ०), अनीनशम्, अपीपरम् (√पृ, अ०), अमीमदम् (अ०), अशीशमम्; अडागम-रहित रूप— अपिपम् (अ०)।

उ० पु० व०— अतीतृपाम (वा० सं० ७,२९), अतीतृपाम, अपप्ताम (खि० ३,१९), अपीपदाम (अ०), अवीवृताम (अ०)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— अवीवरत (√वृ "आच्छादित करना", अ०, तै० सं० ५, ६,१,३); इ-प्रत्यय-युक्त रूप— अतीतपे (√तप्, ऋ० १ वार)।

प्र० पु० ब०— अतीतृपन्त (वा० सं० १९,३६), अबीभयन्त, अमीमदन्त, अवीवशन्त, अवीवृधन्त, असिष्यदन्त (√स्यन्द्), असूषुदन्त (तै० स० १,८,१०,२); अडागम-रहित रूप—जीजनन्त।

म० पु० ब०— अवीवृधध्वम्।

चङ्-लुङ् के विमू० लकार के रूप— इस लकार में लगभग ५० रूप परस्मैपद के माने जाते है, और आ० में केवल पांच रूप गिनाये गये हैं।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— चुच्युवत्, तिष्ठिपत्, दीधरत्, दुद्रुवत्, दूदुपत्, नेशत् (ऋ० ६,५४,७; १०,१२८,६), पप्तत् (अ०), पीपरत् (√पृ "पार करना", ऋ०) तथा पीपरंत् (√पृ "पार करना", ऋ०, तै० सं० १,६,१२,३), पीपरत् (√पृ "भरना"), मीमयत् (√मा "ध्वनि करना", ऋ०), रीरधत् (√रन्ध्), रीरुपत्, शिश्रथत्, सिष्वदत्; अ-विकरण-रहित रूप— नूनोत् (√नु "स्तुति करना"), यूयोत् (√यु "पृथक् करना"), सुस्रोत्।

प्र० पु० ब० — चिक्षिपन् (अ०), पप्तन्, रीरमन्, शूशुचन् (वा० सं० ३५,८)।

सप्तमोऽध्यायः

म० पु० ए०— चिक्रदः, चिक्षिपः, जिह्वरः, जीहिपः (√हा "छोड़ना"), तीतृपः (तै० सं० ३,२,५,३), टिटीपः, दिद्युतः, दीधरः, नीनमः, नीनशः, पप्तः, पिस्पृशः, पीपरः (√पृ "पार करना"), बीभिषः (तै० सं० ३,२,५,२), मीमृधः, रीरधः, रीरिपः, वीविजः, शिश्नथः, शिश्रथः, शूशुचः (अ०), सीषधः (√साध्)।

म० पु० द्वि०— जिह्वरतम् (वा० सं० ५,१७) तथा जीह्वरतम् (तै० सं० १,२,१३,२), रीरधतम्।

म० पु० ब०— रीरधत, रीरिपत (ऋ० १,८९,९ = वा० सं० २५, २२)।

उ० पु० ए०— चुक्रुधम्, जीजनम्, दीधरम्।

चङ्-लुङ् के लेट् के रूप— मैक्डानल द्वारा परिगणित √वच् के रूपों को सम्मिलित करने पर भी इस लकार के लगभग एक दर्जन रूप बनते है।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— चीक्लृपाति, पिस्पृशाति, सीषधाति (√साध्)।

म० पु० ए० - तीतपासि (अ०)।

उ० पु० ए०— ररधा ; ब०— चुक्रुधाम, रीरमाम, सीषधाम (√साध्)।

चङ्-लुङ् के विलि० तथा आलि० के रूप— मैक्डानल द्वारा परिगणित १२ रूपों में से ८ √वच् के, २ √च्यु के, और २ √रिप् के हैं। √वच् के रूपों को छोड़ कर शेष रूप निम्नलिखित है—

विधिलिङ्

परस्मैपद

म० पु० ए०— रिरिपेः ; अ-विकरण-रहित— आ० प्र० पु० ब०— चुच्यवीरत ; आ० उ० पु० ब०— चुच्युवीमहि।

आलि० आ० प्र० पु० ए०— रीरिषीष्ट (पपा० रिरिषीष्ट, ऋ० ६,५१,७)

तथा रिरिषीष्ट (ऋ० ८,१८,१३)। दे० अनु० २६२(ग)।

चङ्-लुङ् के लोट् के रूप— √वच् से बने चार रूपों को सम्मिलित करने पर भी चङ्-लुङ् के लोट् के रूप, मैक्डानल के मतानुसार, एक दर्जन से अधिक नहीं हैं और ये सभी रूप परस्मैपद के हैं।

परस्मैपद

प्र० पु० व०— पूपुरन्तु (√पॄ "भरना"), शिश्रथन्तु।

म० पु० द्वि०— जिगृतम् (टि० २८१क, √गॄ "जागना"), दिधृतम्;

व०—जिगृत (टि० २८१क), दिधृत, पुप्तुत (ऋ० १,८८,१), सुषूदत (पपा० सुसूदत, अ० १,२६,४)।

व्याख्यान-विषयक मत-भेद— उपर्युक्त रूपों में से जिन के अभ्यास का स्वर चङ्-लुङ्-सम्बन्धी साधारण नियम के अनुसार है और जिन में अ-विकरण विद्यमान है ऐसे सभी रूप प्रायेण चङ्-लुङ् के माने जाते हैं और उन के व्याख्यान के सम्बन्ध में विशेष मत-भेद नहीं है। परन्तु मैक्डानल ने अ-विकरण-रहित, प्रत्यय (त् तथा स्)-रहित, और लेट्, विलि०, आलि० तथा लोट् के जो रूप चङ्-लुङ् के माने है, उन के व्याख्यान के सम्बन्ध में अनेक मत-भेद मिलते है। व्याख्यान-भेद के अनुसार इन में से कुछ रूप जु० या लिट् के अङ्ग से बने हुए माने जाते हैं। दे० अनु० २५७-२६३; WZR., *s.v.*; Avery, pp. 246ff.; Roots, *s.v.*; Alt. V, pp. 101ff; MWD., *s.v.*; SPW., *s.v.*

४. अनिट्-सिज्लुङ् (s-Aorist) के रूप

२७४. लगभग १४० धातुओं से बने अनिट्-सिज्लुङ् के रूप मिलते हैं, जिन में से लगभग ७० धातुओं के रूप ऋ० मे और लगभग ५० के रूप अ० में उपलब्ध होते है। वैदिकभाषा में इस लुङ् का प्रयोग उत्तरोत्तर कम होता गया है। इस लुङ् का विकरण केवल स् (पा० सिच्[२८६]) है जिस से पूर्व इट् आगम नहीं जुड़ता है।

अङ्ग-विकार के साधारण नियम— इस लुङ् के विकरण स् (पा० सिच्) से पूर्व धातुओं के स्वरों में निम्नलिखित विकार हो जाते हैं—

(१) परस्मैपद में सिच् से पूर्व धातुओं के अन्तिम इ ई, उ ऊ तथा ऋ ॠ को वृद्धि हो जाती है[२८७]; यथा— अजैषम् (√जि), भैषी: (√भी, अ०), अश्रौषीत् (√श्रु, ब्रा०), असार्षम् (√सृ), अतारीत् (√तॄ, मू०)। इसी प्रकार हलन्त धातुओं के इ, उ, ऋ तथा अ को भी वृद्धि हो जाती है[२८८]; यथा— अनैक्षीत् (√निज्, अ०), अछैत्सीत् (√छिद् , ब्रा०), अरौत्सीत् (√रुध् "रोकना", ब्रा०), अमार्क्षीत् (√मृज् , ब्रा०), अवार्क्षी: (√वृज्, ब्रा०), अप्राक्षम् (√प्रच्छ् , अ०)।

(२) आत्मनेपद में सिच् से पूर्व धातुओं के अन्तिम इ ई तथा उ को गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा प्र० पु० ब०— अहेषत (√हि), अनेषत (√नी), अस्तोषत (√स्तु)। परन्तु अधिकतर वैदिक उदाहरणों में सिच् से पूर्व धातु का अन्तिम ऊ अविकृत रहता है, यथा— अधूषत (√धू, ऋ०); और √नु "स्तुति करना" के उ का दीर्घ हो जाता है (या धापा० का √नू है); यथा— अनूषत (ऋ०)। परन्तु उत्तरकालीन उदाहरणों में ऊ का गुण मिलता है; यथा— असोष्ट (√सू, उप०)।

(३) आत्मनेपद में हलन्त तथा ऋकारान्त धातुओं से परे आने वाला अनिट् सिच् पा० के अनुसार किन् माना जाता है[२८९]; और फलस्वरूप (टि० १२) ऐसे धातुओ के स्वर में गुण वृद्धि आदि कोई विकार नहीं होता है; यथा प्र० पु० ब०— असृक्षत (√सृज्), अयुक्षत (√युज्), अवृत्सत (√वृत्), अवृषत (√वृ "वरना", अ० ३, ३.५)। परन्तु धातु के अन्तिम ॠ का इर् और इ का ई बन जाता है (अनु० ६८ख); यथा— अकीर्षत (√कॄ, पं० ब्रा०)।

(४) आत्मनेपद में √स्था और दा-रूप तथा धा-रूप वाले घु-संज्ञक (टि० २४१) धातुओं से परे अनिट् सिच् कित् माना जाता है और

उस से पूर्व इन धातुओं के आ का इ बन जाता है (टि० २४१); यथा— अस्थिषि (ब्रा०) तथा अस्थिषत (ब्रा०), अदिषि (√दा "देना", अ०), अदिषत (अ०), अधिषि (√धा "रखना", ब्रा०), अधिषत (ब्रा०)।

अङ्ग-विकारसम्बन्धी उल्लेखनीय अपवाद— (१) परस्मैपद के कुछेक रूपों में धातु के स्वर को वृद्धि के स्थान पर गुण होता है; यथा— जेष्म (√जि), छेत्सीत् (ब्रा०), रोत्सीः (√रुध्, उप०)। आत्मनेपद के कुछेक रूपों में √सह् के अ का आ बन जाता है; यथा— असाक्षि (ऋ०), साक्षि (ऋ०), साक्षीत् (गो० ब्रा०)। सिच् से पूर्व √वस् "रहना" के स् का त् बन जाता है (अनु० ७८ग); यथा— अवात्सीः (अ०)।

(२) सिच् से पूर्व नकारान्त तथा मकारान्त धातुओं के न् म् का साधारणतया अनुस्वार बन जाता है, परन्तु कुछेक (आत्मनेपदी) रूपों में सिच् को पा० के अनुसार कित् मान कर[२९०], न् म् का लोप हो जाता है (टि० ११०); यथा— अतांसीत् (√तन्, तै० सं०, वा० सं०), अमंस्त (√मन्, वा० सं०), अयांसम् (√यम्); परन्तु अतसि (√तन्, ब्रा०)। √गम् के सभी प्राचीन रूपों मे म् का लोप मिलता है और कुछेक उत्तरकालीन रूपों में अनुस्वार दृष्टिगोचर होता है; यथा— अगस्महि (सं०, ब्रा०), परन्तु अगंस्महि (सू०)।

(३) परस्मैपद में सिच् से पूर्व √दृश् तथा √सृज् की उपधा में अ (पा० अम्) का आगम होता है[२९१], और तदनन्तर सन्धि तथा वृद्धि-नियम (टि० २८८) से क्रमशः अद्राक्ष्- तथा अस्राक्ष्- अङ्ग बनता है; यथा— अद्राक्षीत् (ब्रा०), अस्राक्षीत्। इस प्रकार √पृच् "मिश्रित करना" से अप्राक् (अ०) बनता है।

(४) पा० के मतानुसार, अहूषत, अहूमहि इत्यादि वैदिक प्रयोगों मे √ह्वे को संप्रसारण हो जाता है[२९२], परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इन में √हू मानते है।

सप्तमोऽध्यायः

प्रत्यय— अनिट्-सिज्लुङ् में गौण-प्रत्ययों का प्रयोग होता है। प० के प्र० पु० ब० में केवल उस् प्रत्यय (टि० १४) और आ० के प्र० पु० ब० में अत प्रत्यय (टि० १८) प्रयुक्त होता है। अ०, तै० सं०, वा० सं० तथा ब्राह्मणग्रन्थों मे उपलब्ध बहुत से उदाहरणों में प० के अपृक्त प्रत्यय न् तथा स् से पूर्व ई (पा० ईट्) आगम जोड़ दिया जाता है (टि० १०८), यथा— अजैषीत् (√जि), अतांसीन (तै० सं०, वा० सं०), अग्राक्षीन (ब्रा०), अनैक्षीत् (अ०), भैषीः (अ०), अरात्सीः (√राध्, अ०), अवात्सीः (अ०)। परन्तु ऋ० तथा का० सं० में ईडागम का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। पा० के अनुसार, ऐसे ईडागम-रहित रूपों का समाधान 'बहुल छन्दसि' के द्वारा किया जाता है (टि० १०६)। ईडागम न होने पर कुछ हलन्त धातुओं से परे और कतिपय अन्य रूपों मे प० के अपृक्त प्रत्यय न् तथा स् का लोप माना जाता है, परन्तु ऐसे रूपो के विषय में व्याख्यान-भेद है, जिस का विस्तृत विवेचन अनु० २७५ख में किया जायगा। आ० म० पु० ब० के प्रत्यय **ध्वम्** के धकार का ढकार बन जाता है, यदि ध्वम् ऐसे अङ्ग से परे आये जिस के अन्त मे अआ से भिन्न स्वर हो[१९३]; यथा— **अस्तोढ्वम्** (सिज्लोप, टि० २३६)।

२७५. (क) **आत्मनेपद में सिच् का लोप**—आत्मनेपद मे जब सिच् से पूर्व अङ्ग का अन्तिम वर्ण झल् (अन्तस्थ तथा अनुनासिक स्पर्शों को छोड कर शेष व्यञ्जन) या ह्रस्व स्वर हो और सिच् से परे झलादि प्रत्यय (त, थास्, ध्वम्) आए, तो सिच् का लोप हो जाता है (टि० २३६); यथा— √कृ से अकृत तथा अकृथाः; √चि से अचिध्वम्; और √युज् से अयुक्त, अयुक्थाः, अयुग्ध्वम्।

व्याख्यान-भेद— यहां इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि यद्यपि पा० के अनुसार सिज्लोप वाले रूप अनिट्-सिज्लुङ् के रूपों में सम्मिलित किये जाते हैं, पाश्चात्य विद्वानों में इन के व्याख्यान के सम्बन्ध मे मतभेद है। इस प्रकार के निम्नलिखित रूपों की गणना

ग्रासमैन (WZR., *s.v.*) तथा अवैरी (पृ० २४६-४८) अदा० के लङ् के रूपों में करते हैं—अकृ॑त, अकृ॑थाः, अचि॑ध्वम्. अयु॑क्त, अयु॑क्थाः, अयु॑ग्ध्वम्। अवैरी अमु॑ग्ध्वम् को भी अदा० के लङ् के रूपों मे सम्मिलित करता है, जबकि ग्रासमैन इसे लुङ् का रूप मानता है। यद्यपि ह्विटने तथा मैक्डानल उपर्युक्त रूपो को तथा ऐसे बहुत से अन्य रूपों को लुङ् के मानते है, तथापि कुछ रूपों के वर्गीकरण के विषय में इन विद्वानों मे मतभेद है। ह्विटने (Skt. Gr., pp. 300-301) यह स्वीकार करता है कि आत्मनेपद के जिन रूपों में त, थास् तथा ध्वम् प्रत्यय से पूर्व लुङ् के विकरण स् का लोप हो जाता है उन का वर्गीकरण विकरण-लुग्-लुङ् या अनिट्-सिज्लुङ् में करना विवादास्पद है, परन्तु कहता है कि जिन धातुओं के अन्तिम व्यञ्जन और स् विकरण की सन्धि से क्ष् बनता है उन के रूपो मे यदि लकार-प्रत्यय से पूर्व ष् की अपेक्षा केवल क् हो तो ऐसे रूप विकरण-लुग्-लुङ् के ही माने जा सकते है; यथा—√मुच् से अमुक्थाः तथा अमु॑ग्ध्वम्, अपृक्थाः, अपृक्त, अभ॑क्त, अवृक्त, असृक्थाः तथा असृक्त, रिक्थाः, त्रिक्थाः, तथा विक्त, अरुक्त। इसी प्रकार √युज् से अयुजि, अयु॑क्थाः, अयु॑क्त, अयुज्महि, अयु॑ग्ध्वम् तथा अयु॑ज्रन्; √गम् से अगत इत्यादि, √मन् से अमत इत्यादि और √तन् से अत॑त इत्यादि रूप भी ह्विटने के मतानुसार विकरण-लुग्-लुङ् के है। परन्तु ह्विटने कहता है कि कुछ धातु ऐसे है जिन से बनने वाले रूपो का वर्गीकरण सन्दिग्ध है; यथा- छित्थाः (√छिद्), अतुप्थाः, अनु॑त्त (√नुद्) इत्यादि, भित्थाः (√भिद्), अमत्त, अबुद्ध, अर॑ब्ध (√रभ्) इत्यादि। आगे चल कर (Skt. Gr., p. 315) अनिट्-सिज्-लुङ् के आ० रूपो में सिज्-लोप पर विचार करते हुए ह्विटने कहता है कि यद्यपि वैयाकरणो के अनुसार स् (सिच्) का लोप होता है तथापि इस सम्बन्ध में यह माना जा सकता है कि अनिट्-सिज्लुङ् के इन पुरुषो तथा वचनों के

(अनुपलब्ध) रूपों के स्थान पर विकरण-लुग्-लुङ् के ये रूप प्रस्तुत किये जाते है । मैक्डानल (Ved. Gr., p. 377) के मतानुसार, जिस धातु के आ० उ० पु० ए० के रूप में स् विकरण मिलता है उस से बने प्र० पु० ए०, म० पु० ए० तथा म० पु० व० के रूपों में इस स् का लोप माना गया है; यथा— √भज् से अभक्षि के साथ अभक्त, √पद् से पुत्सि (अ०) के साथ पुत्थाः (अ०), √मुच् से अमुक्षि (अ०) के साथ अमुक्थाः (अ०) । इस प्रकार मैक्डानल (Ved. Gr., p. 379; Ved. Gr. Stu., Appendix I) ने निम्नलिखित रूप अनिट्-सिज्-लुङ् के माने है— अतप्थाः (अ० ६,५,६), अपृक्थाः (अ०), अमुक्थाः (अ०), अपृक्त (√पृच्), अभक्त, अमत्त, अरब्ध, असक्त । अवैरी (पृ० २५३-५४) ने अदा० लङ् में परिगणित पूर्वोद्धृत रूपों को छोड़ कर शेष उपर्युक्त रूप विकरण-लुग्-लुङ् के माने है ।

(ख) **परस्मैपद में सिच् तथा त् स् का लोप**— परस्मैपद के जिन रूपों में प्र० पु० ए० तथा म० पु० ए० के प्रत्यय त् तथा स् से पूर्व ई (पा० ईट् आगम) नहीं जुड़ता है (टि० १०६), उन रूपो में अजन्त अङ्ग से परे आने वाले सिच् से परे त् स् का लोप हो जाता है[२९४]; यथा— प्र० पु० ए०— अजैः (√जि); म० पु० ए०— अचैः (√चि, का० सं० २२,६) । परन्तु कतिपय रूपों में सिच् का लोप हो जाता है और त् प्रत्यय का नहीं ; यथा— अचैत् (√चि, ब्रा०), अजैत् (√जि, ब्रा०), नैत् (√नी, ब्रा०), अश्रैत् (√श्रि, अ०), अहैत् (√हि, अ०) । म० पु० ए० में सिच् या प्रत्यय का लोप मानने से परिणाम समान ही है । जब हलन्त अङ्ग से परे सिच् हो, तब त् स् प्रत्यय (टि० २९४) तथा सिच् (अनु० ७०) दोनो का लोप हो जाता है; यथा—प्र० पु० ए०— अक्रान् (ऋ०, √क्रन्द् ; सायण √क्रम्), अक्षार् (√क्षर्), अचैत् (ऋ०, √चित्; सायण √चि), अच्छान् (√छन्द् , ऋ०), अतान् (√तन् , ऋ०), अत्सार् (√त्सर् , ऋ०),

अद्यौत् (√द्युत्), अद्राक् (√दृश्, ब्रा०), अधाक् (√दह्), अनान् (√नम्, का० सं०), अप्राक् (√पृच्, अ०), अप्राट् (√प्रच्छ्), अभाक् (√भज्), अभार् (√भृ), अमौक् (√मुच्, ब्रा०), अयाट् (√यज्), अयान् (√यम्), आरैक् (पपा० अरैक्, √रिच्), अरौत् (√रुध्), अवाट् (√वह्), अवात् (√वस् "चमकना", अ०; अनु० ७८घ और उसी की टि० १८९), अश्वैत् (ऋ० √श्वित्; सायण √श्वि), अस्कान् (√स्कन्द्, ब्रा०), अस्यान् (√स्यन्द्), अस्राक् (√सृज्, सं०), अस्राट् (√सृज्, ब्रा०), अस्वार् (√स्वृ), अहार् (√हृ, अ०)। म० पु० ए० के कतिपय रूपों में धातु के अन्तिम व्यञ्जन तथा सिच् का लोप प्रतीत होता है; यथा— अयास् (आधुनिक विद्वान् - √यज्; सायण - √या का लङ्; ऋ० ३,२९,१६; ६,८२,५), स्रास् (√सृज्, अ०)। म० पु० ए० के रूप अघ्रास् (√घस्, अ० २०,१२९,१६) में सिच् या प्रत्यय स् का लोप भी माना जा सकता है। प्र० पु० द्वि० तथा म० पु० द्वि० ब० में झलन्त धातु से परे सिच् का लोप हो जाता है (टि० २३९); यथा— √सृज् से अस्राष्टाम्, अस्राष्टम्, अस्राष्ट; √तप् से ताप्तम्।

व्याख्यान-भेद— ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त, आकारान्त धातुओं से बने हुए प्र० तथा म० पु० ए० के रूप— अप्राः तथा अहाः (√हा "छोड़ना", ऋ०, अ०) भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किये जाते है। पा० २, ४,८० (टि० २४४) पर काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार, अप्राः विकरण-लुग्-लुङ् का रूप है; परन्तु सायण (टि० २४९) के अनुसार, यह अदा० लङ् का रूप है। सायण के मतानुसार, अहाः (ऋ०) विकरण-लुग्-लुङ् या अनिट्-सिज्लुङ् का रूप है। अवैरी (पृ० २४७-४८) के मतानुसार, म० पु० ए० के अद्यौत्, अयाः, अवाट् और प्र० पु० ए० का अहार् अदा० लङ् के रूप है, जबकि अप्राः, अक्रान्, अचैत्,

अक्षार्, अत्सार्, अच्छान्, अतान्, अद्यौत्, अधाक्, अप्राट्, अभार्, अयान्, अश्वैत्, अस्यान्, अस्राक्, अस्वार् तथा आरैक् विकरण-लुग्-लुङ् के है (पृ० २५३-५४)। डैल्ब्रिक (Alt. V., pp. 83-100) के मतानुसार भी उपर्युक्त रूप अदा० लङ् या विकरण-लुग्-लुङ् के हो सकते है, परन्तु अनिट्-सिज्लुङ् के नहीं है। हम साधारणतया यह कह सकते हैं कि जिन रूपों में धातु के अच् को वृद्धि हुई है वे रूप अनिट्-सिज्लुङ् के माने जा सकते हैं, क्योंकि धातु के अच् को वृद्धि होना इस लुङ् की प्रमुख विशेषता है।

२७६. **अनिट्-सिज्लुङ् के उपलब्ध रूप**—अनिट्-सिज्लुङ् के अधिकतर उपलब्ध रूप ऊपर उद्धृत किये जा चुके है। उपलब्ध रूपों के आधार पर √जि, √भृ, √सृज्, √बुध्, तथा √स्तु के रूप इस प्रकार बनेंगे—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	अजैः, अजैत्, अजैषीत्;	अजैष्टाम्;	अजैषुः।
म० पु०	अजैः, अजैषीः;	अजैष्टम्;	अजैष्ट।
उ० पु०	अजैषम्;	(अजैष्व);	अजैष्म।
प्र० पु०	अभार्, अभार्षीत्;	अभार्ष्टाम्;	अभार्षुः।
म० पु०	अभार्, अभार्षीः;	अभार्ष्टम्;	अभार्ष्ट।
उ० पु०	अभार्षम्;	(अभार्ष्व);	अभार्ष्म।
प्र० पु०	अस्राक्, अस्राट् (ब्रा०), अस्राक्षीत्;	अस्राष्टाम्;	अस्राक्षुः।
म० पु०	अस्राक्, अस्राक्षीः;	अस्राष्टम् (अ०);	अस्राष्ट।
उ० पु०	अस्राक्षम्;	(अस्राक्ष्व);	अस्राक्ष्म।

आत्मनेपद

प्र० पु०	अबुद्ध ;	अभुत्साताम् ;	अभुत्सत ।
म० पु०	अबुद्धाः ;	अभुत्साथाम् ;	अभुद्ध्वम् ।
उ० पु०	अभुत्सि ;	(अभुत्स्वहि) ;	अभुत्स्महि ।
प्र० पु०	अस्तोष्ट ;	अस्तोषाताम् ;	अस्तोषत ।
म० पु०	अस्तोष्ठाः ;	(अस्तोषाथाम्) ;	अस्तोढ्वम् ।
उ० पु०	अस्तोषि ;	(अस्तोष्वहि) ;	अस्तोष्महि ।

२७७. **अनिट्-सिज्लुङ् के क्रिया-प्रकार-वाचक रूप**—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से विमू०, लेट्, लोट्, विलि० तथा आलि० के रूप भी बनते है।

(क) **विमू० (Injunctive) के रूप**—इस लुङ् के अङ्ग से बने हुए विमू० के बहुत से रूप उपलब्ध होते है और उनका प्रयोग प्रायेण निषेध-वाचक निपात मा के साथ होता है। विमू० के अधिकतर रूप अडागम-रहित लुङ् के समान है, परन्तु प० उ० पु० ए० के रूपों में वृद्धि के स्थान पर प्रायेण गुण मिलता है (जेषम्); √यु का स्वर दीर्घ मिलता है (यूषम्, अ०); प० उ० पु० ए० तथा व० में आकारान्त धातुओं के आ का ए मिलता है (√गा से गेषम् तथा गेष्म); और प० के अन्य पुरुषों में भी कहीं-कहीं वृद्धि के स्थान पर गुण या धातु के आ का ए मिलता है; यथा जेः (म० पु० ए०), स्थेषुः (प्र० पु० व०)। उपलब्ध रूप निम्नलिखित हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०—घान् (√हन्, आप० श्रौ० सू० ६,२१,१), धाक् (√दह्, टि० २५४), भाक् (√भज्), भार् (√भृ), मौक् (मुच्, वा० सं० १,२५); हाः (√हा "छोड़ना"); इडागम-सहित—ताप्सीत् (√तप्, वा० सं० १३,३०), वाक्षीत् (√वह्, अ०), हासीत् (√हा,

तै० सं० ७,३ १३,१) ह्वार्षीत् (√ह्वृ, वा० सं० १,२)।

प्र० पु० ब० - जैषुः (√जि, अ०), धासुः, यौषुः (√यु "पृथक् करना"), स्थेषुः (अ० १६,४,७), हासुः (√हा)।

म० पु० ए०—जैः (√जि, ऋ०), दैः (√दा, मै० सं० ४ ६,१२), भाक् (√भज्), याट् (√यज्), यौः (√यु), ह्वार् (√ह्वृ, वा० सं० १,२); ईडागम-सहित— हासीः (√हा, खि० ४,८, ५; ऐ० आ० २,७)।

म० पु० द्वि० - ताप्तम् (√तप्, वा० सं० ५,३३), यौष्टम् (√यु), स्राष्टम् (√सृज्, अ०)।

म० पु० ब० — नैष्ट (√ना), यौष्ट (√यु), ताप्त (√तप् तै० सं० ३,३,६,१)।

उ० पु० ए०— जेषम् (√जि, वा० सं० ६,१३ इत्यादि), यूषम् (√यु, अ०), स्तोषम्; आकारान्त धातुओं से—गेषम् (√गा "जाना", वा० सं० ५,५) येषम् (√या "जाना"), स्थेषम् (√स्था, वा० सं० २,८)।

उ० पु० ब०—यौष्म (√यु, वा० सं० ४,२२), गेष्म (√गा, अ०), जेष्म (√जि), देष्म (√दा "देना", वा० सं० २,३२)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०—क्षेष्ट (√क्षि "नष्ट करना", अ०), नेष्ट (√नी, अ०), पास्त (√पा "पीना", अ०), मंस्त (√मन्, अ०) मांस्त (√मन्, अ० ११,२,८), मेष्ट (√मी "हिंसा करना", अ०), हास्त (√हा "छोडना", अ०)।

प्र० पु० ब०— धुक्षत (√दुह्), नूषत (√नू "स्तुति करना"), मत्सत (√मद्), मुक्षत (√मुच्), सक्षत (√सच्)।

म० पु० ए०—च्योष्ठाः (√च्यु), छित्थाः (√छिद्, अ०), पत्थाः (√पद्, अ०), भित्थाः (√भिद्, तै० सं० ४,५,६,२), मंस्थाः,

(√मन्, वा० सं० १३,४१ ; अ०), मेष्ठाः (√मी, अ०), रंस्थाः (√रम्, अ०), हास्थाः (√हा "जाना", अ०); द्वि०—सृक्षाथाम् (√सृज्, वा० सं० १६,७)।

उ० पु० ए०— गासि (√गै "गाना"), निक्षि (√निज्, अ०), पत्सि (√पद्, अ०), भक्षि (√भज्, ऋ० ७,४१,२), मेषि (√मी, अ०), यंसि (√यम्), यक्षि (√यज्), वंसि (√वन्), वृक्षि (√वृज्) ; ब०—युत्स्महि (√युध्, अ०), हास्महि (√हा "छोड़ना")।

भारतीय मत—उपर्युक्त अधिकतर रूपों के विषय में कोई मत-भेद नहीं है, परन्तु कुछ रूपों के सम्बन्ध में सायण, महीधर प्रभृति भाष्यकारों का व्याख्यान भिन्न है ; यथा—महीधर के मतानुसार गेषम् (वा० सं० ५,५.) √गै "गाना" से लेट् का रूप है और जेषम् (वा० सं० ६,१३) √जि से लेट् या अङ्-लुङ् का रूप है। सायण के मतानुसार, येषम् (ऋ० २, २७, १६) √येष् का लङ् का रूप है; हाः (ऋ० ३, ५३,२०) √हा का विकरण-लुग्-लुङ् का रूप है ; और गासि (ऋ० ५,२५,१ ; ८,२७,२), भक्षि (ऋ० ७,४१,२), यक्षि (ऋ० १,१०५, १३ इत्यादि) प० म० पु० ए० लट् के रूप हैं। पा० के मतानुसार, हासीत् तथा हासीः सक्-सेट्-सिज्लुङ् के रूप हैं (दे० अनु० २८१)। ऐसे कुछ रूपों में व्याख्यान-भेद के लिये अवकाश अवश्य है, परन्तु अधिकतर रूप असन्दिग्ध हैं।

(ख) **लेट् के रूप**—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से ऋ० में लेट् के बहुत से रूप बनते हैं और इस लेट् के अधिकतर रूप परस्मैपद में मिलते है। आत्मनेपद में इस लेट् के रूप २० से अधिक नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वानों के व्याख्यानानुसार, इस लुङ् के विकरण (सिच्) से पूर्व धातु के स्वर को प्रायेण गुण हो जाता है और प्रायेण गौण प्रत्ययों का प्रयोग होता है। अ० और तै० सं० में उपलब्ध आ० प्र० पु० ए० के कतिपय रूपों में प्रत्यय के

अन्तिम ए के स्थान पर ऐ मिलता है (टि० ४०)। इस लेट् के प्रमुख उपलब्ध रूप निम्नलिखित हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अक्षत् (√अश् "प्राप्त करना", ऋ० १०,११,७), क्षेपत् (√क्षि "रहना"), छन्त्सत् (√छन्द्), जेषत् (√जि), दर्षत् (√दृ "चीरना"), दासत् (√दा "देना"), नक्षत् (√नश् "व्याप्त होना"), नेषति (√नी), नेषत्, पक्षत् (√पच्), पर्षत् (√पृ "पार करना"), पासति (√पा "रक्षा करना"), प्रेषत् (√प्री), भक्षत् (√भज्), भर्षत् (√भृ), मत्सति (√मद्), मत्सत्, यंसत् (√यम्), यक्षत् (√यज्), यासत् (√या), योषति (√यु "पृथक् करना"), योषत्, रासत् (√रा), वंसत् (√वन्), वक्षति (√वह्), वक्षत्, सक्षत् (√सह् तथा √सच् से), स्तोषत् (√स्तु), स्रक्षत् (√सृज्, वा० सं० २१,४६)।

प्र० पु० द्वि०— पासतः (√पा "रक्षा करना"), यंसतः (√यम्), यक्षतः (√यज्), योषतः (√यु, अ०), वक्षतः (√वह्)।

प्र० पु० ब०— पर्षन् (√पृ "पार करना"), यंसन् (√यम्), रासन् (√रा), वक्षन् (√वह्), शेषन् (√शी, ऋ० १,१७४,४), श्रोषन् (√श्रु)।

म० पु० ए०— जेषः (√जि), दर्षसि (√दृ "चीरना"), वक्षः (√वह्); द्वि०— दासथः (√दा), धासथः (√धा), पर्षथः (√पृ "पार करना"), वक्षथः (√वह्, अ०), वर्षथः (√वृ "आच्छादित करना"); ब०— धासथ, नेषथ (√नी), पर्षथ, मत्सथ (√मद्)।

उ० पु० ए०— स्तोषाणि (√स्तु); ब०— जेषाम (√जि), वंसाम (√वन्), साक्षाम (√सह्), स्तोषाम।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— क्रंसते (√क्रम्), त्रासते (√त्रै), दर्षते (√दृ "चीरना"), मंसते (√मन्), यंसते (√यम्), यक्षते (√यज्), रासते (√रा), वंसते (√वन्), साक्षते (√सह्); मासातै (√मा "नापना", अ०), मंसतै (तै० सं० ७,४,१५,१)।

प्र० पु० व०— नंसन्ते (√नम्), मंसन्ते (√मन्)।

म० पु० ए०— दृक्षसे (√दृश्), पृक्षसे (√पृच्), मंससे (√मन्); द्वि०— त्रासाथे (√त्रै)।

उ० पु० ए०— नंसे (√नम्, ऋ० ३,३३,१०), मंसै (√मन्)।

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरणों तथा भाष्यकारों के मतानुसार भी उपर्युक्त अधिकतर रूप लेट् के हैं। परन्तु वे इन्हें अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से बने हुए नहीं मानते है और कहते हैं कि ऐसे रूपों में लेट् का प्रत्यय परे रहते हुए, धातु से परे स् (पा० सिप्) विकरण जोड़ा जाता है[२५५], जिस से धातु के स्वर को गुण हो जाता है (टि० ११क)।

(ग) लोट् के रूप— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार लोट् के निम्नलिखित रूप अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से बनते हैं—

परस्मैपद

म० पु० ए०— नेष (√नी, अ०), पर्षि (√पृ "पार करना", ऋ०)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— रासताम् (√रा); व०— रासन्ताम्।

म० पु० ए०— साक्ष्व (√सह्); द्वि०— रासाथाम्।

प्र० पु० द्वि०, म० पु० द्वि० तथा म० पु० व० के रूप विमू० तथा लोट् में भिन्न नहीं हैं और ऐसे जिन रूपों के साथ मा का प्रयोग मिलता है उन्हें विमू० में सम्मिलित करना उचित है।

सप्तमोऽध्यायः

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरणों तथा भाष्यकारों के मतानुसार, लुङ् के अङ्ग से नहीं, अपितु लोट् में धातु से परे स् (पा० सिप्) विकरण जुड़ने से (टि० २९५– वार्तिक तथा महाभाष्य) और गण-विकरण का लुक् (टि० ९५) होने से ऐसे रूप बनते हैं। पतञ्जलि (टि० २९५) ने इस सम्बन्ध में √नी से बने नेषतु तथा नेष्टात् उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, परन्तु वह एक अन्य मत भी उपस्थित करता है जिस के अनुसार ऐसे रूप षकारान्त धातु √नेष् इत्यादि के भी हो सकते हैं[२९६]। इस मत का अनुकरण करते हुए सायण रासन्ताम् (ऋ० १०, ६५,३) में सकारान्त √रास् मानता है, जबकि रासाथाम् (ऋ० १,४६,६) को √रा से बना अनिट्-सिज्लुङ् का रूप मानता है। स्-विकरण वाले ऐसे अनेक रूपों का समाधान करने के लिये प्राचीन भाष्यकार सकारान्त धातुओं की कल्पना करते हैं।

(घ) **विलि० तथा आलि० के रूप**—ह्विटने तथा मैक्डानल अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से विलि० के निम्नलिखित रूपों की रचना मानते है और कहते हैं कि केवल भक्षीत (सा० १,१,२,४,२) को छोड़ कर प्र० तथा म० पु० ए० के रूपों में प्रत्यय से पूर्व आलि० का विशेष स् मिलता है (अनु० २२०)। ये सभी रूप आत्मनेपद के हैं—

प्र० पु० ए०— दुर्षीष्ट (√दृ "चीरना"), भक्षीत (√भज्), भंक्षीष्ट, मंसीष्ट (√मन्), मृक्षीष्ट (√मृच्); ब०—मंसीरत (√मन्)।

म० पु० ए०— मंसीष्ठाः (√मन्), द्वि०—त्रासीथाम् (√त्रै)।

उ० पु० ए०— दिषीय (√दो, ऋ०), धेषीय (मै० सं०) तथा धिषीय (√धा, ब्रा०)[२९७], भक्षीय (√भज्), मसीय (√मन्), मुक्षीय (√मुच्), रासीय (√रा), साक्षीय (√सह्, अ०), स्तृषीय (√स्तृ, अ०)।

उ० पु० ब०— धुक्षीमहि (√दुह्, तै० सं० १,६,४,३), भक्षीमहि (√भज्), मंसीमहि (√मन्), वंसीमहि तथा वसीमहि (√वन्, ऋ०), सक्षीमहि (√सच्)।

ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, आलि० के रूप वास्तव में विलि० के ही भिन्न रूप हैं जिन के प्र० पु० ए० तथा म० पु० ए० के प्रत्यय से पूर्व विशेष स् का आगम होता है (अनु० २८५)।

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, उपर्युक्त रूप आलि० (अनु० २२०) के है, परन्तु भक्षीत, त्रासीथाम् इत्यादि रूपों में साधारण नियम का अपवाद अवश्य मिलता है।

२७८. (क) **से (षे) अन्त वाले उ० पु० ए० के रूप**— ऋ० में आ० उ० पु० ए० लट् के कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जिन के अन्त में से (षे) आता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार[२१८], ऐसे रूप निम्नलिखित है— अर्चसे ("अर्चना करता हूं", ऋ० १०,६४,३), यजसे ("यजन करता हूं", ऋ० ८,२५,१); ऋञ्जसे ("प्रसाधन करता हूं", ५ वार); गायिषे ("गाता हूं", ऋ० ७,९६,१); गृणीषे ("स्तुति करता हूं", ११ वार), पुनीषे ("पवित्र करता हूं", ऋ० ७,८५,१); कृषे ("करता हूं", ऋ० १०,४९,७), हिषे ("भेजता हूं", ऋ० ७,७,१), स्तुषे ("स्तुति करता हूं", २० बार)। पाश्चात्य विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इन रूपों में लट् का ही अर्थ और प्रत्यय है। परन्तु इन रूपों के अङ्ग के विषय में मत-भेद है। ग्रासमैन अर्चसे तथा कृषे में लुङ् का अङ्ग और अन्य रूपों में द्विगुणित अङ्ग (Doppelstamm) अर्थात् लट्-लुङ् (Präsent-Aorist) अङ्ग मानता है। अन्य विद्वान् इन रूपों में लुङ् का अङ्ग तो नहीं मानते परन्तु स्-विकरण की सत्ता को स्वीकार करते हैं। सायण के मतानुसार, अर्चसे, गायिषे तथा यजसे म० पु० ए० के रूप हैं, परन्तु अन्य रूप उ० पु० ए० के हैं— गृणीषे तथा स्तुषे का एक-एक प्रयोग म० पु० ए० का माना जाता है। गृणीषे तथा स्तुषे के उ० पु० ए० के प्रयोगों का समाधान करने के लिये सायण प्रायेण पुरुष-व्यत्यय का आश्रय लेता है या "तिङां तिङो भवन्ति" के द्वारा उ० पु० ए० के प्रत्यय का से- आदेश मानता है। परन्तु ऋ० १,४६,१

तथा ८,७,३२ में सायण √स्तु से सिप्-विकरण (टि० २९५) मानता है।

(ख) **प्र० पु० ए० के रूप**— कर्मवाच्य के ऐसे दो रूप प्र० पु० ए० में भी प्रयुक्त होते है— चर्कृषे (√कृ का यङ्-लुगन्त, ऋ०), स्तुषे (ऋ० १, १२२,७ ग्रासमैन; ऋ० ८,६५,५ सायण)।

(ग) **शत्रन्त तथा शानजन्त रूप**— ग्रासमैन, ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से निम्नलिखित शत्रन्त तथा शानजन्त रूप भी ऋ० में बनते है—

शत्रन्त रूप— √दह् से २ बार दक्षत् (पपा० धक्षत्) तथा १ बार धक्षत्। सायण ऋ० १,१३०,८ के दक्षत् को लेट् का रूप मानता है और अन्यत्र शत्रन्त ही समझता है। ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् तीनों प्रयोगों को शत्रन्त मानते हैं। √सह् से सक्षत् बनता है।

शानजन्त रूप— अर्शसान "चोट पहुंचाता हुआ", ओहसान (√ऊह्), ऋञ्जसान (√ऋञ्ज्), श्रयसान (√श्रि), धियसान (√धी), मन्दसान (√मन्द्), यमसान (√यम्), रभसान (√रभ्), वृधसान (√वृध्), शवसान, सहसान (√सह्); अ० में— नमसान (√नम्) तथा भियसान (√भी)। इन सब रूपों में स् से पूर्व धातु के साथ अ जुड़ता है, परन्तु धीषमाण (√धी "ध्यान करना", ऋ०) में स् से परे अ जुड़ता है।

असानच् प्रत्यय— उणादि सूत्रों के अनुसार[२९९], उपर्युक्त रूपों में असानच् प्रत्यय जुड़ता है; अर्शसान में √ऋ "जाना" के साथ असानच् से पूर्व श् का आगम हुआ है; शवसान में √शु धातु है; और जरसान "बूढ़ा होता हुआ" में भी असानच् प्रत्यय माना गया है। सायण प्रायेण उणादि-सूत्रों के अनुसार व्याख्यान करता है, परन्तु शवसान को शव "बल" के नामधातु का रूप मानता है। पाश्चात्य विद्वान् अर्शसान में √अर्श् मानते हैं।

५. सेट्-सिज्लुङ् (iṣ-Aorist)

२७९. वैदिक भाषा में लगभग १५० धातुओं से बने हुए सेट्-सिज्लुङ् के रूप उपलब्ध होते हैं। ऋ० में लगभग ८० धातुओं से और अ० में लगभग ३० धातुओं से बने हुए सेट्-सिज्लुङ् के रूप मिलते हैं।

अङ्ग— सेट्-सिज्लुङ् के अङ्ग में धातु से परे स् (पा० सिच्) विकरण से पूर्व इ (पा० इट्) आगम जुड़ता है[300] और फलतः विकरण का अन्तिम रूप -इष् बन जाता है (अनु० ६२ग)। परस्मैपद में -इष् से पूर्व धातु के अन्तिम स्वर को वृद्धि हो जाती है (टि० २८७) यथा— अरावीत् (√रु), अपाविषुः (√पू), अभारिषम् (√भृ, अ०), तारीत् (√तॄ); और √वद्, √व्रज् (टि० २८८) तथा रेफान्त और लकारान्त धातुओं की उपधा के अ का आ बन जाता है[301]; यथा— अवादीत्, अव्राजीत् (ब्रा०), अचारिषम्, अज्वालीत् (ब्रा०)। जिन हलादि धातुओं के अ से परे संयुक्त व्यञ्जन न हों उन के रूपों में अ की वृद्धि पा० के अनुसार वैकल्पिक है[302]; यथा— अकानिषम् (√कन्), असानिषम् (√सन्)। परन्तु ह्विटने (Skt. Gr., p. 320) के मतानुसार, वैदिक भाषा में निम्नलिखित धातुओं के अ को वृद्धि होती है— √कन्, √तन्, √रन्, √स्तन्, √स्वन्, √ह्नन्, √सद्, √मद्, √दस्, √त्रस्। परस्मैपद में -इष् से पूर्व धातु की उपधा के लघु स्वर (इ, उ, ऋ) को और हकारान्त, मकारान्त तथा यकारान्त धातुओं के अ को वृद्धि नहीं होती है[303] और उपधा के इ उ ऋ को गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा— अयोधीत् (√युध्), अग्रभीत्। आत्मनेपद में -इष् से पूर्व धातु के स्वर को गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा— अनविष्ट (√नु), अरोचिष्ट (वा० सं० ३७,१५); परन्तु नुदिष्ठाः (अ०) में गुण का अभाव है।

विशेष— √ग्रभ् (√ग्रह्) से परे लिङ्भिन्न प्रत्यय के इडागम का इ दीर्घ बन जाता है[304]; यथा— अग्रभीत्, अग्रहीत् (अ०)। कुछ रूपों में

वृद्धि के स्थान पर गुण मिलता है ; यथा— अनयीत् (√नी, अ०), अशरीत् (√शॄ, अ०)।

प्रत्यय तथा सिज्लोप— सेट्-सिज्लुङ् के प्रत्यय सर्वथा अनिट्-सिज्लुङ् के प्रत्ययों के समान हैं। एक-मात्र भेद यही है कि प० के प्र० तथा म० पु० ए० में स्- विकरण का लोप हो जाता है[३०५]; यथा— अकारीत्, अक्रमीः।

विशेष— प० उ० पु० ए० के कुछेक रूपों में अम् प्रत्यय का केवल म् (पा० मश्) रहता है (टि० १७) और म् से पूर्व ई (पा० ईट्) का आगम (टि० १०९) और सिच् का लोप (टि० ३०५) हो जाता है; यथा— अक्रमीम् (ऋ०), अग्रभीम् (तै० सं०), वधीम् (ऋ०)। ऐ० ब्रा० में अग्रहैषम् रूप भी मिलता है। उ० पु० ब० के अतारिम (ऋ०) में भी सिज्लोप मिलता है, अशरैत् (√शॄ, अ०) में ई के स्थान पर ऐ मिलता है।

उपलब्ध रूप— ऊपर उद्धृत रूपों के अतिरिक्त प्रमुख उपलब्ध रूप निम्न-लिखित है—

परस्मैपद

प्र० पु० ए० — अक्रमीत्, अतारीत् (√तॄ), अदृंहीत् (मै० सं० ४ १३,८), अमन्दीत्, अवधीत्, अवर्षीत् (√वृष्, अ०), अशंसीत् (√शंस्), अस्तानीत् (√स्तन्, अ०), आवीत् (√अव्), आशीत् (√अश् "खाना")।

प्र० पु० द्वि०— अमन्थिष्टाम्, जनिष्टाम्।

प्र० पु० ब०— अतक्षिषुः, अतारिषुः, अनर्तिषुः, अनिन्दिषुः, अमन्दिषुः, असादिषुः, अराणिषुः (√रण्, अ०), आनिषुः (√अन्, अ०, तै० सं०), आविषुः (√अव्)।

म० पु० ए०— अक्रमीः, अदृंहीः (वा० सं० ६,२), अवधीः, अवर्षीः, आशीः (√अश् "खाना", अ०), औक्षीः (√उक्ष्)।

उ० पु० ए०— अकारिषम्, अक्रमिषम्, अचायिषम् (√चाय्, अ०), अवधिषम् (अ०), अवादिषम् (अ०), आशिषम् (√अश् "खाना", अ०)।

उ० पु० ब०— अग्रभीष्म, अतारिष्म, अवधिष्म (वा० सं० ६,३८)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— अक्रपिष्ट (√क्रप्), अजनिष्ट, अधाविष्ट, अप्रथिष्ट, अवसिष्ट (√वस् "पहनना"), अशमिष्ट, असहिष्ट, औहिष्ट (√ऊह्), मन्दिष्ट।

प्र० पु० द्वि०— अमन्दिषाताम्; ब०— अगृभीषत (वा० सं० २१, ६०)।

म० पु० ए०— अजनिष्ठाः (अ०), अशमिष्ठाः, अशयिष्ठाः, अश्रमिष्ठाः।

२८०. **सेट्-सिज्लुङ् के क्रिया-प्रकारवाचक लकार**— पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार, सेट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से विमू०, लेट्, लोट् तथा विलि० के निम्नलिखित रूप भी बनते है।

(क) **विमू० के रूप**— इस के अधिकतर रूप परस्मैपद के प्र० तथा म० पु० के ए० और ब० में मिलते हैं, और आत्मनेपद के रूप प्रायेण एक० वचन के हैं।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अशीत् (√अश् "खाना"), गारीत् (√गृ), चारीत्, जीवीत् (अ०), तारीत्, दासीत् (√दस् "नष्ट करना"), मथीत्, वधीत् (तै० सं० ४,२,६,१; वा० सं० १३,१६), वेशीत्, स्तानीत्, हिंसीत्।

प्र० पु० ब०— जारिषुः (√जृ), जीविषुः (अ०), तारिषुः (अ०), वधिषुः (अ०), वादिषुः (अ०), हिंसिषुः (अ०)।

म० पु० ए०— अवीः (√अव्), क्रमीः (अ०), जीवीः (अ०), तारीः, मथीः, मर्धीः, मोपीः, यावीः (√यु), योधीः, रक्षीः (अ०), रन्धीः, लेखीः (वा० सं० ५,४३), वधीः, शोचीः (वा० सं० ११,४५), सावीः, स्फारीः, हिंसीः (अ०, वा० सं०); शूरैः (√शॄ, अ०)।

म० पु० द्वि०— तारिष्टम्, मर्धिष्टम्, हिंसिष्टम् (अ०, वा० सं०)।

म० पु० ब० — अमीष्ट, वधिष्ट, हिंसिष्ट (अ०, तै० सं०); मथिष्टन (अ०), रणिष्टन, वधिष्टन।

उ० पु० ए०— शंसिषम्, हिंसिषम् (वा० सं० १,२५);

ब०— श्रमिष्म।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०—क्रमिष्ट, जनिष्ट, पनिष्ट, पविष्ट, प्रथिष्ट, व्राधिष्ट, मन्दिष्ट।

म० पु० ए०— क्षणिष्ठाः (अ०), नुदिष्ठाः (अ०), मर्षिष्ठाः (√मृष्), वधिष्ठाः (खि० २.११,३), व्यथिष्ठाः (अ०)।

उ० पु० ए०— राधिषि (अ०); ब०— व्यथिष्महि (अ०)।

(ख) लेट् के रूप— लेट् के अधिकतर रूप परस्मैपद के प्र० तथा म० पु० ए० में गौण प्रत्ययों के साथ मिलते है। परस्मैपद ब० के रूप अत्यल्प है। आ० के चारों रूप केवल ब० के हैं। लेट् में -इष् से परे अ (पा० अट्) जुडता है (टि० ३४)।

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— कारिषत्, जम्भिषत्, जोषिषत्, तारिषत्, निन्दिषत् (अ०), पारिषत् (√पॄ), बोधिषत्, मर्धिषत्, याचिषत्, योधिषत्, रक्षिषत्, वनिषत् (अ०), व्यथिषत् (वा० सं० ६, १८), शंसिषत् (तै० सं० ५,६,८,६), सनिषत्, साविषत् (√सू "प्रेरित करना", ऋ०, अ०)।

प्र० पु० ब०— सनिषन् (अ० ५,३,५)।

म० पु० ए०— अविषः (√अव्), कानिषः (√कन्), तारिषः, रक्षिषः, वधिषः, वादिषः (अ०), वेविषः, शंसिषः।

उ० पु० ए०— दुविषाणि[306] (ऋ० १०,३४,५)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ब०— वनिषन्त (तै० सं० ४,७,१४,१=ऋ० १०,१२८,३- वनुषन्त), सनिषन्त।

उ० पु० ब०— याचिषामहे, सनिषामहे।

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, इन रूपों में स् (पा० सिप्) विकरण जुड़ता है (टि० २९५); और जिन रूपों में धातु के स्वर को वृद्धि हुई है (कारिषत् इत्यादि) उन में सिप् को णित् मान कर[307], वृद्धि का समाधान किया जाता है (टि० १९७-१९८)। परन्तु लुङ् के अङ्ग से इन रूपों का कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता है।

(ग) **लोट् के रूप**— लोट् के रूप अत्यल्प है और केवल प० में मिलते है। ऐसे अधिकतर रूप √अव् से बने हुए है। केवल प्र० तथा म० पु० ए० के रूप निश्चय से लोट् के माने जा सकते है, जबकि प्र० पु० द्वि० और म० पु० द्वि० तथा ब० के रूप विमू० के रूपों से भिन्न नहीं है।

प्र० पु० ए०— अविष्टु (√अव्); द्वि०— अविष्टाम्।

म० पु० ए०— अविड्ढि (√अव्); द्वि०— अविष्टम्, क्रमिष्टम्, गमिष्टम्, चनिष्टम्, चयिष्टम् (√चि), योधिष्टम्, वधिष्टम्, श्नथिष्टम्; ब०— अवित (=अविष्ट, ह्विटने, मैक्डानल), अविष्टन, श्नथिष्टन।

भारतीय मत— प्र० पु० द्वि० और म० पु० द्वि० तथा ब० के रूप, भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार भी, अडागमरहित सेट्-सिज्लुङ् के होते हुए लोट् के अर्थ में प्रयुक्त हो सकते है। सायण के मतानुसार, अविष्टु तथा अविड्ढि लोट् के रूप हैं जिन में √अव् से परे सिप् (टि० २९५) विकरण और सिप् को इडागम (टि० ३००) हुआ है।

(घ) **विलि० (आलि०) के रूप**— ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, सेट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से विलि० के निम्नलिखित रूप बनते हैं जो सभी आत्मनेपद के है—

प्र० पु० ए०— जनिषीष्ट , वनिषीष्ट ।

म० पु० ए०— मोदिषीष्ठाः (√मुद् , अ०) ।

उ० पु० ए०— इन्धिषीय (तै० सं०), एधिषीय (अ०), ग्मिषीय (वा० सं० ३,१६; उपधा-लोप टि० १११), जनिषीय (अ०) तथा का० सं० में जनिषेय और प० जनिषेयम् , रुचिषीय (अ०) तथा रोचिषीय (ब्रा०); **द्वि०**— सहिषीवहि (अ०); **ब०**—एधिषीमहि (अ०), जनिषीमहि, तारिषीमहि, मन्दिषीमहि (वा० सं० ४, १४; तै० सं० १,२, ३,१), वन्दिषीमहि, वर्धिषीमहि (वा० सं०), सहिषीमहि (अ०) तथा साहिषीमहि (ऋ०, पपा०- सहिषीमहि) ।

भारतीय मत— भारतीय वैयाकरण इन रूपों में सेट्-सिज्लुङ् के अङ्ग की सत्ता को स्वीकार नहीं करते है और इन्हें आलि० के रूप मानते है । दे० अनु० २८५ ।

६. सक्-सेट्-सिज्लुङ् (siṣ-Aorist)

२८१. यह लुङ् वास्तव में सेट्-सिज्लुङ् का ही एक भेद है । पा० के अनुसार परस्मैपद में √यम् , √रम् , √नम् तथा आकारान्त अङ्ग को सक् (स्) का आगम होता है और इन से परे सिच् को इट् का आगम होता है[३०८] । ऋ० में केवल √गै "गाना" तथा √या "जाना" से; अ० में √ज्ञा, √हा "छोड़ना", √प्यै "भरना" तथा √वन् "जीतना" से; और ब्रा० में √ज्ञा, √ज्या, √द्रा, √ध्यै, √वा तथा √ह्वे से बने हुए रूप मिलते हैं । पाश्चात्य विद्वान् आलि० के आ० रूपों को इस लुङ् में सम्मिलित करते हैं, अन्यथा इस में आ० का कोई रूप नहीं है और पा० के मतानुसार बन भी नहीं सकता ।

पा० के मतानुसार, प्र० तथा म० पु० ए० के रूपों में सिच् का लोप हो कर (टि० ३०५) केवल सक् का स् अवशिष्ट रहता है; यथा— √हा से हासीत् (तै० सं० ७,३,१३,१; अ०); हासीः (खि० ४,८,५)। मैक्डानल प्रभृति कतिपय विद्वान् ऐसे रूपों को अनिट्-सिज्लुङ् के मानते है। परन्तु ह्विटने (Roots, *s.v.*) ने अगासीत् इत्यादि रूप लुङ् के इस भेद में गिनाये है।

उपलब्ध रूप— प्र० पु० ए०—अगासीत् ; **द्वि०**— अज्ञासिष्टाम् (ब्रा०), अयासिष्टाम् (वा० सं० २८,१४); व०— अगासिषुः (√गै "गाना"), अयासिषुः, आशिषुः (ऋ० १,१६३,१०; √अश् "व्याप्त करना"— ग्रासमैन, डैल्ब्रिक तथा मोनियर विलियम्स; परन्तु √अक्ष् "व्याप्त करना"— ह्विटने तथा मैक्डानल)।

म० पु० व०— अज्ञासिष्ट (ब्रा०), अयासिष्ट।

उ० पु० ए०— अगासिषम्, अज्ञासिषम्, अध्यासिषम्, अयासिषम्।

२८२. सक्-सेट्-सिज्लुङ् के क्रिया-प्रकार-वाचक लकार— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इस लुङ् के अङ्ग से विमू०, लेट्, लोट् तथा विलि० के निम्नलिखित रूप बनते है—

(क) **विमू० के रूप** - प्र० पु० द्वि०— हासिष्टाम् (अ०); व०—हासिषुः (अ०)।

म० पु० द्वि०— हासिष्टम्; व०— हासिष्ट (अ०)।

उ० पु० ए०— रंसिषम् (सा०)। इन के विषय में भारतीय मत भी भिन्न नहीं है।

(ख) **लेट् के रूप**— प्र० पु० ए०— गासिषत् (√गै, ऋ०), यासिषत् (ऋ०)।

(ग) **लोट् के रूप**— ह्विटने तथा मैक्डानल स्वर-वैशिष्टच के आधार पर म० पु० द्वि० यासिष्टम् तथा म० पु० व० यासीष्ट (ऋ० १,१६५, १५) को लोट् के रूप मानते हैं। सायण प्रभृति भारतीय विद्वान् इन्हें

लुङ् के अडागम-रहित (विमू०) रूप मानते हैं ।

(घ) **विलि० (आलि०) के रूप**— ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, इस लुङ् के अङ्ग से विलि० के निम्नलिखित रूप बनते है—

म० पु० ए०— यासिसीष्ठाः (ऋ० ४,१,४)।

उ० पु० ए०— वंसिषीय (√वन्, अ० ६,१.१४ पर ह्विटने की टि० में संशोधित; परन्तु पाण्डुलिपियों में वंशिषीय पाठ है); **ब०**—प्यासिषीमहि (√प्यै, वा० सं० २,१४; श्रौ० सू०; अ० ७,८१,५ पर टि० में ह्विटने द्वारा और भाष्य में सायण द्वारा प्याशिषीमहि का संशोधित रूप; मै० सं० ४,६,१० तथा आप० श्रौ० सू० में प्यायिसीमहि)।

भारतीय मत— पा० ३,१,३४ पर महाभाष्य के व्याख्यान में कैयट तथा नागेश यासिसीष्ठाः को (√या के) आलि० का रूप मानते है और कहते है कि उक्त सूत्र द्वारा आलि० के रूप में भी सिप् का उत्सर्ग करना चाहिये। परन्तु ऋ० ४,१,४ पर सायण यासिसीष्ठाः को √यस् के णिजन्त का आलि० मान कर जो समाधान प्रस्तुत करता है वह समीचीन प्रतीत नही होता है। अ० ७,८१,५ के सायण-भाष्य के अनुसार, प्यासिषीमहि √प्याय् का आलि० है, जिस में सिप् विकरण (टि० २९५) और धातु के अन्तिम य् का लोप हो गया है। परन्तु धातु-पाठ के √प्यै से इस रूप की सिद्धि सरल है, इस लिये √प्याय् मान कर य् का लोप करना व्यर्थ है। भारतीय विद्वानों के मतानुसार, वंसिषीय में भी उक्त सिप् विकरण है और यह आलि० का रूप है।

७. क्स-लुङ् (sa-Aorist)

२८३. जिन धातुओं की उपधा में इ उ ऋ में से कोई स्वर हो और जिन के अन्त में श् ष् ह् में से कोई वर्ण हो, लुङ् में उन से परे स (पा० क्स) विकरण जुड़ता है[३०१]; और ऐसे अडागम-रहित रूपों में आख्यात का उदात्त स पर रहता है। इस लुङ् में धातुओं के रूप तुदा० के

लङ् के रूपों के समान बनते हैं और धातु के स्वर को गुण या वृद्धि नहीं होती है। ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, वैदिक भाषा में √यज्, √मृज् तथा √वृज् जकारान्त धातुओं से भी इस लुङ् के रूप बनते हैं। संहिताओं में निम्नलिखित १० धातुओ से क्स-लुङ् के रूप बनते है—√मृज्, √यज्, √वृज्, √क्रुश्, √मृश्, √स्पृश्, √द्विष्, √गुह्, √दुह् तथा √रुह्। ब्रा० में √कृष्, √दिश्, √दिह्, √दृश्, √द्रुह्, √पिष्, √मिह्, √विश्, √वृह्। अधिकतर रूप परस्मैपद के है और आत्मनेपद के रूप केवल प्र० पु० ए० तथा ब० में मिलते है।

परस्मैपद

उपलब्ध रूप— प्र० पु० ए०— अक्रुक्षत् (√क्रुश्), अघुक्षत् (√गुह्), अधुक्षत् (√दुह्) तथा अदुक्षत् (पपा० अधुक्षत्), अमृक्षत् (√मृश्, अ०), अरुक्षत् (√रुह्), अस्पृक्षत् (√स्पृश्, अ०, वा० सं० २८,१८)।

प्र० पु० ब०— अधुक्षन् (√दुह्), दुक्षन् (पपा० धुक्षन्) तथा धुक्षन् (√दुह्)।

म० पु० ए०— अधुक्षः (√दुह्, वा० सं० १,३); अरुक्षः (√रुह्, अ०), रुक्षः (√रुह्, अ०)।

उ० पु० ए०— अवृक्षम् (√वृह्); **ब०**— अमृक्षाम (√मृज्), अरुक्षाम (√रुह्, अ०)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— अधुक्षत, दुक्षत (पपा० धुक्षत) तथा धुक्षत (√दुह्); **ब०**— अमृक्षन्त (√मृज्)।

विमू० के रूप— परस्मैपद— प्र० पु० ए०— द्विक्षत् (√द्विष्, अ०)।

म० पु० ए०— दुक्षः (√दुष् या √दुह्), मृक्षः (√मृश्); **ब०**— मृक्षत (√मृश्)।

सप्तमोऽध्यायः

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— दुक्षत (पपा० धुक्षत) तथा धुक्षत (√दुह्), द्विक्षत (√द्विष्, अ०); ब०— धुक्षन्त (√दुह्)।

लेट् के रूप— ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, क्स-लुङ् के अङ्ग से लोट् के निम्नलिखित रूप बनते हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० द्वि०— यक्षताम् (√यज्)।

म० पु० द्वि०— मृक्षतम् (√मृज्)।

आत्मनेपद

म० पु० ए०— धुक्षस्व (√दुह्)।

भारतीय मत—भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, मृक्षतम् लुङ् का अडागम-रहित रूप है और इस का प्रयोग लोट् के अर्थ में (विमू० के समान) अवश्य है; और यक्षताम् लेट् का रूप है जिस में सिप् विकरण (टि०२९५) प्रयुक्त हुआ है। धुक्षस्व में भी सिप् विकरण (टि०२९५) के साथ क्स का आगम माना जा सकता है।

२८४. लुङ् में √कृ का अनुप्रयोग— कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों में कुछ ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिन में कतिपय धातुओं के णिजन्त अङ्ग के साथ आम् प्रत्यय जोड़ कर √कृ के लुङ् रूप का अनुप्रयोग किया जाता है[३१०]; यथा— अभ्युत्सादयाम् अकर् (मै० सं० १,६,५), प्रजनयाम् अकर् (मै० सं० १,६,१०.८,५), स्वदयाम् अकर् (मै० सं०), स्थापयाम् अकर् (मै० सं०), रमयाम् अकर् (का० सं० ७,७), विदाम् अक्रन् (तै० सं० ३,५,१०,२; मै० सं० १,४,७; तै० ब्रा०), चिकयाम् अकर् (√चि "चयन करना")।

आशीर्लिङ् (Precative or Benedictive)

२८५. भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, सभी धातुओं से आलि० के रूप बन सकते हैं। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं (अनु० २२०), आशीर्लिङ् के सभी प्रत्यय परस्मैपद तथा आत्मनेपद में विलि० के प्रत्ययों के समान हैं; और मुख्य भेद यही है कि आलि० के कुछ प्रत्ययों से पूर्व स् आगम जुड़ता है। इस सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि आलि० वास्तव में विलि० का ही एक रूप-भेद है; जिस के कुछ पुरुषों तथा वचनों में विलि० के विकरण के पश्चात् और तिङ्-प्रत्यय से पूर्व स् आगम जोड़ा जाता है; और जिस के रूप प्रायेण लुङ्वर्ग के अङ्ग से बनते हैं[311], इन विद्वानों के मतानुसार, आलि० के परस्मैपद के (लगभग ३०) रूप विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से बनते हैं (अनु० २६६ङ) और ये रूप प्र०, म० तथा उ० पु० के ए०; म० पु० द्वि०; और म० तथा उ० पु० के व० में मिलते हैं। आलि० के आत्मनेपद के अधिकतर रूप अनिट्-सिज्लुङ् तथा सेट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से बने हुए माने जाते है (अनु० २७७घ; २८०घ) और केवल दो रूप विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से (अनु० २६६ङ), एक रूप अङ्-लुङ् के अङ्ग से (अनु० २६९घ), एक रूप चङ्-लुङ् के अङ्ग से (अनु० २७३) और तीन रूप सक्-सेट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से (अनु० २८२घ) बने हुए माने जाते है। इसी प्रकार सासहिष्ठाः लिट् के अङ्ग से बना हुआ माना जाता है (अनु० २६२ग)।

उत्तरकालीन संस्कृत में आलि० परस्मैपद के कुछ गिने-चुने उदाहरण उपलब्ध होते हैं, परन्तु आत्मनेपद के उदाहरण लगभग अविद्यमान है। भागवत-पुराण में उपलब्ध प्रयोग रीरिषीष्ट ऋ० से उद्धृत है (दे० अनु० २७३)।

लृट् (Simple Future)

२८६. प्राचीनतम वैदिक भाषा में लृट् का प्रयोग अत्यल्प है। ऋ० में प्रायेण लेट् और कहीं-कहीं लट् भी लृट् के अर्थ को प्रकट करता है, अत एव

लृट का प्रयोग बहुत कम है और केवल १६ धातुओं से बने हुए लृट् के रूप मिलते है। लृट् के ये रूप भी प्रायेण ऋ० के उस भाग में (दशम मण्डल आदि में) मिलते है जिसे पाश्चात्य विद्वान् अन्य भागों की तुलना में उत्तरकालीन मानते हैं। लृट् का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। अ० मे ३२ धातुओं से और तै० सं० में ६० से भी अधिक धातुओं से बने हुए लृट् के रूप उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मणों तथा सूत्रों में लृट् का प्रयोग और भी अधिक है। लौकिक संस्कृत में लृट् का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

प्रत्यय तथा विकरण— लृट् में सर्वथा लट् के प्रत्यय (प० में ति इत्यादि; आ० में ते इत्यादि)-प्रयुक्त होते है। परन्तु लृट् में ति इत्यादि प्रत्ययों से पूर्व धातु के पश्चात् स्य विकरण जोडा जाता है[३१२]; यथा— दा "देना" से दास्यति। आख्यात का उदात्त स्य पर रहता है।

इडागम— कतिपय धातुओं के पश्चात् स्य विकरण से पूर्व इ (पा० इट्) आगम जोड़ा जाता है (टि० ३००), जिस के फलस्वरूप स्य का इष्य बन जाता है (अनु० ६२ग); यथा— भविष्यति। इस इडागम के सम्बन्ध में निम्नलिखित सामान्य नियम संक्षेपतः प्रस्तुत किये जा सकते है—

१. अधिकतर अजन्त धातुओं से परे यह इडागम नही जोड़ा जाता है। एकाच् आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, तथा उकारान्त धातुओं से परे साधारणतया यह इडागम नही जोड़ा जाता है[३१३]; यथा— दास्यति, जेष्यति, भेष्यति श्रोष्यति। इस नियम के अपवादस्वरूप √श्रि "सहारा लेना" तथा √शी 'सोना" से परे स्य को इडागम होता है (टि० ३१३); यथा— श्रयिष्यति (ब्रा०) तथा शयिष्यते (ब्रा०)। √स्तु "स्तुति करना" और √सु "रस निकालना" से बने कतिपय रूपों मे भी इडागम मिलता है; यथा— स्तविष्यामि (ऋ०), स्तोष्यति (ब्रा०), सुविष्यति (श० ब्रा०), सोष्यति (का० श्रौ० सू०)।

एकाच् ऊकारान्त तथा ॠकारान्त (टि० ३१३) और ऋकारान्त[३१४] धातुओं से परे स्य को इडागम होता है; यथा—भविष्यति, √गॄ "निगलना" से गरिष्यति (ब्रा०), √कृ "करना" से करिष्यति। परन्तु √सू "उत्पन्न करना" से बने वैदिक रूपों में इडागम का अभाव है[३१५]; यथा—सोष्यति (ब्रा०)।

२. निम्नलिखित हलन्त धातुओं से परे स्य को इडागम नही होता है (टि० ३१३)—शक्, पच्, मुच्, रिच्, वच्, सिच्, प्रच्छ्, भज्, भुज्, मस्ज् (मंक्ष्यति, ब्रा०), मृज् (म्रक्ष्यते, ब्रा०; मार्क्ष्यते ब्रा०, सू०), यज्, युज्, वृज् (वर्क्ष्यति, ब्रा०), सृज् (स्रक्ष्यति ब्रा०), कृत्[३१६] (कर्त्स्यति अ०), अद्, छिद् (छेत्स्यति ब्रा०), नुद्, पद्, भिद्, विद् "पाना", शद् "गिरना", सद्, स्कन्द्, स्यन्द्[३१७], बन्ध् (भन्त्स्यति ब्रा०, सू०), बुध् (भोत्स्यति ब्रा०), युध्, राध्, रुध्, आप्, गुप् (गोप्स्यति अ०), तप्, वप्, सृप् (स्रप्स्यति, सर्प्स्यति ब्रा०), यभ्, लभ्, नम् (नंस्यति ब्रा०), यम् (यंस्यति ब्रा०), रम् (रंस्यते ब्रा०), दिश्, दृश् (द्रक्ष्यति ब्रा०), विश् (वेक्ष्यति ब्रा०), कृष् (क्रक्ष्ये ब्रा०), त्विष्, श्लिष्, वस् "चमकना", वस् "रहना" (वत्स्यति ब्रा०), दह् (धक्ष्यति), द्रुह्[३१८] (ध्रोक्ष्यति मै० सं०), मिह्, रुह्, वह्, सह् (सक्ष्यते ब्रा०)।

३. कतिपय धातुओं से बने हुए लृट् के कुछ रूपों मे इडागम मिलता है, परन्तु कुछ रूपों में इडागम का अभाव है; यथा— दृप् (टि० ३१६) से दर्पिष्यति (जै० ब्रा०) तथा द्रप्स्यति (श० ब्रा०), स्वप् से स्वपिष्यति (अ०) तथा स्वप्स्यति (ब्रा०), क्रम् से क्रंस्यते (अ०, ब्रा०) तथा क्रमिष्यति (ब्रा०), मन् से मनिष्ये (ऋ०) तथा मंस्यते (ब्रा०)। परस्मैपद में गम् से गमिष्यति (अ०)[३१८], परन्तु आ० में संगंस्यते। इसी प्रकार वृत् से प० में वर्त्स्यति (अ०), परन्तु आ० में अनुवर्त्स्ये बनता है (टि० ३१७)।

सप्तमोऽध्यायः

४. उपर्युक्त धातुओं से भिन्न हलन्त धातुओं से परे स्य को सामान्यत: इडागम होता है; यथा— हन् से हनिष्यति (टि० ३१४), पत् से पतिष्यति, विद् "जानना" से वेदिष्यति (ब्रा०, उप०), वद् से वदिष्यति (अ०), नश् से नशिष्यति[२१९] (अ०), मुह् से मोहिष्यति (ब्रा०)[२१९], इत्यादि।

५. पा० (टि० ३०४) के मतानुसार ग्रह् से परे इट् का इ दीर्घ हो जाता है; यथा— ग्रहीष्यति (ब्रा०)।

प्राचीन वैदिक भाषा में इडागम के अभाव की प्रवृत्ति प्रधान है और संहिताओं तथा ब्राह्मणों में लगभग १०० से अधिक धातुओं से बने हुए लृट् के रूपों में इडागम का अभाव है, जबकि लगभग ८० से अधिक धातुओं से बने रूपों में इडागम मिलता है। लगभग ५० धातु ऐसे हैं जिन से बने कुछ रूपों में इडागम मिलता है और कुछ अन्य रूपों में इडागम का अभाव है (दे० Roots, pp. 228-229)। यह तथ्य निर्विवाद है कि उत्तरकालीन भाषा में इडागम के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। भाषा में प्रयुक्त होने वाले नवीन धातुओं के साथ प्रायेण और णिजन्त आदि गौण धातुओं के साथ सामान्यतया इडागम का प्रयोग मिलता है; यथा णिजन्त में दुष् से दूषयिष्यामि (अ०), धृ से धारयिष्यति, वस् "पहनना" से वासयिष्यसे, वृ "आच्छादित करना" से वारयिष्यते (अ०)। महाभारत में इडामग का बाहुल्य है।

धातु-विकार— साधारण नियम (टि० ११क) के अनुसार, स्य से पूर्व धातु के अन्तिम स्वर और उपधा के लघु स्वर (इ उ ऋ) को गुण हो जाता है; यथा— भू से भविष्यति, जि से जेष्यति, छिद् से छेत्स्यति। परन्तु सू "उत्पन्न करना" से बने रूप सूष्यन्त्याः (ऋ० ५,७८,५) में गुण नहीं होता है। इस पद का उदात्त स्य पर नहीं है। अन्तःपदसन्धि के नियमानुसार, स्य से पूर्व धातु के अन्तिम ष् का क् (अनु० ७४क), श् छ् ज् का ष् के द्वारा क् (अनु० ७५),

ह् का घ् या ढ् के द्वारा क् (अनु० ७३), और स् का त् (अनु० ७८ग) बन जाता है; यथा— विष् से वेक्ष्यति (ब्रा०), विश् से वेक्ष्यति (ब्रा०), प्रच्छ् से प्रक्ष्यति (ब्रा०), यज् से यक्ष्यते, वह् से वक्ष्यति (अ०), वस् से वत्स्यति। अन्तःपदसन्धि के नियमानुसार (अनु० ७२ग), स्य से पूर्व बन्ध् तथा बुध् के आदि ब् का भ् और दह् तथा द्रुह् के आदि द् का ध् बन जाता है; यथा— भन्त्स्यति, भोत्स्यति, धक्ष्यति, ध्रोक्ष्यति (मै० सं०)। स्य से पूर्व धातु के अन्तिम न् म् का अनुस्वार बन जाता है; यथा—मंस्यते, रंस्यते। स्य से पूर्व दृश्, सृज् के ऋ के स्थान पर र हो जाता है (टि० २९१); यथा— स्रक्ष्यति, द्रक्ष्यति। परन्तु उपधा में ऋ वाले कतिपय अन्य धातुओं (सृप्, दृप् इत्यादि) के ऋ के स्थान पर कहीं र होता है और कहीं ऋ को गुण हो जाता है (टि० २९१), यथा— स्रप्स्यति, सर्प्स्यति, द्रप्स्यति, दर्पिष्यति (जै० ब्रा०)।

प्रमुख उपलब्ध रूप— वैदिक संहिताओं में लृट् के कुछेक प्रमुख रूप निम्नलिखित है—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— असिष्यति (तै० सं०), करिष्यति (ऋ०), गमिष्यति (अ०), नशिष्यति (अ०), नेष्यति (अ०), पतिष्यति (अ०), भविष्यति (ऋ०), मरिष्यति (ऋ०) वदिष्यति (अ०), सनिष्यति (ऋ०), स्थास्यति (वा० सं०), हनिष्यति (अ०)।

प्र० पु० द्वि०— मरिष्यतः (अ०), वक्ष्यतः (√वह्, अ०)।

प्र० पु० ब०— गोप्स्यन्ति (अ०), सत्स्यन्ति (√सद्, अ०), हास्यन्ति (√हा, अ०)।

म० पु० ए०— एष्यसि (तै० सं०), करिष्यसि (ऋ०), जेष्यसि (वा० सं०), भविष्यसि (अ०), मरिष्यसि (अ०), रात्स्यसि (√राध्, अ०), वक्ष्यसि (√वच्, तै० स०), सनिष्यसि (ऋ०), हनिष्यसि (अ०)।

म० पु० द्वि०— करिष्यथः (तै० सं०)।

म० पु० ब०— आप्स्यथ (तै० सं०), एष्यथ (तै० सं०), करिष्यथ (ऋ०), भविष्यथ (ऋ०), सरिष्यथ (अ०)।

उ० पु० ए०— एष्यामि (अ०, तै० सं०), करिष्यामि (अ०), कर्त्स्यामि (√कृत्, अ०), चरिष्यामि (वा० सं०), जेष्यामि (ऋ०), भन्त्स्यामि (√बन्ध्, वा० सं० २२,४), वक्ष्यामि (वच्, ऋ०), स्तविष्यामि (√स्तु, ऋ०)।

उ० पु० ब०— भरिष्यामः (वा० सं० ११,१६), वक्ष्यामः (√वच्, ऋ०), स्वप्स्यामसि (अ०)। ह्विटने ने अ० ७,१०२१ के मेक्षामि पाठ का मेक्ष्यामि (√मिह्+लृट्) संशोधन सुझाया है।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— ग्रहीष्यते (तै० सं०), जनिष्यते (ऋ०), स्तविष्यते (अ०)।

म० पु० ए०— स्तविष्यसे (ऋ०)।

उ० पु० ए०— धरिष्ये (अ०), मनिष्ये (ऋ०), योक्ष्ये (पै० सं०)।

विशेष— ह्विटने ने अ० २,२७,५ के साक्षे पाठ में साक्ष्ये (√सह्+लृट्) संशोधन मान कर व्याख्यान किया है। ह्विटने (HOS. vol. 8, p. 751) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 386, fn. 11) के अनुसार, अ० १४,१,५६ का अन्वर्तिष्ये पाठ अनुवर्तिष्ये का विकृत रूप है। ह्विटने ने पहले (Roots, p. 15) इस रूप में √ऋत् की कल्पना की थी, क्योंकि पपा० के अनुसार इस में अनु+अर्तिष्ये है।

लृट् के अङ्ग से लेट् के रूप

पाश्चात्य मत— पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, लृट् के अङ्ग से लेट् के निम्नलिखित रूप बनते हैं—

म० पु० ए०— करिष्याः (ऋ० ४,३०,२३)[३२०], करिष्या (ऋ० १, १६५,९)[३२१]।

उ० पु० द्वि० — नोत्स्यावहै (ऐ० ब्रा० ३,५०)[३३२] ।

भारतीय मत— सायण ने अपने भाष्य में कुरिष्याः का व्याख्यान "कृतवानसि" और कुरिष्या का व्याख्यान "कर्तव्यानि" किया है, परन्तु इन रूपों की व्याकरण-प्रक्रिया पर कोई प्रकाश नही डाला है। सायण ने नोत्स्यावहै का व्याख्यान "अपनोदं करिष्यावः" किया है, परन्तु व्याकरण-विषयक व्याख्यान नही दिया है। इन सब रूपों में लृट् के अर्थ की प्रधानता अवश्य है और यह माना जा सकता है कि प्रत्यय-विकार लगभग वैसा ही है जैसा कि लेट् में मिलता है (दे० अनु० २१७) । व्याख्यान-भेद सम्भव है।

लृट् के अङ्ग से शत्रन्त तथा शानजन्त रूप

वैदिक भाषा में लृट् के अङ्ग से बने हुए अनेक शत्रन्त तथा शानजन्त रूप मिलते है[३३३]; यथा— अविष्यन् (√अव्, ऋ०) करिष्यन् (ऋ०), दास्यन् (अ०), धक्ष्यन् (√दह्, अ०), वक्ष्यन्ती (√वच्, ऋ०), हनिष्यन् (ऋ०); जनिष्यमाणम् (वा० सं० १८,५), यक्ष्यमाणान् (ऋ०), स्तविष्यमाण- (√स्तु, अ०) ।

विशेष— √सू "जन्म देना" से बना स्त्री० शत्रन्त रूप ष० ए० मे सूष्यन्त्याः (ऋ० ५,७८,५) मिलता है, जिस में धातु पर उदात्त है और धातु के ऊ को गुण नहीं हुआ है। परन्तु उत्तरकालीन भाषा मे सोष्यन्ती प्रयोग मिलता है, दे० शत० ब्रा०, गृ० सू० इत्यादि।

लुट् (Periphrastic Future)

२८७. **रूप-रचनाविषयक मतभेद**— लुट् की रूप-रचना के विषय में प्राचीन भारतीय वैयाकरणों और आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के मत भिन्न है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, लुट् के रूप शुद्ध तिङन्त नही है और वस्तुतः तृ-प्रत्ययान्त कर्तृवाचक कृदन्त रूप है, जो प्र० पु० में अपने सुवन्त रूप में मिलते है। परन्तु म० पु० तथा

उ० पु० में तृ-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक के प्रथमा एकवचन पुं० रूप के साथ √अस् "होना" के लट् रूपों का अनुप्रयोग मिलता है। ह्विटने (Skt. Gr., p. 337) तथा मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 177 f.n. 1) का मत है कि वैदिक संहिताओं के जिन तृ-प्रत्ययान्त कर्तृ-वाचक कृदन्त रूपों के धातु पर उदात्त रहता है और जिन से सम्बद्ध कर्म का रूप द्वितीया विभक्ति में है, वे रूप लुट् की रूप-रचना के अग्र-दूत (forerunners) हैं; यथा— हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः (ऋ० ४,१७,८) "जो धन-सम्पन्न इन्द्र वृत्र को मारता है, पुरस्कार जीतता है, और धन देता है···"; दाता यो वनिता मघम् (ऋ० ३,१३,३) "जो (इन्द्र) धन जीतता है और देता है···"। इस में कोई सन्देह नहीं है कि ऋ० के उपर्युक्त उदाहरणों में भविष्यत् का अर्थ नहीं है। पा० ३,२,१३५ के अनुसार 'शील" इत्यादि के अर्थ में उपर्युक्त उदाहरणों में "तृन्" प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, पा० २,३,६९ के अनुसार इन से सम्बद्ध कर्म का रूप द्वितीया में है, और पा० ६,१,१९७ के अनुसार ये तृन्-प्रत्ययान्त रूप आद्युदात्त है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, प० तथा आ० में लुट् के म० पु० तथा उ० पु० के प्रत्यय सामान्यतः वे ही है जो लट् के है (दे० अनु० २१२,२१३), परन्तु प्र० पु० के प्रत्यय निम्नलिखित है[३२४]— प्र० पु० ए०— आ (डा), द्वि०— रौ, ब०— रस्। पा० के मतानुसार, लुट् के प्रत्ययों से पूर्व धातु के पश्चात् तास् विकरण जोड़ा जाता है (टि० ३१२) जिस में निम्नलिखित विकार होते हैं—

(१) प्र० पु० ए० के प्रत्यय आ (डा) से पूर्व तास् के आस् का लोप हो कर केवल त् बचता है।

(२) सकारादि[३२५] (सि, से), रेफादि[३२६] (रौ, रस्), तथा धकारादि[३२७] (ध्वे) प्रत्यय से पूर्व तास् के स् का लोप हो जाता है।

(३) आ० के उ० पु० ए० में तास् के स् का ह् हो जाता है[३२८]।

विकरण-सहित प्रत्ययों के रूप निम्नलिखित है—परस्मैपद— प्र० पु० ए०– ता, द्वि०— तारौ, ब०— तारस् । म० पु० ए०— तासि, द्वि०— तास्थस्, ब०— तास्थ । उ० पु० ए०— तास्मि, द्वि०— तास्वस्, ब०— तास्मस् । आत्मनेपद— प्र० पु० ए०— ता, द्वि०— तारौ, ब०— तारस्। म० पु० ए०— तासे, द्वि०— तासाथे, ब०— ताध्वे । उ० पु० ए०— ताहे, द्वि०— तास्वहे, ब०— तास्महे । उपर्युक्त (दे० अनु० २८६) नियमों के अनुसार, तास् से पूर्व इडागम होता है, परन्तु √हन्, √गम्, तथा ऋकारान्त धातुओं से परे तास् को इडागम नहीं होता है। सामान्य नियम (टि० ११क) के अनुसार, तास् से पूर्व धातु के स्वर को गुण होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, √भू के रूप निम्नलिखित बनेंगे—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	भविता ;	भवितारौ ;	भवितारः ।
म० पु०	भवितासि ;	भवितास्थः ;	भवितास्थ ।
उ० पु०	भवितास्मि ;	भवितास्वः ;	भवितास्मः ।

आत्मनेपद

प्र० पु०	भविता ;	भवितारौ ;	भवितारः ।
म० पु०	भवितासे ;	भवितासाथे ;	भविताध्वे ।
उ० पु०	भविताहे ;	भवितास्वहे ;	भवितास्महे ।

स्वर-वैशिष्ट्य— ह्विट्ने (Skt. Gr., pp. 335-37) के अनुसार, लुट् के रूपों में तृ-प्रत्ययान्त कृदन्त के ता पर उदात्त रहता है और वास्तविक तिङन्त रूपों के सामान्य स्वर-नियम (दे० अनु० ४१३) के अपवाद-स्वरूप सर्वत्र—स्वतन्त्र वाक्य में भी—लुट् के रूपों पर उदात्त रहता है;

यथा— तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मि (श० ब्रा०)। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, लुट् के रूपों में तास् विकरण पर उदात्त रहता है[११९] और वाक्य में किसी भी स्थिति में लुट् रूपों के उदात्त का निघात नहीं होता है[१२०]।

उपलब्ध रूप— वैदिक संहिताओं के मन्त्रभाग में लुट् के म० पु० तथा उ० पु० का कोई असन्दिग्ध उदाहरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु जो रूप लुट् के प्र० पु० के माने जा सकते हैं उन के विषय में भी विवाद है। लुट् के प्र० पु० के रूप तृ-प्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिकों के प्रथमा के रूपों के सर्वथा समान होते है। इस लिये वैदिकभाषा के मन्त्रभाग के जिन उदाहरणों में तृ-प्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिकों का प्रथमा का ऐसा रूप मिलता है जिस से सम्बद्ध कर्म का रूप द्वितीया में है, उन उदाहरणों के स्वरूप के विषय में विवाद है। ऐसे रूपों को लुट् के अर्थ में लिया जा सकता है; यथा— अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति (अ० ६,१२३,१) "यजमान कल्याणपूर्वक उस का अनुगमन करेगा।" सायण अथर्ववेदभाष्य में इसे स्पष्ट रूप से लुट् का प्रयोग मानता है, परन्तु ह्विटने (HOS, vol. VII, p. 373) अपने अनुवाद में इसे लुट् का रूप नही मानता है। इसी प्रकार— अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र (वा० सं० १८,५९=तै० सं० ५,७,७,१) "यज्ञपति तुम्हारे पीछे यहां आएगा"—में उवट तथा महीधर लुट् का प्रयोग स्वीकार करते हैं। कीथ भी अपने अनुवाद (HOS, vol. XIX, p. 475) में इस रूप में भविष्यत् का अर्थ मानता है। मैक्डानल के मतानुसार (Ved. Gr., p. 387; Ved. Gr. Stu., p. 177), उपर्युक्त रूप लुट् के प्रारम्भिक अविकसित (incipient) प्रयोग के उदाहरण हैं।

ब्राह्मणों में लुट् के प्रयोग के असन्दिग्ध तथा स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। ह्विटने (Skt. Gr., p. 337) के मतानुसार, ब्राह्मणों में से लुट् के प्रयोग के लगभग ३० रूप उदाहृत किये जा सकते हैं। लुट् के अधिकतर रूप परस्मैपद के हैं और आ० के रूप अत्यल्प हैं। मैक्डानल के

मतानुसार (Ved. Gr. Stu., p. 178), उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर √भू के निम्नलिखित रूप बनेगे—

परस्मैपद— प्र० पु० ए०— भविता, ब०—भवितारः।
उ० पु० ए०— भवितास्मि, ब०— भवितास्मः।

आत्मनेपद— म० पु० तथा उ० पु० ए०—भवितासे, उ० पु० ब०—भवितास्महे।

विशेष— तै० सं० २.६,२,३ में उ० पु० ए० का प्रयोक्तासे रूप मिलता है जिस में पाणिनीय नियम (टि० ३२८) के अनुसार तास् के स् का ह् नहीं बनता है[३३०क], परन्तु तै० आ० १,११,४ में उ० पु० ए० का यष्टाहे (√यज्) रूप मिलता है जिस में तास् के स् का ह् बन गया है, परन्तु सामान्य स्वर-नियम का अपवाद है (दे० Gr. Lg. Ved., p. 294)। परन्तु ह्विटने ने (Skt. Gr., p. 337) इस रूप का जो उदाहरण दिया है (yaṣṭā́he), उस में शुद्ध स्वर लगाया गया है।

महाभारतादि उत्तरकालीन ग्रन्थों में लुट् के प्रयोग ब्राह्मणों की भाषा की तुलना में अधिक हैं और लुट् के रूपों में कुछ अव्यवस्था भी कहीं-कहीं मिलती है (दे० Skt. Gr., p. 336)। परन्तु लृट् की तुलना में लुट् का प्रयोग सर्वत्र न्यूनतर रहा है।

लृङ् (Conditional)

२८८. लृङ् का प्रयोग वैदिक संहिताओं में अत्यल्प है और ऋ० में इस का केवल एक प्रयोग अभरिष्यत् (ऋ० २ ३०,२) मिलता है। श० ब्रा० में लृङ् के ५० से अधिक प्रयोग अवश्य मिलते हैं, परन्तु अन्य ब्राह्मणों में इस का प्रयोग विरल है। उत्तरकालीन संस्कृत में भी लृङ् का प्रयोग बहुत कम है; यथा— महाभारत में १३ धातुओं से बने हुए लगभग २५ प्रयोग, मनुस्मृति में एक प्रयोग, तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में दो प्रयोग मिलते हैं। अधिकतर प्रयोग परस्मैपद के हैं और आत्मनेपद के प्रयोग अतिविरल हैं।

सप्तमोऽध्यायः

रूप-रचना— रूप-रचना की दृष्टि से लृङ् में लृट् तथा लङ् की मुख्य विशेषताओं का मिश्रण है। लृट् की भांति लृङ् में धातु के पश्चात् स्य विकरण जोड़ा जाता है (टि० ३१२), और लङ् की भांति धातु से पूर्व अडागम आता है (टि० २६) और स्य विकरण के पश्चात् गौण प्रत्ययों (त् , ताम् , अन् इत्यादि, दे० अनु० २१२-१३) का प्रयोग होता है। लृट् और लङ् की विशेषताओं के मिश्रण को ध्यान में रखते हुए पाणिनि ने क्रमशः इन का आदि और अन्तिम वर्ण लेकर इस लकार के लिये लृङ् संज्ञा का प्रयोग किया है। इन विशेषताओं के आधार पर आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् लृङ् को लृट् का भूतकालिक लकार मानते हैं[331]।

उपलब्ध रूप— लृङ् के कुछेक प्रमुख उपलब्ध रूप निम्नलिखित हैं।—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अभ॑रिष्यत् (ऋ० २,३०,२), अहो॑ष्यत् (मै० सं० १, ८,१), अभे॑ष्यत् (श० ब्रा०), अभ॑विष्यत् (श० ब्रा०), व्यपतिष्यत् (गो० ब्रा०)।

प्र० पु० ब०— अभ॑विष्यन् (श० ब्रा०)। **म० पु० ए०**— प्राग्रहीष्याः (गो० ब्रा०)। **उ० पु० ए०**— अकरिष्यम् (ऐ० ब्रा०)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— पर्यधा॑स्यत (श० ब्रा०); **ब०**—अज॑निष्यन्त (श० ब्रा०)।

णिजन्त (चुरादिगण तथा प्रेरणार्थक णिजन्त)

२८९. अनु० २२२ में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार, चुरादिगण तथा प्रेरणार्थक णिजन्त धातुओं के रूपों की रचना का विवेचन यहां पर साथ-साथ किया जायगा। पाणिनि के मतानुसार, चुरादिगण के धातुओं से परे स्वार्थ (धातु के अपने मूल अर्थ) में— अर्थ-परिवर्तन के विना— णिच् प्रत्यय आता है[332], और सामान्यतया प्रेरणा के अर्थ में धातु से परे णिच् प्रत्यय प्रयुक्त होता है[333]। दोनों अवस्थाओं में णिच् प्रत्यय

से पूर्व धातु के स्वर को गुण या वृद्धि का विकार समान होता है। भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, अर्थ का भेद होने पर भी दोनों प्रकार के णिजन्त रूपों की रचना सर्वथा समान होती है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि प्राचीन वैदिकभाषा में अर्थ-भेद के अनुसार रूप-रचना का भेद भी दृष्टिगोचर होता है— अर्थात् जिन णिजन्त रूपों में धातु के स्वर को गुण या वृद्धि नहीं होती है उन में प्रेरणा (Causative) के अर्थ का अभाव है, और जिन रूपों में धातु के स्वर को गुण या वृद्धि हुई है उन रूपों में प्रेरणा (Causative) का अर्थ मिलता है[३३४]; यथा— चितयति "ध्यान से देखता है", तुरयति "शीघ्र गति से चलता है", द्युतयति "चमकता है", रुचयति "चमकता है", शुभयति "सुशोभित होता है", मृळयति "क्षमा करता है", स्पृहयति "इच्छा करता है", पतयति "इधर-उधर उड़ता है"। ये चुरादिगण के रूपों के उदाहरण है। इस के विपरीत प्रेरणा के अर्थ में णिच् प्रत्यय से पूर्व धातु के स्वर को यथाप्राप्त गुण या वृद्धि होती है; यथा— द्योतयति "चमकाता है", रोचयति "चमकाता है", पातयति "गिराता है"। तथापि पाश्चात्य विद्वान् इस साधारण नियम के अनेक अपवाद स्वीकार करते हैं (तु० Skt. Lg., p. 356)।

मैक्डानल के मतानुसार (Ved. Gr., p. 393; Ved. Gr. Stu., p. 195; तु० Skt. Gr., p. 378), ऋ० के लगभग एक-तिहाई रूपों में प्रेरणा (Causative) का अर्थ नहीं है, अपितु पुनरुक्तार्थ (iterative sense) है। मैक्डानल का कथन है कि जिन णिजन्त रूपों में धातु के स्वर को होने वाला (गुण या वृद्धि) विकार नहीं होता है, उन में प्रेरणा का नहीं, अपितु पुनरुक्ति का अर्थ होता है। ह्विट्ने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों का मन्तव्य है कि णिजन्त वर्ग के रूपों में मूलतः पुनरुक्ति का ही अर्थ रहा होगा, जिस से कालान्तर में प्रेरणा (Causative) के अर्थ का इतना विकास हुआ कि वही प्रधान हो

गया, और सम्भवतः यही कारण है कि पुनरुक्तिमयी चङ्-लुङ् (Reduplicated Aorist) की रचना णिजन्त धातुओं से विशेषतः सम्बद्ध है[३३५]।

ह्विटने के अनुमान के अनुसार (Skt. Gr., p. 378), ३०० से अधिक धातुओं से बने णिजन्त रूप प्राचीन संस्कृत में उपलब्ध होते है और मैक्डानल (Ved. Gr., p. 393; Ved. Gr. Stu., p. 195) का अनुमान है कि वैदिक संहिताओं में २०० से अधिक धातुओं से बने णिजन्त रूप मिलते हैं। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, अनेक णिजन्त रूप नामधातुओं से बने हुए हैं और ऐसे धातुओं को चुरादिगण में सम्मिलित कर लिया गया है[३३६]; यथा— मुन्त्रयते "मन्त्रणा करता है", अर्थयति "मांगता है"। ऐसे धातुओं के रूपों का मुख्य स्वर (उदात्त) णिजन्त धातुओं के उदात्त के अनुसार है और नामधातुओं के उदात्त से भिन्न अक्षर पर है। अत एव ह्विटने तथा मैक्डानल ऐसे रूपों को णिजन्त और नामधातुओं के बीच की कड़ी मानते हैं। पाणिनि (पा० ३,१,२०.२१.२५) ने भी अनेक नामधातुओं से परे णि (णिङ्, णिच्)प्रत्यय का विधान किया है और पा० धातुपाठ के चुरादिगण में परिगणित अनेक धातु निश्चय ही नामधातु हैं; यथा—सूत्र, शूर, ऊर्ज, चूर्ण, बल, श्लर्क, म्लेच्छ, कुमार, तीर इत्यादि।

टी० बरो का मत है (Skt. Lg., p. 330) कि ह्वयति "बुलाता है", श्वयति "फूलता है", धयति "चूंघता है" इत्यादि लट् के भ्वा० रूप भी मूलतः चुरादिगण के थे, परन्तु वैयाकरणों ने इन में क्रमशः √ह्वे, √श्वि और √धे धातुओं की कल्पना करके इन्हें भ्वा० में मिला दिया।

-अय =इ (पा० णिच्)+अ (पा० शप्)— पा० के अनुसार, धातु से परे इ (णिच्) प्रत्यय जोड़ा जाता है (टि० ३३२,३३३) और कर्तृवाचक सार्वधातुक प्रत्यय (तिप् इत्यादि, दे० टि० ९९) परे रहते

णिच् के पश्चात् अ (पा० शप्, टि० ७३) विकरण जोड़ा जाता है। शप् के निमित्त से इ (णिच्) को गुण (टि० ११क) और अयादि-सन्धि के द्वारा ए को अय् बन जाता है। अय् और अ (शप्) के मिलने से -अय बनता है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् ऐसे धातुओं से परे -अय विकरण या प्रत्यय मान कर णिजन्त रूपों का व्याख्यान करते हैं[337]। लट्, लङ्, लोट्, लेट् तथा विलि० में तो -अय॑ प्रत्यय मानने से भी काम चल सकता है, परन्तु लृट्, लुट् इत्यादि में -अय॑ प्रत्यय मानने से रूप तथा स्वर दोनों अशुद्ध होंगे। और इस दोष का निराकरण करने के लिये -अय॑ के अन्तिम अ तथा उदात्त का भी लोप मानना पड़ेगा। अत एव इस सम्बन्ध में पाणिनीय मत अधिक उचित और ग्राह्य है।

२९०. **धातु-विकार**—पा० के अनुसार, णिच् प्रत्यय परे रहते धातु में निम्नलिखित विकार होते हैं—

(१) धातु की उपधा के लघु स्वर को गुण हो जाता है (टि० ११क); यथा—वे॒शय॑ति (√विश्) "प्रवेश कराता है", बो॒धय॑ति (√बुध्) "बोध कराता है", त॒र्पय॑ति (√तृप्) "तृप्त करता है", क॒ल्पय॑ति (√क्लृप्, √कृप् पा०) 'समर्थ करता है"।

अपवाद—परन्तु जिन णिजन्त रूपों में धातु के आदि या मध्यस्थ इ उ को गुण नहीं होता है उन रूपों में पाश्चात्य विद्वान् प्रेरणा के अर्थ का अभाव मानते हैं; यथा—इ॒ळय॑त (√इळ्, ऋ०), रु॒च॒यन्त॒ (ऋ०)। ऐसे शब्दों के प्रसंगार्थ से पाश्चात्य विद्वानों के इस मत की पुष्टि होती है। √दुष् की उपधा के उ का दीर्घ हो जाता है; यथा—दू॒षय॑ति "दूषित करता है"।

(२) धातु की उपधा के अ को वृद्धि हो जाती है (टि० १९८); यथा—आ॒मय॑ति (√अम्, ऋ०) "चोट पहुंचाता है", ना॒शय॑ति (√नश्) "नष्ट करता है", वा॒सय॑ति (√वस्) "पहनाता है"।

अपवाद—कुछेक धातुओं की उपधा का अ ह्रस्व रहता है; यथा—ज॒नय॑ति

"उत्पन्न करता है", दुमयति "दमन करता है" । पा० के अनुसार ऐसे धातु मित्संज्ञक हैं और णिच् परे रहते इन की उपधा का स्वर ह्रस्व रहता है[३३८] । यद्यपि मैक्डानल के मतानुसार (Ved. Gr., p. 395; Ved. Gr. Stu., p. 196), ऐसे णिजन्त रूपों में प्रेरणा के अर्थ का प्रायेण अभाव है परन्तु ऐसे सभी रूपों के प्रयोग से इस मत का समर्थन नहीं होता है। कुछ धातुओं के णिजन्त रूपों में उपधा का अ कहीं ह्रस्व और कहीं दीर्घ मिलता है (टि० ३३८); यथा— गमयामसि (अ०), गामय (ऋ० ५,५,१०, पपा० गमय); मद् "आनन्दित होना" से मदयति (अ०), मादयते; पत् "उड़ना" से पतयति, पातयति । धापा० में "पत गतौ वा" चु० के अदन्त धातुओं में गिनाया गया है ।

(३) धातु के अन्तिम इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ को वृद्धि होती है (टि० १६७); यथा— सि "बान्धना" से साययति (ब्रा०), शी "सोना" से शाययति (सू०), च्यु "अपने स्थान से चलित होना", से च्यावयति, भू "होना" से भावयति, घृ "टपकना" से घारयति, धृ "धारण करना" से धारयति, पृ या पॄ "पार करना" से पारयति ।

अपवाद— वैदिक संहिताओं में धातु के अन्तिम इ ई की वृद्धि का उदाहरण नहीं मिलता है। ऋ० में क्षि "निवास करना" के णिजन्त रूप में इ को गुण मिलता है; यथा- क्षयय (ऋ० ३,४६,२) । वैदिकभाषा में कुछ धातुओं के अन्तिम उ, ऋ, ॠ को णिच् प्रत्यय से पूर्व कहीं वृद्धि और कहीं गुण होता है; यथा— द्रु "भागना" से द्रावयति तथा द्रवयति (ऋ०), यु "पृथक् करना" से यावयति तथा यवयति (ऋ०), श्रु "सुनना" से श्रावयति तथा श्रवयति (ऋ०), सृ "बहना" से असारयन्त (ऋ०) तथा सरयन्ते (ऋ०), जॄ "जीर्ण होना" से जारयन्ती (ऋ० १,१२४,१०-पपा० जरयन्ती) तथा जरयन्ती (ऋ० १, ४८,५), दॄ "चीरना" से दारयति (ब्रा०) तथा दरयत् (ऋ०)। धापा० के अनुसार, जॄ तथा दॄ दोनों मित्संज्ञक धातु हैं (टि० ३३८) ।

(४) ऋ "जाना" तथा आकारान्त धातुओं के अङ्ग को णिच् प्रत्यय परे रहते प् (पा० पुक्) का आगम होता है[339]; यथा— ऋ से अर्पयति, दा "देना" से दापयति, धा "रखना" से धापयति, धे "स्तन से दूध पीना" से धापयति, स्था से स्थापयति, क्षा "जलाना" से क्षापयति, ग्लै "थकना" से ग्लापयति। णिच् प्रत्यय परे रहते एकारान्त, ओकारान्त तथा ऐकारान्त धातुओं के ए ओ ऐ का आ बन जाता है[340]। अत एव वर्तमान प्रसंग में "आकारान्त" शब्द ऐसे धातुओं के लिये भी लागू होता है।

विशेष— णिच् से पूर्व ज्ञा "जानना", स्ना "नहाना", श्रा "पकाना" का आ ह्रस्व हो जाता है; यथा— ज्ञपयति (अ०), स्नपयति (अ०), श्रपयति (अ०)। पा० के अनुसार, ये धातु मित्संज्ञक है (टि० ३३८)। ब्रा० में तथा उत्तरकालीन संस्कृत में √ज्ञा से बने ज्ञापयति इत्यादि रूप भी मिलते हैं और भारतीय वैयाकरण दोनों प्रकार के रूपों में अर्थ-भेद मानते है (दे० सि० कौ० के भ्वा० में √ज्ञा के नीचे)। परन्तु √स्ना का मित्व वैकल्पिक है। इस लिये ऋ० में प्रस्नापयन्ति रूप भी बनता है। णिच् परे रहते जि "जीतना" के इ का आ बनता है और इस आ के पश्चात् प् (पा० पुक्) का आगम होता है[341]; यथा— जापयत (वा० सं० ९,११)। श्रि "सहारा लेना" के इ का आ हो जाता है और उस के पश्चात् प् का आगम होता है; यथा— श्रापय (वा० सं० २३,२६)। मन्त्रभाग में रुह् "चढ़ना" के णिजन्त रूप में प् का आगम नही मिलता है, परन्तु ब्राह्मणों में तथा उत्तरकालीन भाषा में प् का आगम मिलता है[342]; यथा— रोहयत् (ऋ०), रोपयति (ब्रा०)।

अपवाद— णिच् परे रहते, पा "पीना", छा (√छो) "काटना", सा (√सो) "बान्धना" के पश्चात् य् (पा० युक्) का आगम होता है[343]; यथा— पाययति, छाययति (ब्रा०, उप०), साययति (ब्रा०)।

(५) ब्राह्मणों में तथा उत्तरकालीन भाषा में, णिच् परे रहते, भी "डरना"

के पश्चात् ष् (पा० षुक्) का आगम होता है[३७४]; यथा— भीषयते। णिच् प्रत्यय परे रहते, हन् "मारना" के ह् का घ् (टि० ११२) तथा न् का त् हो जाता है[३७५], और उपधा के अ को वृद्धि हो जाती है (टि० १९८); यथा— घातयति (ब्रा०)।

(६) ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार ऋ० का गृभयन्तः पद ग्रभ् "पकड़ना" का णिजन्त रूप है, और पॄ "भरना" के णिजन्त रूप पूरयति इत्यादि बनते हैं। परन्तु पा० के अनुसार पूर् (धापा० पूरी) एक स्वतन्त्र धातु है।

रूप-रचना

२९१. णिजन्त धातुओं से बने वैदिक रूप लट्, लङ्, लोट्, लेट्, विलि०, लिट्, लुङ्, लृट्, लुट् तथा लृङ् में उपलब्ध होते हैं। लट्, लङ्, लोट्, लेट् तथा विलि० में णिजन्त धातुओं के रूप सर्वथा भ्वा० के रूपों की भांति बनते हैं। अत एव भ्वा० की भांति णिजन्त धातुओं के पश्चात् अ (पा० शप्) विकरण प्रयुक्त होता है।

लट् के रूप

लट् में णिजन्त धातुओं के रूप भ्वा० के रूपों की भांति बनते हैं। यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि ऋ० तथा अ० में परस्मैपद उ० पु० ब० के रूपों में मस् प्रत्यय की तुलना में मसि प्रत्यय का प्रयोग लगभग दस गुना है। उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर जन् "उत्पन्न करना" के णिजन्त रूप लट् में निम्नलिखित बनेंगे—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	जनयति	जनयतः	जनयन्ति।
म० पु०	जनयसि	जनयथः	जनयथ।
उ० पु०	जनयामि	×	जनयामसि, जनयामः।

आत्मनेपद

प्र० पु०	जनयते	जनयेते	जनयन्ते ।
म० पु०	जनयसे	जनयेथे	× ।
उ० पु०	जनये	×	जनयामहे ।

लङ् के रूप

लङ् में णिजन्त धातुओं के अडागमसहित तथा अडागमरहित रूप बनते हैं। ऋ० में लगभग १३० परस्मैपदी रूप मिलते हैं जिन में से लगभग ८० रूप प्र० पु० ए० तथा म० पु० ए० के हैं। आत्मनेपद के रूप बहुत कम हैं और उपलब्ध आत्मनेपदी रूपों में से अधिकतर रूप प्र० पु० व० के है और उ० पु० के रूपों का पूर्ण अभाव है। मैक्डानल के मतानुसार (Ved. Gr., p. 397; Cf. Avery, p. 264), ऋ० में उपलब्ध अडागमरहित रूपों में से लगभग ५० रूप विमू० (Injunctive) के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर जन् के णिजन्त रूप लङ् में निम्नलिखित बनेंगे—

परस्मैपद

प्र० पु० ए० अजनयत्, जनयत्; व० अजनयन्, जनयन्।

म० पु० ए० अजनयः, जनयः; द्वि० अजनयतम्।

उ० पु० ए० अजनयम्, जनयम्।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए० अजनयत, जनयत; व० अजनयन्त, जनयन्त।

म० पु० ए० अजनयथाः, जनयथाः; द्वि० अजनयेथाम्;
व० अजनयध्वम्।

लोट् के रूप

लोट् में णिजन्त के रूपों का प्रचुर प्रचलन है। ऋ० में लोट् के लगभग १२० रूप मिलते हैं, जिन में से आधे के लगभग रूप म० पु०

ए० के है। ऋ० में प्र० पु० ए० तथा द्वि० के आत्मनेपदी रूपों का लगभग अभाव है। यद्यपि ऋ० में लोट् का कोई तात्प्रत्ययान्त रूप नहीं मिलता है, तथापि अ० में ऐसा एक रूप और मै० सं०, का० सं०, तै० ब्रा० तथा श० ब्रा० आदि में ऐसे अनेक रूप उपलब्ध है। उपलब्ध रूपों के आधार पर लोट् में जन् के निम्नलिखित णिजन्त रूप बनेंगे—

परस्मैपद

प्र० पु० ए० जनयतु, जनयतात् (श० ब्रा०); द्वि० जनयताम्; व० जनयन्तु।

म० पु० ए० जनय, जनयतात् (अ०, ब्रा०); द्वि० जनयतम्; व० जनयत, जनयतात् (ब्रा०)।

विशेष— निम्नलिखित तात्-प्रत्ययान्त रूप उल्लेखनीय हैं—

प्र० पु० ए० पातयतात् (श० ब्रा०)।

म० पु० ए० धारयतात् (अ०), च्यावयतात् (श० ब्रा०);

म० पु० व० गमयतात् (का० सं०), च्यावयतात् (का० सं०), वारयतात् (मै० सं०, ब्रा)।

आत्मनेपद

प्र० पु० व० जनयन्ताम्।

म० पु० ए० जनयस्व; द्वि० जनयेथाम्; व० जनयध्वम्।

विशेष— का० सं० इत्यादि में वृ "आच्छादित करना" के णिजन्त से बना हुआ म० पु० व० का असाधारण रूप वारयध्वात् मिलता है, जिस में ध्वम् के स्थान पर ध्वात् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है (दे० टि० ५९, अनु० २१८)।

स्मरणीय — लोट् के उ० पु० के रूप लेट् के उ० पु० के रूपों के समान माने जाते है (अनु० २१८)।

लेट् के रूप

वैदिकभाषा में णिजन्त धातुओं से बने हुए लेट् के ६० से अधिक रूप मिलते हैं, जिन में से अधिकतर रूप परस्मैपद के हैं। ऋ० में आत्मनेपद प्र० पु० द्वि० का एकमात्र रूप मादयैते है, जिस में प्रत्यय के आदि आ को ऐ बन कर –ऐते प्रत्यय (टि० ४१, अनु० २१७) प्रयुक्त हुआ है। मादयथाः (अ० ४,२५,६) में आत्मनेपद म० पु० ए० के प्रत्यय से के स्थान पर थास् प्रत्यय मिलता है। आ० के उ० पु० ए० तथा द्वि० के सभी वैदिक रूपों में और प्र० पु० ए० तथा म० पु० ब० के कुछ वैदिक रूपों में प्रत्यय के अन्तिम ए के स्थान पर ऐ मिलता है (दे० अनु० २१७)। आ० के उ० पु० द्वि० के रूपों के अतिरिक्त, ऋ० में केवल मादयध्वै (म० पु० ब०) ही ऐसा णिजन्त आत्मनेपदी रूप है जिस में अन्तिम ए को ऐ हुआ है। प्र० पु० ए० तथा म० पु० ब० के अधिकतर रूपों में लेट् के मूल प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है (अनु० २१७)। उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर लेट् में जन् के निम्नलिखित णिजन्त रूप बनेंगे—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	जनयाति, जनयात् ;	जनयातः ;	जनयान्।
म० पु०	जनयासि, जनयाः ;	जनयाथः ;	जनयाथ।
उ० पु०	जनयानि ;	जनयाव ;	जनयाम।

आत्मनेपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	जनयाते, जनयातै ;	जनयैते ;	× ।
म० पु०	जनयासे, जनयाथाः (अ०) ;	×	जनयाध्वे।
उ० पु०	जनयै ;	जनयावहै ;	× ।

विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् के रूप

मन्त्रभाग में णिजन्त धातुओं के विलि० रूप अत्यल्प हैं। ऋ० में इस के केवल चार प्रयोग (स्पृहयेत्, वारयेः, चितयेम, मर्जयेम)

शत्रन्त तथा शानजन्त रूप

णिजन्त धातुओं के शत्रन्त रूप साधारणतया सर्वत्र उपलब्ध होते हैं और भ्वा० के शत्रन्त की भांति बनते हैं; यथा— जन् से जुनयन् (प्रथ० ए०), जुनयन्तः (व०)। स्त्री० में नुम्-सहित शत्रन्त के साथ ई जोड़ दिया जाता है; यथा— जुनयन्ती। आत्मनेपद में णिजन्त धातु के साथ भ्वा० की भांति -मान जोड़ दिया जाता है; यथा— ऋ० महयमानः, यातयमानः और तै० सं० में चातयमानः इत्यादि।

सन्नन्त (Desiderative)

२९२. संहिताओं में लगभग ६० धातुओं से बने सन्नन्त रूप उपलब्ध होते हैं और ब्रा० में लगभग ३० अन्य धातुओं से बने रूप भी मिलते हैं। णिजन्त रूपों की तुलना में सन्नन्त रूपों का प्रयोग बहुत कम है।

सन्नन्त रूपों से प्रायेण "कर्म करने की इच्छा" के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है; यथा — जिघांसति "मारना चाहता है" (हन्तुमिच्छति)। पाणिनि के अनुसार जिस धातु का कर्म इच्छा हो और इच्छा तथा धातु का कर्ता समान हो, उस इच्छाकर्मवाचक धातु से परे इच्छा के अर्थ में स (सन्) प्रत्यय विकल्प से आता है[३४७]। कतिपय धातुओं से परे भिन्न अर्थों में भी सन् प्रत्यय आता है, जिन का विवरण आगे चल कर किया जायगा।

द्वित्व— सन् परे रहते, धातु को द्वित्व हो जाता है[३४८] और द्वित्व-सम्बन्धी साधारण नियम वे ही है, जिन का विवरण पहले किया जा चुका है (दे० अनु० २३८)। परन्तु सन्नन्त रूपों में द्वित्व की कुछ विशेषताएं भी हैं। एक विशेषता यह है कि अजादि धातु के द्वितीय अक्षर (Syllable, पा० एकाच् — अच्सहित अवयव) को द्वित्व होता है[३४९]; यथा— √अश् "खाना"+इ (इट्)+स (सन्) को द्वित्व होने पर अशिशिष- बनता है (द्वितीय अक्षर शि को द्वित्व हुआ है)। लट् में इस का अशिशिषति "खाना चाहता है" रूप बनेगा।

अभ्यास— द्वित्व में सन्नन्त रूपों के अभ्यास की कुछ विशेषताएं हैं । सन् परे रहते, अकारान्त अभ्यास के अ को इ आदेश हो जाता है[१५०]; यथा— √गम् से ज-गम्-इ-ष-=जि-गमिषति । ऋ० में यज् "यज्ञ करना" तथा नश् "व्याप्त करना" के सन्नन्त रूपों में अभ्यास के व्यञ्जन (य् तथा न्) का लोप मिलता है; यथा— √यज् से इयक्षति, √नश् से इनक्षत् (इन के सम्बन्ध में मत-भेद आगे देखिये) । कुछ सन्नन्त रूपों में अभ्यास का लोप हो जाता है (दे० अनु० २९४) । कुछ सन्नन्त रूपों में अभ्यास के स्वर को दीर्घत्व हो जाता है; यथा—तूतूर्षति (ऋ०, √तुर्=√तॄ), बीभत्सते (√बाध्), मीमांसते (अ०, √मन्); दे० अनु० २९७ ।

२९३. **इडागम**— पा० के अनुसार, सन् प्रत्यय आर्धधातुक माना जाता है (टि० ९९) और साधारण नियम के अनुसार (टि० ३००) सन् को इडागम होता है; यथा— √पत्+सन् से पि+पत्+इ+स+ति के द्वारा पिपतिषति बनता है। परन्तु ऋ० के किसी भी सन्नन्त रूप में सन् को इडागम नहीं हुआ है । अ० तथा श० ब्रा० में √पत् के सन्नन्त में, वा० सं० में √जीव् के सन्नन्त (४०,२- जिजीविषेत्) में, और तै० सं० में √गम् के सन्नन्त (१,५ २,३- जिगमिषति) में सन् को इडागम होता है । ब्रा० में लगभग एक दर्जन अन्य धातुओं के सन्नन्त रूपों में सन् को इडागम होता है; यथा— √अश् "खाना" से अशिशिष-, √क्रम् से चिक्रमिष- (बृ० उप०), √ग्रह् से जिग्रहीष- (कौ० ब्रा०; इट् का दीर्घ, टि० ३०४), √चर् से चिचरिष-, √जन् से जिजनिष- (श० ब्रा०), √दीक्ष् से दिदीक्षिष-, √बाध् से बिबाधिष- (श० ब्रा०), √रुच् से रुरुचिष- (ऐ० ब्रा०), √वद् से विवदिष-, √विद् "जानना" से विविदिष-, √स्तिघ् "चढ़ना" से तिष्टिघिष- (मै० सं०), √हिंस् से जिहिंसिष- (श० ब्रा०) ।

सप्तमोऽध्यायः

इस सम्बन्ध में पा० ने √ग्रह्, √गुह्, उकारान्त तथा ऋकारान्त धातुओं से परे सन् को इडागम का निषेध किया है[३५१]। उपर्युक्त स्थिति से स्पष्ट है कि वैदिक प्रयोग प्रायेण पा० निषेध से मेल खाते हैं और केवल √ग्रह् के सम्बन्ध में प्रयोग-भेद है। √ग्रह् के अधिकतर प्रयोग अनिट् हैं; यथा— जिघृक्षति (ब्रा०), केवल कौ० ब्रा० मे सेट् प्रयोग (जिग्रहीष-) मिलता है। पा० (७,२,७४-७५) ने √स्मि, √पू "पवित्र करना", √ऋ "जाना", √अञ्ज्, √अश् "खाना", √कॄ, √गॄ, √दृ, √धृ, तथा √प्रच्छ् से परे सन् को इडागम का विधान किया है, परन्तु उपर्युक्त √अश् के अतिरिक्त अन्य धातु के सन्नन्त का वैदिक प्रयोग अप्राप्य है। पा० (७,२,४१.४९.५७) ने लगभग २० धातुओ से परे सन् को इडागम का विकल्प किया है, परन्तु इन मे से कुल सात धातुओं के वैदिक प्रयोग मिलते है और उन सब मे भी इडागम का अभाव है। पा० ७,२,४१ में परिगणित धातुओं में से केवल √तॄ "तैरना" का अनिट् सन्नन्त प्रयोग (तितीर्षति, ब्रा०); ७,२,४९ में परिगणित धातुओं में से केवल √ऋध् (ईर्त्सत्, तै० सं०), √दम्भ् (दिप्सति ऋ०, अ०, दिप्सात् वा० सं०; धीप्सति जै० ब्रा०), √यु "जोड़ना" (युयूषतः, ऋ०), √भृ "भरण-पोषण करना" (बुभूर्षति, श० ब्रा०), तथा √सन् "पाना" (सिषासति ऋ०, तै० रा०, अ०) के अनिट् सन्नन्त प्रयोग; और पा० ७,२,५७ में परिगणित धातुओं में से केवल √तृद् का अनिट् सन्नन्त प्रयोग (तितृत्सति, वे०, ब्रा०) वैदिकभाषा में उपलब्ध है। इन सूत्रो मे परिगणित अन्य धातुओं के सन्नन्त वैदिक प्रयोग नहीं मिलते है।

२९४. **धातु-विकार**— सन् प्रत्यय परे रहते, निम्नलिखित धातु-विकार होते हैं—

(१) **गुण का अभाव**— गुण के साधारण नियम (टि० ११क) के अपवाद-स्वरूप; धातुओं के अन्तिम स्वरों (पा० इक्) तथा उपधा के लघु स्वरों

(इ, उ, ऋ) को सन् परे रहते गुण नहीं होता है और यथाप्राप्त निम्नलिखित विकार होते है या कोई विकार नही होता है। गुण के निषेध के लिये पाणिनि सन् प्रत्यय को कित् घोषित करता है (पा० १,२,८-१०) और कित् (सन्) परे रहते धातु के स्वर को गुण नहीं होता है (टि० १२); यथा—√नी से निनीषति, √भू से बुभूषति, √गुह् से जुगुक्षति, √दृश् से दिदृक्षति।

(२) अनिट् सन् परे रहते, अजन्त धातुओं के अन्तिम अच् (इ, उ) को और √हन् तथा √गम् की उपधा के अ को दीर्घत्व हो जाता है[३५२]; यथा— √जि से जिगीषति (तै० सं०), √स्तु से तुष्टूषति, √श्रु "सुनना" से शुश्रूषति, √हन् से जिघांसति (तै० सं०), √गम् से जिगांसति। ऋकारान्त धातु के ऋ को (पा० के अनुसार दीर्घ हो कर, टि० ३५२) सन् परे रहते ईर् आदेश हो जाता है (टि० ८२,९३); यथा—√कृ "करना" से चिकीर्षति (अ०), √सृ से सिसीर्षति (तै० सं०), √हृ से जिहीर्षति (अ०)। जिस ऋकारान्त धातु के ऋ से ठीक पूर्व पवर्ग का कोई व्यञ्जन हो, उस के ऋ का, सन् परे रहते, दीर्घ (टि० ३५२) और उर् (टि० ३५२क) और उ का दीर्घ (टि० ९३) हो जाता है; यथा— √भृ से बुभूर्षति, √मृ से मुमूर्षति।

(३) सन् परे रहते, √पा "पीना" के कुछ सन्नन्त रूपों के आ को ऋ० में ई आदेश हो जाता है; यथा— पिपासति तथा पिपीषते (ऋ०)।

(४) ऋ० में धित्सथः और अभिधित्सते को छोड़ कर, √धा "धारण करना" के शेष सन्नन्त रूपों में √धा के आ को इ आदेश होता है; यथा— दिधिषामि। यह आधुनिक मत है, परन्तु सायण आदि प्राचीन भारतीय विद्वान् ऐसे रूपों मे √धिप् मानते हैं। (अनु० २९६)।

(५) **धातु-विकार तथा अभ्यास-लोप**— अनिट् सन् परे रहते, निम्नलिखित धातुओं के स्वर में विकार होने के साथ-साथ इन के अभ्यास का भी लोप हो जाता है[३५३]।

सप्तमोऽध्यायः

क. अनिट् सन् परे रहते, √दा, √धा, √रभ्, √लभ्, √शक्, तथा √पद् के अच् (आ, अ) के स्थान पर इस् आदेश हो जाता है[३५४]; सन् परे रहते √दा तथा √धा के रूपों में इस् के स् को त् आदेश हो जाता है[३५५] और शेष धातुओं के रूपों में इस् के स् का लोप हो जाता है (प्रथम अध्याय, टि० १५६); यथा— √दा से दित्सति, √धा से धित्सते, √रभ् से रिप्सते (ब्रा०), √लभ् से लिप्सते (अ०), (तै० ब्रा० लीप्सते), √शक् से शिक्षति, √पद् से पित्सति (ब्रा०)। इस नियम के अपवादस्वरूप ऋ० १०, १५१,२ में शत्रन्त दिदासतः और ऐ० ब्रा० ८,२१ में दिदासिथ (लिट्, म० पु० ए०) रूप √दा "देना" से बनते हैं।

ख. अनिट् सन् परे रहते, √आप् तथा √ऋध् के अच् (आ, ऋ) के स्थान पर ई आदेश हो जाता है[३५६]; यथा— √आप् से ईप्सति (अ०), √ऋध् से ईर्त्सति (अ०, तै० सं०, ब्रा०)। इसी प्रकार √सह् तथा √दह् के अ को ई और अभ्यास-लोप होता है; यथा— सीक्षते (तै० सं०, ऋ०), धीक्षते (श० ब्रा०)।

ग. अनिट् सन् परे रहते, √दम्भ् (दभ्) के अ के स्थान पर कुछ रूपों में इ और कुछ रूपों में ई हो जाता है[३५७]; यथा— दिप्सति (ऋ०, अ०), धिप्सात् (वा० सं०), धीप्सति (जै० ब्रा०)।

. निट् सन् परे रहते, अकर्मक √मुच् के उ को गुण हो जाता है[३५८], और उपर्युक्त नियम (टि० ३५३) के अनुसार अभ्यास का लोप हो जाता है; यथा— मोक्षते (का० सं०, ब्रा०), "मुक्त होने की इच्छा करता है।" अभ्यासयुक्त तथा गुण-रहित साधारण रूप मुमुक्षते (अ०) इत्यादि भी बनते हैं।

(६) अनिट् सन् परे रहते, √ग्रह् के र् को संप्रसारण हो जाता है (टि० ८६); यथा— जिघृक्षति (ब्रा०, सू०)।

(७) सन् परे रहते, √हन् के ह् को घ्, √जि के ज् को ग्, और √चि (धापा० √कि) तथा √चित् (√धापा० √कित्) के च्

को क् आदेश हो जाता है (टि० २१५); यथा— जिघांसति, जिगीषति, चिकीषते (ब्रा०), चिकित्सति।

(८) अनिट् सन् परे रहते, √सन् "पाना" के न् के स्थान पर आ आदेश हो जाता है[३५९]; यथा— सिषासति।

(९) √घस् (पा० २,४,३७) "खाना" के स् को, सन् परे रहते, त् आदेश हो जाता है (टि० ३५५); यथा— जिघत्सति (अ०, श० ब्रा०)।

(१०) दूधूर्षति (अ०, श० ब्रा०) इत्यादि सन्नन्त रूपों में भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, √धुर्व् के व् का लोप (पा० ६,१,६६) और उ का दीर्घ हो जाता है। परन्तु ह्विटने (Roots, p. 84) प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इस धातु को √ध्वृ का गौण रूप मानते है।

२९५. रूप-रचना— सन्नन्त धातुओं के रूप आ० तथा प० में भ्वा० के रूपों की भांति बनते हैं। सन्नन्त धातुओं से बने वैदिक रूप लट्, लङ्, विमू०, लोट्, लेट्, तथा विलि० में उपलब्ध होते हैं। परन्तु लिट्, लुङ्, लृट् तथा लुट् के रूप अतिविरल हैं और आलि० तथा लृङ् के रूप अप्राप्य है। अधिकतर सन्नन्त रूप प० के है और आ० के रूप न्यूनतर है।

लट् के रूप

उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर, लट् में √सन् "पाना" के सन्नन्त रूप निम्न प्रकार से बनेंगे—

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	सिषासति ;	सिषासतः ;	सिषासन्ति।
म० पु०	सिषाससि ;	सिषासथः ;	× ।
उ० पु०	सिषासामि ;	× ;	सिषासामः।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए० सिषासते ; ब० सिषासन्ते ।

म० पु० ए० सिषाससे ।

उ० पु० ए० सिषासे ; ब० सिषासामहे ।

लङ् के रूप

संहिताओं में लङ् के अडागमसहित तथा अडागमरहित रूप उपलब्ध होते हैं; यथा— परस्मैपद प्र० पु० ए० अजिघांसत् (ऋ०), असिषासत् (ऋ०); प्र० पु० ब० अजिगांसन् (तै० सं०), अजिघांसन् (तै० सं०), अयुयुत्सन् (ऋ०), असिषासन् (ऋ०), दुदुक्षन् (√दुह्, ऋ०), त्रिभित्सन् (√भिद्, ऋ०)। म० पु० ए० असिषासः (ऋ०)। आत्मनेपद प्र० पु० ए० अचिकीषत (तै० सं०), अदित्सन्त (तै० सं०)।

विमू० के रूप

ऋ० मे लङ् के निम्नलिखित रूप विमू० (Injunctive) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं— परस्मैपद प्र० पु० ए० इनक्षत् (√नश्), चिकित्सत्, विवासत्। आत्मनेपद प्र० पु० ब० अप्सन्त (√आप्), दिधिषन्त (√धा), सीक्षन्त (√सह्)।

लोट् के रूप

उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर, लोट् में √सन् "पाना" के सन्नन्त रूप निम्न प्रकार से बनेंगे—

परस्मैपद—प्र० पु० ए० सिषासतु ; द्वि० सिषासताम् ; ब० सिषासन्तु ।

म० पु० ए० सिषास, सिषासतात् ; द्वि० सिषासतम् ; ब० सिषासत ।

लेट् के रूप

संहिताओं में उपलब्ध लेट् के निम्नलिखित सन्नन्त रूप उल्लेखनीय हैं—

परस्मैपद—प्र० पु० ए० जिघांसात् (तै० सं०), धिप्सात् (वा० सं० ११, ८०), तितृप्सात् (ऋ०), दिप्सात् (अ०, तै० सं०), निनित्सात् (ऋ०), विवासात् (ऋ०)। प्र० पु० ब०—इयक्षान् (ऋ०), तितृत्सान् (ऋ०), विवासान् (ऋ०)।

विलि० के रूप

विलि० में सन्नन्त के निम्नलिखित वैदिक रूप उल्लेखनीय है—

परस्मैपद— प्र० पु० ए०—ईर्त्सेन् (तै० सं०), पिपासेत् (तै० सं०), विवासेत् (ऋ०); उ० पु० ए०— दित्सेयम् (ऋ०), विवासेयम् (ऋ०); उ० पु० ब०— दिधिषेम (ऋ०), विवासेम (ऋ०)।

आत्मनेपद— उ० पु० ए० दिधिषेय (ऋ०)।

लिट् के रूप

सन्नन्त धातुओं के लिट् रूप अति विरल है। कतिपय विद्वान् ऋ० के मिमिक्ष, मिमिक्षतुः, मिमिक्षुः, मिमिक्षथुः, मिमिक्षे, मिमिक्षिरे इत्यादि रूपों को √मिश् या √मिह् के सन्नन्त लिट् मानते है, परन्तु इस सम्बन्ध में मत-भेद है (दे० अनु० २९६)। ऐ० ब्रा० ८,२१ में दिदासिथ मिलता है, जिसे √दा 'देना" के सन्नन्त का म० पु० ए० का लिट् माना जा सकता है। श० ब्रा० में √कृ के अनुप्रयोग द्वारा √आप्, √तिज्, √क्रम्, √भूर्व्, √बाध्, √रुह के सन्नन्त से लिट् के रूप बनाये गये है (टि० २१७); यथा— ईप्साञ्चकार, तितिक्षाञ्चक्रे, बीभत्साञ्चक्रिरे।

लुङ् के रूप

वैदिक भाषा मे सन्नन्त धातुओं के लुङ् के कुछ उदाहरण मिलते है और ऐसे सभी उदाहरणो में सेट्-सिज्लुङ् (Iṣ-Aorist) है; यथा—

परस्मैपद— प्र० पु० ए०— ऐप्सीत् (तै० ब्रा०), ऐत्सीत् (श० ब्रा०); म० पु० ए०— अचिकित्सीः (अ०), आचिकीर्षीः (श० ब्रा०), ईर्त्सीः (विमू०, अ०), अजिघांसीः (श० ब्रा०); उ० पु० ए०— अधित्सिषम् (ऐ० ब्रा०); उ० पु० व०— ऐप्सिष्म (जै० उप० ब्रा०)।

आत्मनेपद— म० पु० ए०— अमीमांसिष्ठाः (श० ब्रा०); उ० पु० ए०— जिज्ञासिषि (कौ० ब्रा०)।

लृट् तथा लुट् के रूप

सन्नन्त धातुओं से बने लृट् तथा लुट् के रूप अतिविरल है और ब्रा० में जो रूप मिलते हैं उन में 'स्य' तथा 'ता' (पा० तास्) को इडागम होता है; यथा— तितिक्षिष्यते (श० ब्रा०), दिदृक्षितारः (श० ब्रा०)।

शत्रन्त तथा शानजन्त रूप

सन्नन्त धातुओं से बनने वाले अधिकतर रूप शत्रन्त हैं और कुछ थोड़े से रूप शानजन्त हैं; यथा—शत्रन्त ऋ० में—इनक्षतः (प० ए०), इयक्षन्त, चिकित्सन्ती, जिघांसन्, दित्सन्तम्, दिप्सन्तः, सीक्षन्तः; तै० सं० में— दिप्सन्तः, सिषासन्तीः; शानजन्त ऋ० में— इयक्षमाणम्, जिगीषमाणम्, मुमुक्षमाणाः, शुश्रूषमाणः; तै० सं० में— सीक्षमाणः।

स्वर-वैशिष्ट्य— सन्नन्त रूपों में साधारणतया आदि अक्षर पर उदात्त रहता है (पा० ६,१,१८९), जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। परन्तु कतिपय रूपों में इस साधारण नियम का अपवाद मिलता है; यथा— वा० सं० ४०,२ में जिजीविषेत्; श० ब्रा० में तिष्ठासेत्, यियासन्तम्, विवदिषन्ति, ईप्सन्तः। ह्विटने (Skt. Gr, p. 372) के मतानुसार, इन्हें प्रायेण भूल माना जा सकता है।

णिजन्त से सन्नन्त रूप— वैदिकभाषा में णिजन्त धातुओं से बने सन्नन्त रूपों के कुछेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा— √आप् से आपिपयिषेत् (श० ब्रा०), √द्रा "भागना" से दिद्रापयिषति (श० ब्रा०),

√पा "पीना" से <u>पिपापयिषेत्</u> (का० सं०), √भू से विभावयिषति (ब्रा०), √राध् से रिराधयिषति (ब्रा०) । गो० गृ० सू० ३, ५,३० में √धृ "धारण करना" के णिजन्त से दिधारयिषेत् सन्नन्त बनता है ।

२९६. **व्याख्यान-विषयक मतभेद**— ऊपर जिन रूपों को उदाहृत किया गया है, उन में से कुछेक रूपों के स्वरूप के सम्बन्ध में व्याख्यान-विषयक मत-भेद है ।

<u>अप्सन्त</u> (ऋ० १,१००,८)— सायण इसे √आप् का लङ् समझता है और इस में व्यत्यय (टि० ७१) के द्वारा आ०, 'क्स' प्रत्यय, तथा धातु के आ का ह्रस्वत्व मानता है । परन्तु ग्रासमैन (WZR., Nachträge, *s.v.* āp), ह्विट्ने (Skt. Gr., p. 374) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 388; Ved. Gr. Stu., p. 200) इसे √आप् के सन्नन्त का लङ् मानते है ।

इनक्ष— ऋ० में इनक्ष अङ्ग से बने हुए इनक्षत्, इनक्षन्, इनक्षतः, इनक्षसि रूप बनते हैं जिन के सम्बन्ध में गहरा मत-भेद है । सायण का मत है कि "नक्ष गतौ" से पहले इ का छान्दस आगम हुआ है, या √इनक्ष् धातु से ये रूप बने हैं । धापा० में √नक्ष् की परिगणना अवश्य है । परन्तु आधुनिक विद्वान् इस से सहमत नहीं हैं । ग्रासमैन (WZR., *s.v. inakṣ*) इनक्ष् को √नक्ष् या √नश् "व्याप्त करना" का सन्नन्त समझता है । ह्विट्ने (Skt. Gr., p. 374; Roots, p. 89), मैक्डानल (Ved. Gr., p. 388; Ved. Gr. Stu., p. 200) तथा मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* इनक्ष्) इनक्ष को √नश् "व्याप्त करना" का सन्नन्त मानते हैं ।

इयक्ष— ऋ०, वा० सं०, तथा तै० सं० में इयक्ष अङ्ग से इयक्षति (ऋ०, तै० सं०), इयक्षते (ऋ०), इयक्षन्तः (ऋ०), इयक्षमाण- (ऋ०, वा० सं०) इत्यादि रूप बनते हैं । ऋ० २,२०,१ तथा ९,७८,१ के भाष्य में सायण गत्यर्थक √इयक्ष् की कल्पना करके इन रूपों का

समाधान करता है, परन्तु अन्यत्र (१,१२३,१० में) वह इसे √यज् का सन्नन्त मानता है और अनेक स्थलों पर ऐसा ही अर्थ करता है। वा० सं० १७,६९ पर महीधर भी इसे √यज् का सन्नन्त और अभ्यास के लोप को छान्दस मानता है। सभी आधुनिक विद्वान् इसे √यज् का सन्नन्त मानते है।

दिधिष — ऋ० में दिधिष अङ्ग से बने हुए एक दर्जन से अधिक रूप दिधिषन्ति, दिधिषामि, दिधिषन्ते, दिधिषाणाः इत्यादि मिलते हैं। सायण इन सब रूपों में जु० का √धिष् मानता है और धापा० में तथा निरुक्त (८,३) में √धिष् की सत्ता स्वीकार की गई है। परन्तु जु० के नियमों के आधार पर ऋ० में उपलब्ध तिङन्त रूपों (दिधिषामि, दिधिषेम इत्यादि) का समाधान नहीं किया जा सकता। इस कठिनाई को पार करने के लिये सायण "व्यत्यय" या "छान्दस" का सहारा लेता है; यथा ऋ० २,३५ १२ में दिधिषामि पर सायण कहता है— "मिपो व्यत्ययेनाडागमः"; ऋ० ८,९६,९ में दिधिषेम पर सायण— "धिष शब्दे जौहोत्यादिकः। अत्र व्यत्ययेन द्विविकरणता श्लुश्च शश्च।"; ऋ० १०,६३,१ में दिधिषन्ते पर सायण— "धिष शब्दे जौहोत्यादिकः। छान्दसो झस्यान्तादेशः।" परन्तु दिधिष को सन्नन्त अङ्ग मानने से ये सब रूप नियमपूर्वक भ्वा० की भांति बनते है और व्यत्यय का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। अत एव ग्रासमैन (WZR., *s.v.* dhā), मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* धा 1.), ह्विटने (Roots, p. 82) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 388; Ved. Gr Stu., p. 199) दिधिष को √धा "रखना" का सन्नन्त मानते है। यह समाधान प्रयोगों के प्रसंगार्थ के भी अनुकूल है।

मिमिक्ष— संहिताओं तथा ब्रा० में मिमिक्ष अङ्ग से बने हुए कुछ रूप मिलते हैं; यथा— मिमिक्षति, मिमिक्षिरे, मिमिक्षुः, मिमिक्षथुः इत्यादि (दे० अनु० २९५)। ऋ० १,१६५,१ के भाष्य में मिमिक्षुः

पर सायण कहता है—"मिहिसमानार्थः मिमिक्षतिधातुः" । परन्तु वह मिमिक्षिरे (ऋ० १,८७,६;१०,९६,३) को √मिह् का सन्नन्त लिट्, मिमिक्षुः (ऋ० १०,१०४,२) को √मिह् का सन्नन्त लुङ्, और मिमिक्ष (ऋ० ९,१०७,६), मिमिक्षतम् (ऋ० १,२२,३;३४,३;४७,४) तथा मिमिक्षताम् (ऋ० १,२२,१३) को √मिह् का सन्नन्त लोट् मानता है । सायण का अनुसरण करते हुए ग्रासमैन (WZR., *s.v.* mih) भी ऐसे रूपों को √मिह् के सन्नन्त से बने हुए स्वीकार करता है । परन्तु मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* मिक्ष् 1.), ह्विटने (Roots, p. 120) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 389) इन रूपों को √मिश् का सन्नन्त मानते है ।

विवास—ऋ० में **विवास** के अङ्ग से बने हुए एक दर्जन से अधिक रूप उपलब्ध होते हैं । सायण विवासति (ऋ०) को **परिचरति** का समानार्थक मान कर व्याख्यान करता है और इस व्याख्यान के समर्थन में निघण्टु ३,५ का निर्देश करता है, जिस में "विवासति" सहित दस "परिचरणकर्माणः" तिङन्तों की परिगणना की गई है । परन्तु आधुनिक विद्वानों का मत है कि विवासति उसी प्रकार √वन् "जीतना"+स से वनता है जैसे √सन् "पाना"+स से सिषासति वनता है [दे० अनु० २९४(८)] ।

२९७. **इच्छा से भिन्न अर्थ में सन्**—पा० ने √गुप्, √तिज्, √कित्, √मान्, √बध्, √दान्, तथा √शान् से परे, इच्छा से भिन्न अर्थ में, सन् प्रत्यय का विधान किया है और √मान् आदि के अभ्यास (इ) को दीर्घत्व का विधान किया है[३६०] । सि० कौ० ने इन धातुओं के सन्नन्त अर्थों के सम्बन्ध में निम्नलिखित वार्तिक उद्धृत किये हैं—(१) गुपेर्निन्दायाम्, (२) तिजेः क्षमायाम्, (३) कितेर्व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च, (४) मानेर्जिज्ञासायाम्, (५) बधेश्चित्तविकारे, (६) दानेरार्जवे, (७) शानेर्निशाने । उदाहरण—√गुप् से जुगुप्सते "घृणा करता है" (उप०,

गृ० सू०, ध० सू०); √तिज् से तितिक्षते "सहन करता है"; √कित् (आधुनिक मत से √चित्) से चिकित्सति "उपचार करता है" (का० श्रौ०), √मान् (आधुनिक मत से √मन् है और धातु के अ को √हन् की भांति दीर्घत्व, दे० अनु० २९४) से मीमांसते (श० ब्रा०) "विचार करता है"; √बध् (आधुनिक मत से √बाध्) से बीभत्सते (ब्रा०, सू०) "घृणा करता है"। √दान् तथा √शान् के वैदिक उदाहरण अप्राप्य हैं।

आशङ्का के अर्थ में या जब कोई कार्य सम्पन्न होने वाला ही है उस अर्थ में सन् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[361]; यथा— √मृ से मुमूर्षति (श्रौ० सू०) "मरने ही वाला है"।

यङ्लुगन्त तथा यङन्त (Intensive)

२९८. पौनःपुन्य (बार-बार) या भृश (बहुत अधिक) के अर्थ में धातु से परे य (पा० यङ्) प्रत्यय आता है[362]; यथा— नी "ले जाना" से नेनीयते (वा० सं०) "बार-बार ले जाता है"। ऐसे रूप यङन्त कहलाते हैं। यङ् का लुक् होने पर भी इन अर्थों में धातुओं से जो रूप बनते है वे यङ्लुगन्त कहलाते है[363]; यथा— भू "होना" से बोभवीति "बार-बार या बहुत अधिक होता है"। यद्यपि लौकिक संस्कृत में यङन्त का प्रचलन यङ्लुगन्त से अधिक है, तथापि वैदिकभाषा में यङ्-लुगन्त का प्रचलन बहुत अधिक है और यङन्त विरल है। वैदिक संहिताओं में ९० से अधिक धातुओं से और ब्रा० में लगभग २५ अन्य धातुओं से बने हुए यङ्लुगन्त तथा यङन्त रूप उपलब्ध होते हैं। संहिताओं में उपलब्ध ऐसे रूपों में से यङन्त रूप लगभग एक दर्जन हैं। ऋ० में आठ धातुओं से और अ० में इन के अतिरिक्त एक और धातु से यङन्त रूप बनते हैं।

यद्यपि साधारणतया एकाच् हलादि धातु से यङन्त तथा यङ्-लुगन्त रूप बनते हैं (टि० ३६२), परन्तु ऋ "जाना" से बने रूप— अलर्ति (ऋ०) तथा अलर्षि (ऋ०) इत्यादि— इस नियम के अपवाद

है[३६४]। काशि० तथा सि० कौ० में √ऋ का यङन्त रूप अरार्यते उदाहृत किया गया है, परन्तु इस का वैदिक उदाहरण अनुपलब्ध है। ग्रासमैन प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् वैदिक रूप ईमहे को इ "जाना" का यङ्लुगन्त मानते हैं (दे० Avery, p. 270; WZR., *s.v.* √i)। परन्तु ह्विटने ईमहे के इस व्याख्यान को सन्दिग्ध मानता है (Skt. Gr., p. 371), मैक्डानल ईमहे को √इ का लट् रूप मानता है (Ved. Gr. Stu., p. 371)।

२९९. **द्वित्व तथा अभ्यास की विशेषताएं**— यङन्त तथा यङ्लुगन्त रूपों में धातु को द्वित्व होता है (टि० ३४८) और द्वित्व में अभ्यास की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

१. **गुण**— अभ्यास के इ, उ को गुण हो जाता है[३६५]; यथा— √दिश् से दे-दिश्, √नी से ने-नी, √शुच् से शो-शुच्, √नु से नो-नु, √भू से बो-भू।

२. **न् (पा० नुक्) का आगम**— जिन धातुओं के अन्त में न् या म् है, उन के अकारान्त अभ्यास को न् (पा० नुक्) का आगम होता है[३६६]; यथा— √हन् से जङ्-घन्, √गम् से जङ्-गम्, √यम् से यं-यम्। इन के अतिरिक्त, √जप्, √जम्भ्, √दंश् तथा √स्तन् के अभ्यास को न् (पा० नुक्) का आगम होता है[३६७]; यथा— जञ्-जप् (श० ब्रा०), जञ्-जभ् (तै० सं०), दं-दश् (ऋ०), तं-स्तन् (अ०)।

अपवाद— कुछ वैदिक रूपों में √गम् तथा √हन् के अभ्यास को निम्नलिखित नी आगम होता है।

३. **नी (पा० नीक्) का आगम**— विरल यङ्लुगन्त वैदिक रूपों में अभ्यास को नी (पा० नीक्) का आगम होता है[३६८]; यथा— √गम् से गनीगन्ति (ऋ० ६,७५,३), तथा अगनीगन् (वा० सं० २३, ७), √फण् से आ-पनीफणत् (ऋ० ४,४०,४), √वह् से वनीवाह्यते (ब्रा०, सू०), √खुद् "खेलना" से चनीखुदत् (आश्व० श्रौ०

सू० २,१०,१४), √खुन् "खेलना" से कनीखुनत् (तै० ब्रा० २, ४,६,५)। पा० ७,४,८४ में √वञ्चु आदि जिन धातुओं के अभ्यास को नीक् का आगम किया गया है, उन का वैदिक उदाहरण मृग्य है।

४. **नि का आगम**— कतिपय वैदिक यङ्लुगन्त रूपों में अभ्यास को नि का आगम मिलता है (टि० ३६८); यथा— √क्रन्द् से कनिक्रन्ति (ऋ०), कनिक्रदत् (शत्रन्त, ऋ०; टि० ३६८) तथा कनिक्रत् (शत्रन्त, ऋ०), √गम् से गनिग्मतम् (ऋ० १०,४१,१), √पन् "स्तुति करना" से पनिष्नतम् (ऋ०), √श्चन्द् या √चन्द् (धापा०, सायण) से चनिश्चदत् (ऋ०), √स्कन्द् से कनिष्कन् (ऋ० ७,१०३,४) तथा चनिस्कदत् (ऋ० ८,६६,६), √स्यन्द् से सनिष्यदत् (ऋ०), √स्वन् से सनिष्वणत् (ऋ०), √हन् से घनिघ्नत् (ऋ०) तथा घनिघ्नते (ऋ०)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, अभ्यास को नि आगम उन रूपों में होता है जिन में धातु के अङ्ग में अभ्यास से परे संयुक्त व्यञ्जन है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में मिलता है।

५. **अभ्यास में चुत्व का अभाव**— अनेक वैदिक रूपों के अभ्यास में कवर्ग के वर्ण का चवर्ग के वर्ण में परिवर्तन नहीं होता है; यथा उपर्युक्त उदाहरणों में— √क्रन्द् से कनिक्रदत् इत्यादि, √खुन् से कनीखुनत्, √गम् से गनिगन्ति इत्यादि, √स्कन्द् से कनिष्कन्, √हन् से घनिघ्नत् इत्यादि। पा० ने √कु "शब्द करना" तथा √कृप् के अभ्यास में चुत्व के अभाव का विधान किया है[३६९]; यथा— कोकूयते (निरुक्त), करीकृप्यते। कुछेक वैदिक उदाहरणों में √कृ से करिक्रत् बनता है।

६. **री (पा० रीक्) का आगम**— ऋकारयुक्त धातुओं से बने कुछेक यङ्लुगन्त वैदिक रूपों में अभ्यास को री (पा० रीक्) आगम होता है और ऐसे अधिकतर रूप उन धातुओं से बने हैं जिन की उपधा में

ऋ है[370]; यथा— √वृज् से वरीवृजत् (ऋ०), √वृत् से वरी-वर्ति (ऋ०, तै० सं०), √वृ "ढांपना" से वरीवृत (तै० आ०)। ब्रा० में कुछ यङन्त रूपों में भी री आगम मिलता है; यथा— √मृज् से मरीमृज्यते, √मृश् से मरीमृश्यते, √वृत् से वरीवृत्यते, √सृप् से सरीसृप्यते।

विशेष— ऋ० १०,१२९,१ के अवरीवर् और १०,५१,६ के अवरीवुर् के सम्बन्ध में मत-भेद है। सायण के मतानुसार अवरीवर् √वृ का यङ्लुगन्त लङ् और अवरीवुर् √वृ का यङ्लुगन्त लुङ् है। ग्रासमैन (WZR., *s.v.* √Vṛt) तथा मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 421) के मतानुसार, ये दोनों रूप √वृत् के यङ्लुगन्त लङ् हैं। ह्विटने (Roots, *s.v.* √1 Vṛ 'cover'; √Vṛt) अवरीवर् को √वृ का यङ्लुगन्त और अवरीवुर् को √वृत् का यङ्लुगन्त मानता है। मैं इन दोनों रूपों को √वृ "ढांपना" का यङ्लुगन्त लङ् मानता हूं।

७. **रि (पा० रिक्) का आगम**— ऋकारान्त धातुओं से बने कुछेक यङ्-लुगन्त वैदिक रूपों में अभ्यास को रि (पा० रिक्) का आगम होता है[371]; यथा— √कृ से करिक्रत् (ऋ०) तथा चरिक्रत्, √भृ से भरि-भ्रति (ऋ०) तथा भरिभ्रत्।

विशेष— ऋ० ४,४०,३ में √तॄ से तरित्रतः (टि० ३६८) बनता है।

८. **र् (पा० रुक्) का आगम**—बहुत से यङ्लुगन्त वैदिक रूपो में अभ्यास को र् (पा० रुक्) का आगम होता है और ऐसे रूप प्रायेण उन धातुओं से बने है जिन की उपधा में ऋ है या जिन के अन्त में ऋ है (टि० ३७१); यथा— √कृप् से ऋ० में चर्कृपत् इत्यादि, √बृह् से बर्बृहि (ऋ०) तथा उप-बर्बृहत् (ऋ०), √मृज् से ऋ० में मर्मृजत तथा मर्मृजानासः इत्यादि, √मृश् से मर्मृशत् (ऋ०), √वृत् से ऋ० में वर्वर्ति, वर्वृतति तथा वर्वृताना:, √हृष् से ऋ० में जर्हृषन्त तथा जर्हृषाणः। ऋकारान्त धातुओं के रूप, यथा— √दृ से ऋ० में दर्दर्तु, दर्दरीति तथा दर्दिरत् इत्यादि (सायण

इत्यादि भारतीय विद्वान् इन्हें √दॄ के रूप मानते है), √धृ से ऋ० में दर्धर्षि तथा अदुर्धर्, और तै० सं० में दुर्ध्रेति, √सृ से ऋ० में सर्सृते, सर्स्राते, सर्स्रे तथा प्र-सर्स्राणः।

विशेष— (क) √मृज् के कुछ यङ्लुगन्त रूपों में भी अभ्यास को र् का आगम होता है (टि० ३७१); यथा— मर्मृज्यते (ऋ०), मर्मृज्यमानः (ऋ०)।

(ख) मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* कृ2.), ह्विटने (Roots, *s.v.* √3 Kṛ, 'commemorate') तथा मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 376) के मतानुसार √कृ "स्तुति करना" से ऋ० में यङ्लुगन्त के रूप चर्कर्मि, चार्किरन्, चार्किराम, चर्कृतात् तथा चर्कृषे बनते है। ग्रासमैन (WZR., *s.v.* √1. Kir, Kar) इन रूपों में √किर् तथा √कर् मान कर समाधान करता है। सायण चर्कर्मि तथा चर्कृतात् में √कृ 'करना", चर्किरन् में √कॄ "बखेरना", चर्कृषे (ऋ० १०,७४,१) में √कृप्, और चार्किराम में ऋ० ४,४०, १ के भाष्य में √कृ "करना" और ऋ० ४,३९,१ के भाष्य में √कॄ 'बखेरना" मानता है। ह्विटने प्रभृति का मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(ग) ग्रासमैन, ह्विटने, मोनियर विलियम्स, मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वान् ऋ० में उपलब्ध जर्भुरीति, जर्भुरत् तथा जर्भुराणः को √भुर् "काँपना" का यङ्लुगन्त मानते है। मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* भुर्) का अनुमान है कि √भुर् सम्भवतः √भृ का गौण रूप है। सायण ने इन रूपों की व्याकरण-प्रक्रिया पर तो प्रकाश नहीं डाला है, परन्तु अधिकतर इन रूपों का व्याख्यान √गम् के रूप द्वारा करता है, दो स्थानों पर √पूर् "भरना" से, और ऋ० ५, ८३,५ के भाष्य में जर्भुरीति का व्याख्यान "भ्रियते पूर्यते गच्छतीति वा" किया है।

(घ) यङ्लुगन्त रूप मर्मर्तु (ऋ० २,२३,७) के धातु के सम्बन्ध में मत-भेद

है। सायण के मतानुसार यह रूप √मृ "मरना" से, मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 407) के मतानुसार √मृ "कुचलना" से, और ग्रासमैन (WZR., *s.v.* √mṛd) ह्विटने (Roots, p. 126) तथा मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* मृद् 1.) के मतानुसार √मृद् "कुचलना" से बना है।

(ङ) ऋ० में √गॄ "निगलना" से अप-जर्गुराणः तथा जल्गुलः (लिट्), आधुनिक मत के अनुसार, बनते हैं। परन्तु सायण जल्गुलः में √गल् 'अदने' मानता है।

(च) ऋ० में √तॄ "तैरना" से यङ्लुगन्त तर्तरीति, तर्तरीथः तथा तर्तुराणाः के अतिरिक्त यङन्त तर्तूर्यन्ते भी बनता है।

(छ) वैदिकभाषा में √चर् के यङ्लुगन्त चर्चरीति इत्यादि और यङन्त चर्चूर्यमाणः इत्यादि बनते हैं। मै० सं० में √चल् का यङ्लुगन्त चल्चलीति बनता है। ऋ० में √फर् का यङ्लुगन्त पर्फरत् बनता है।

९. **इ का आगम**—कुछेक विरल यङ्लुगन्त रूपों में अभ्यास को इ का आगम होता है और सन्धि द्वारा अभ्यास के ओ का अव् बन जाता है (टि० ३६८); यथा—√द्युत् से ऋ० में दविद्युतति (प्र० पु० ब०), दविद्योत् (लङ् प्र० पु० ए०), दविद्युतत्; और √धू "हिलाना" से ऋ० में शत्रन्त दविध्वत् तथा दाविध्वतः (प्रथ० ब०) और लिट् का रूप दुविध्वान् बनते हैं। सायण तथा आधुनिक विद्वानों के मतानुसार उपर्युक्त दविध्वतः √धू का शत्रन्त रूप है, परन्तु पा० ७,४,६५ पर काशि० तथा सि० कौ० के मतानुसार यह रूप √ध्वृ का शत्रन्त है। आधुनिक मत अधिक उचित है।

१०. **ई का आगम**—√तु "सशक्त होना" के शत्रन्त सं-तवीत्वत् (ऋ०) में और √नु "स्तुति करना" के लङ् नवीनोत् (ऋ०) में अभ्यास को ई का आगम होता है और सन्धि द्वारा ओ का अव् हो जाता है। यास्क (२,२८) सं-तवीत्वत् में √तन् मानता है।

सप्तमोऽध्यायः

११. **अभ्यास के अ का दीर्घ**— कुछ वैदिक रूपों में अभ्यास के अ को दीर्घ आदेश हो जाता है और ऐसे रूप प्रायेण उन धातुओं से बनते है जिन के अभ्यास को उपर्युक्त न्, नी, नि, री, रि, र् का आगम नहीं होता है[३७२]; यथा— √काश् से चाकशीति, √नद् से नानदति (प्र० पु० ब०), √पत् से पापतीति, √बाध् से बाबधे, √रञ्ज् से रारजीति, √रप् से रारपीति, √लप् से लालपीति, √वच् से अवावचीत्, √वद् से वावदीति, √वाश् से वावशन्त (ऋ०), √श्वस् से शाश्वसतः (ऋ०)।

विशेष—(क) इस नियम के अपवाद-स्वरूप √गम्, √चल्, √दृ, तथा √धृ के विरल रूपों में अभ्यास के अ का दीर्घ हो जाता है (टि० ३६८); यथा— √चल् से चाचलत् (अ०), √दृ (पा० दॄ) से दादृहि (पपा० ददृहि, ऋ०), √धृ से आ० में दाधर्ति (ए०), दाध्रति (ब०), दाधर्तु।

(ख) ह्विटने (Roots, *s.v.* √3. gṛ) तथा मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 380) आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, √गृ "जागना" का यङ्लुगन्त अङ्ग जागृ- बनता है जिस से जागर्ति, जाग्रति (ब०), जागृहि इत्यादि रूप चलते हैं। भारतीय विद्वान् ऐसे रूपों में √जागृ को स्वतन्त्र धातु मानते हैं। हम ने √जागृ को अदा० का धातु माना है और इस के रूप यहां नहीं दिखाये हैं।

यङ्लुगन्त रूप

३००. वैदिकभाषा में यङ्लुगन्त रूपों का पर्याप्त प्रचलन है। यङ्लुगन्त रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों में बनते है, परन्तु परस्मैपद के रूप अधिक है।

रूप-रचना— यङ्लुगन्त के अङ्ग के साथ लकारों के प्रत्यय साधारणतया उसी प्रकार जोड़े जाते हैं, जैसे जु० के अङ्ग के साथ; यथा— √धृ से दाधर्ति (ए०), दाध्रति (ब०), दाधर्तु इत्यादि। जु० की भांति पित् प्रत्ययों से पूर्व, धातु के स्वर को गुण होता है।

जु० और यङ्लुगन्त का भेद— जैसा कि टि० ३६८ में बताया गया है, काशि० तथा सि० कौ० यङ्लुगन्त के कतिपय रूपों को जु० के रूप मानते हैं। इसी प्रकार सायण भी अनेक यङ्लुगन्त रूपों को जु० के मानता है; यथा—नि-यनिंघ्नते (ऋ० १,५५,५), पर्फरत् (ऋ० १०,१०६, ७), नम्नंते (ऋ० १,१४०,६)। पाणिनि √निज्, √विज् तथा विष् के उन रूपों को जु० के मानता है जिन के अभ्यास के इ को गुण होता है[३७३]; यथा— नेनेक्ति, वेवेष्टि। परन्तु ग्रासमैन, ह्विटने तथा मैक्डानल आदि के मतानुसार √निज्, √विज् तथा √विष् के ऐसे रूप यङ्लुगन्त के है। जिन रूपों में अभ्यास के स्वर इ उ को गुण मिलता है या अभ्यास को नि, नी, रि, री, र् इत्यादि का आगम होता है, ऐसे रूप, आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, यङ्लुगन्त हैं।

सायण कुछ यङ्लुगन्त रूपों को केवल लिट् के रूप मानता है और अभ्यास में र् इत्यादि के आगम को छान्दस मानता है; यथा—मर्मृज्म (ऋ०)। परन्तु ऐसा व्याख्यान वैदिक व्याकरण के नियमों के अनुकूल नहीं है। पाणिनि √जागृ को अदा० में सम्मिलित करता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे √गृ का यङ्लुगन्त मानते हैं। √गृ "जागना" के स्वतन्त्र (द्वित्वरहित) रूप न मिलने के कारण √जागृ को अदा० में सम्मिलित करना उचित है। √निज् के स्वतन्त्र रूप निजानः, अनिजम्, अनिजन् इत्यादि मिलते हैं।

अत एव हम ने √निज् के नेनिक्ते इत्यादि द्वित्वयुक्त रूपों को यङ्लुगन्त रूपों में गिनाया है, परन्तु √जागृ के रूपों को यङ्लुगन्त रूपों में सम्मिलित नहीं किया है।

ई (पा० ईट्) का आगम— बहुत से यङ्लुगन्त रूपों में लकारों के हलादि पित् (अनु० २१२) प्रत्ययों (तिप्, सिप्, मिप् और इन के गौण रूप त्, स्, तु इत्यादि जो पित् हों) से पूर्व और धातु के पश्चात् ई (पा० ईट्) आगम जोड़ा जाता है[३७४]; यथा— चाकशीति, चाकशीमि, चाकशीहि, जोहवीतु, अजोहवीत्। परस्मैपद

(ख) लेट्— यङ्लुगन्त लेट् के दो दर्जन से अधिक वैदिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिन में से लगभग आधा दर्जन उदाहरण आत्मनेपद के हैं। अधिकतर रूपों में गौण प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। उपलब्ध उदाहरण निम्नलिखित है—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— चर्कृ॑षत् , चेकि॑तत् , दर्दि॑रत् , दविद्युतत् , पर्फु॑रत् , बर्बृ॑हत् , मर्मृ॑जत् , मर्मृ॑शत् , चनिस्कदत् , सनिष्वणत् , जङ्घ॑नत् ।

प्र० पु० ब०— चर्किरन् , चाकशान् (अ०), पाप॑तन् (मैक्डानल), शोशु॑चन् ।

म० पु० ए०— जल्गुलः , जङ्घनः ।

उ० पु० ए०— जङ्घना॑नि ; द्वि०— जङ्घनाव ; ब०—चर्किराम, वेविदाम ।

आत्मनेपद

प्र० पु० द्वि०— वि-तं॑तसैते (√तंस्); ब०— नोनुवन्त , मर्मृ॑जन्त, शोशुचन्त , जङ्घनन्त , जर्हृ॑षन्त , सनिष्णत ? (√सन् , ऋ० १, १३१,५) ।

व्याख्यान-भेद— अवैरी (pp 270-71) तथा ग्रासमैन (WZR., *s.v.*, kan) के मतानुसार, ऋ० के पद चाक॑नत् , चाक॑नः , चाकन् , चाक॑नाम तथा चाक॑नन्त यङ्लुगन्त लेट् के रूप हैं। परन्तु ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, इन में से चार पद लिड्वर्ग के अङ्ग से बने हुए लेट् के रूप है (दे० अनु० २५६ग) और चाकन् अतिलिट् का रूप है (अनु० २५७घ)। अवैरी (pp. 270-71) तथा ग्रासमैन (WZR., *s.v.*, ran) के मतानुसार, रार॑णत् , रार॑णः और रारन् भी यङ्लुगन्त लेट् के रूप हैं। परन्तु ह्विटने तथा मैक्डानल के मतानुसार, रारन् अतिलिट् (अनु० २५७घ) का रूप है और शेष दोनों पद लिड्वर्ग के अङ्ग से बने हुए लेट् के रूप हैं (अनु० २५६)।

उत्तरकालीन ग्रन्थ (Ved. Gr. Stu., p. 411) में मैक्डानल <u>रारन्</u> को लिट् से बना विमू० रूप मानता है। अवैरी (pp. 270-71) के मतानुसार, निम्नलिखित रूप यङ्लुगन्त लेट् के है (परन्तु ह्विटने तथा मैक्डानल इन्हें यङ्लुगन्त लङ् के रूप मानते है) -

परस्मैपद— प्र० पु० ए०— दर्दर् , दविद्योत् , नवीनोत् , कनिक्रन् ।
उ० पु० ए०— <u>देदिशम्</u> : ब०— <u>मर्मृज्म</u> ।

आत्मनेपद— प्र० पु० ब० — <u>मर्मृजत</u> ।

मैक्डानल के मतानुसार इस प्रकार के कुछ अडागमरहित रूप विमू० हैं।

इस के विपरीत अवैरी पार्पतान् और <u>चर्किरन्</u> के दो प्रयोगों को यङ्लुगन्त लङ् मानता है।

<u>सनिष्णत</u> (ऋ० १,१३१,५)— सायण इसे √सन् का केवल लेट् मानता है। परन्तु आधुनिक विद्वान् इसे √सन् का यङ्लुगन्त लेट् या अडागमरहित लङ् (आ० प्र० पु० ब०) मानते है।

(ग) **विधिलिङ्**— यदि √जागृ के तीन विलि० रूपों को भी यङ्लुगन्त रूपों में सम्मिलित किया जाय, तो यङ्लुगन्त विलि० के रूपों की संख्या पांच तक पहुंचती है; अन्यथा केवल दो रूप ही रह जाते है— √निज् से आ० प्र० पु० ए० <u>नेनिजीत</u> (का० सं०) और √विष् से प० प्र० पु० ए० <u>वेविष्यात्</u> (अ०)। पा० के अनुसार, ये दोनों रूप भी जु० के है। ह्विटने जागृयात् (ऐ० ब्रा०), जागृयाः (कौ० ब्रा०) और <u>जागृयास</u> (वा० सं०, मै० स०; तै० सं— <u>जाग्रियाम</u>) को यङ्लुगन्त विलि० मानता है। ग्रासमैन (WZR., *s.v.*, kan) <u>चाकन्यात्</u> (ऋ० १०,३१,४) को यङ्-लुगन्त विलि० का रूप मानता है, परन्तु ह्विटने तथा मैक्डानल इसे लिट् से बना विलि० मानते है (अनु० २६२)।

सप्तमोऽध्यायः

लिट् तथा लुङ् के रूप

३०४ (क) **लिट्**— यङ्लुगन्त लिट् के लगभग दस वैदिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यङ्लुगन्त लिट् प्रायेण वर्तमान काल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उपलब्ध रूप निम्नलिखित हैं—

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— दविद्राव, दोद्राव (√द्रु, तै० सं०), नोनाव, योयाव (√यु, मै० सं०), लेलाय (√ली, मै० सं०)।

प्र० पु० ब०— नोनुवुः।

उ० पु० ए०— चाकन (अवैरी, ग्रासमैन)।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— ग्रासमैन के मतानुसार, योयुवे तथा प्र-सर्स्रे यङ्लुगन्त लिट् हैं, परन्तु मैक्डानल आदि इन्हें यङ्लुगन्त लट् मानते हैं (टि० ३७७-३७८)।

(ख) **लुङ्**— अवैरी, ग्रासमैन, ह्विटने तथा मैक्डानल ऋ० के चर्कृषे पद को √कृ "स्तुति करना" (commemorate) का यङ्लुगन्त लुङ् मानते हैं और मैक्डानल (Ved. Gr., p. 393) कहता है कि यह रूप वर्तमान काल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋ० १०,७४,१ के भाष्य में सायण इस पद का अर्थ "अपकृष्यते" करता है और अन्यत्र "पुनः पुनर्विलेखनाय" करता है; अर्थात् सायण इसे √कृष् का रूप मानता है। यद्यपि सायण अवरीवुर् को √वृ का यङ्लुगन्त लुङ् मानता है, तथापि इसे लङ् मानना ही उचित है [दे० अनु० २९९(६)]।

३०५. **यङ्लुगन्त के शत्रन्त तथा शानजन्त रूप**— लगभग ४० से अधिक यङ्लुगन्त अङ्गो से बने हुए ऐसे रूप उपलब्ध होते हैं, जिन में से लगभग दो-तिहाई रूप शत्रन्त और शेष शानजन्त है। ऐसे रूपों में उदात्त साधारणतया अभ्यास पर रहता है। प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है —

शत्रन्त रूप— चाकशत् (√काश्), कानिक्रदत्, कनिक्रत् (ऋ० ९,६३, २०), करिक्रत्, चरिक्रत् (अ०), चेकितत्, चकृषत्, गनिग्मत्, सं-तवीत्वत् [√तु या √तन्; अनु० २९९(१०)], तरित्रत् (√तॄ), दरिद्रत् (तै० सं० ४,५,१०,१), दर्द्रत्, दविद्युतत्, दोधुवत् (√धू), नानदत्, नन्नमत्, पनिप्नत् (√पन्), पेपिशत्, पोप्रुथत्, पनीफणत्, जर्भुरत्, बोभुवत् (अ०), भरिभ्रत्, मर्मृजत्, योयुवत् (√यु "पृथक् करना", अ०), योयुवत् (√यु "जोड़ना" ऋ०), रेरिहत्, रोरुवत्, वावदत्, वावशत् (√वाश्), वेविदत् (√विद् "पाना"), वेविपत्, वरीवृजत्, शोशुचत्, शाश्वसत्, सेषिधत्, सनिष्यदत्, जङ्घनत्, घनिघ्नत्।

शानजन्त रूप— चेकितान, जोगुवान, जञ्जभान, दंदशान, नन्नमान, पेपिशान (अ०, तै० सं०), बाबधान, जर्भुराण, मेम्यान (√मी), मर्मृजान, योयुवान (√यु "जोड़ना"), रेरिहाण, रोरुचान, वेविजान, वेविषाण, शोशुचान, सस्राण, जर्हृषाण।

अनियमित उदात्त— कुछेक शानजन्त रूपों में अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है; यथा— बद्बधान, मर्मृजान, रारक्षाण, जाहृषाण। ग्रासमैन इन सब को यङ्लुगन्त के शानजन्त रूप मानता है, परन्तु ह्विटने तथा मैक्डानल का मत है कि अन्तिम दो रूप लिड्वर्ग के अङ्ग से बने शानजन्त हो सकते है।

३०६. **यङन्त रूप**—जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, वैदिकभाषा में यङ्लुगन्त रूपों की तुलना में यङन्त रूप अतिन्यून हैं। ऋ० में केवल आठ धातुओं से यङन्त रूप बनते हैं। अ०, तै० सं० इत्यादि में तथा ब्राह्मणों में कुछ अन्य धातुओं से बने हुए यङन्त रूप उपलब्ध होते है। यङन्त रूप प्रायेण प्र० पु० ए०, प्र० पु० ब० तथा म० पु० ए० के है। कुछेक शानजन्त रूप भी मिलते है।

रूप-रचना— यङन्त रूपों मे द्वित्व तथा अभ्यास से सम्बद्ध नियम प्रायेण वे ही है जो अनु० २९९ में बताये गये हैं। यङन्त रूपों की विशेषता

यह है कि धातु से परे उदात्त य (पा० यङ्) आता है (द्रि० ३६२) और सभी रूप आत्मनेपद में बनते है। उपलब्ध रूप निम्नलिखित है—

लट् के रूप— प्र० पु० ए०— देदिश्यते (अ०, वा० सं०, का० सं०), नेनीयते (वा० सं०), मर्मृज्यते, योयुप्यते (तै० सं०, तै० ब्रा०), रेरिह्यते, वेविज्यते, वेवीयते, चोष्कूयते (√स्कु)।

प्र० पु० ब०— चाकश्यन्ते (श० ब्रा०), तर्तूर्यन्ते (√तृ), नोनुद्यन्ते (गो० ब्रा०), मर्मृज्यन्ते, योयुप्यन्ते (तै० सं०)।

म० पु० ए०— लेलिह्यसे (उप०), चोष्कूयसे (√स्कु)।

शानजन्त रूप— चाकश्यमान- (का० श्रौ०), चङ्क्रम्यमाण- (तै० सं०, का० सं०), चर्चूर्यमाण- (√चर्), नेनीयमान-, बंभ्रम्यमाण- (उप०), मर्मृज्यमान-, चोष्कूयमाण-।

विधिलिङ् के रूप— प्र० पु० ए०— मरीमृज्येत (ऐ० ब्रा०), योयुप्येत (तै० सं०)।

प्र० पु० ब०— नेनीयेरन् (तै० सं०), योयुप्येरन् (श० ब्रा०)।

लङ् का रूप— प्र० पु० ब०— अनोनुद्यन्त (ऐ० ब्रा०)।

नाम–धातु (Denominative)

३०७. वैदिकभाषा में नामधातुओं का प्रचुर प्रयोग मिलता है। परन्तु उत्तरोत्तर इन का प्रयोग कम होता गया है। ऋ० में सौ से अधिक अङ्गों से बने हुए नामधातु-प्रयोग उपलब्ध होते है और अ० में लगभग पचास अङ्गों से बने हुए प्रयोग मिलते है। ब्रा० में नामधातुओं का प्रयोग न्यूनतर है। अत एव ऐ० ब्रा में लगभग बीस और श० ब्रा० में लगभग एक दर्जन उदाहरण दृष्टिगोचर होते है। वेदाङ्गों में नामधातुओं का प्रयोग अत्यल्प है।

नामधातु-प्रत्यय— अधिकतर नामधातु-रूपों में नाम से परे सोदात्त य प्रत्यय आता है, जिस के लिये पाणिनि ने क्यच्, क्यङ्, क्यप्,

तथा यक् प्रत्ययों का विधान किया है। पा० के मतानुसार, अनुबन्ध-भेद से भिन्न ये प्रत्यय निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं—

१. **क्यच् (य)**— जब कर्ता अपने लिये इच्छा करता है, उस इच्छा के सुबन्त कर्म से परे इच्छा के अर्थ में क्यच् (य) प्रत्यय आता है[३७९]; यथा— पुत्र से पुत्रीयति "अपने लिये पुत्र की इच्छा करता है"। वैदिकभाषा में दूसरे के लिये इच्छा करने के अर्थ में भी सुबन्त कर्म से परे क्यच् (य) प्रत्यय का प्रयोग होता है (टि० ३७९); यथा— अघ से अघायति (ऋ०) "दूसरे का बुरा (अघ) चाहता है"। उपमान सुबन्त कर्म से परे आचार (व्यवहार treatment) के अर्थ में क्यच् (य) प्रत्यय आता है[३८०]; यथा— पुत्रीयति छात्रम् (काशि०) "आचार्य छात्र के साथ पुत्र जैसा व्यवहार करता है"। किसी के सदृश आचरण करने के अर्थ में वैदिकभाषा के अनेक नामधातुरूपों में उपमान सुबन्त कर्ता से परे क्यच् (य) प्रत्यय मिलता है; यथा— अराति से अरातीयति "अराति (शत्रु) जैसा आचरण करता है"। अनेक नामों से परे "करना" (करण) के अर्थ में क्यच् (य) प्रत्यय आता है[३८१]; यथा— नमस् "नमस्कार" से नमस्यति "नमस्कार करता है"।

क्यजन्त नामधातुओं के रूप परस्मैपद में बनते हैं।

२ **क्यङ् (य)**— उपमान सुबन्त कर्ता से परे उस जैसा आचरण करने के अर्थ में क्यङ् (य) प्रत्यय आता है[३८२]; यथा— प्रिय से अप्रियायत (ऋ०) "प्रिय जैसा आचरण किया"। "होना" (भुवि) अर्थ मे सुबन्त कर्ता से परे क्यङ् (य) प्रत्यय आता है[३८३]; यथा— सुमनस् से सुमनस्यमानः "अच्छे मन वाला होता हुआ"।

क्यङन्त नामधातुओं के रूप आत्मनेपद में बनते हैं।

३. **क्यप् (य)**— "होना" या "बनना" अर्थ में अनेक कर्तृवाचक सुबन्तों से परे क्यप् (य) प्रत्यय आता है[३८४]; यथा— तविष "बलवान्" से तविषीयसे (ऋ०) "बलवान् होते हो", अजिर "गतिशील" से अजिरायते (ऋ०) "गतिशील बनता है"।

सप्तमोऽध्यायः

क्यषन्त नामधातुओं के रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों में मिलते हैं।

४. **यक् (य)**— कण्डू इत्यादि से परे पाणिनि ने यक् (य) प्रत्यय का विधान किया है[३८५]। यद्यपि महाभाष्य, काशि० तथा सि० कौ० का यह मत है कि कण्डू इत्यादि धातुओं से (प्रातिपदिकों से नहीं) स्वार्थ में यक् प्रत्यय आता है, तथापि सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी टीका से ज्ञात होता है कि अनेक प्राचीन वैयाकरण कण्डू इत्यादि प्रातिपदिकों से "करना" अर्थ में यक् प्रत्यय मानते थे। मै उन प्राचीन वैयाकरणों से सहमत हूं और यह मानता हूं कि कण्डू इत्यादि नामों से परे "करना", या 'होना" अर्थ में यक् (य) प्रत्यय आता है। कण्ड्वादिगण के अधिकतर नामधातुओं के वैदिक प्रयोग मिलते है, और इन नामधातुओं से बने रूप आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों में उपलब्ध होते हैं; यथा— असू से ऋ० में असूयन् (शत्रन्त) और श० ब्रा० में असूयति, आसूयत्, आसूयीत् "असन्तोष प्रकट किया", इरज् से इरज्यति[३८६] (ऋ०, अ०) "स्वामी होता है", इरस् से इरस्यति (ऋ०, मै० सं०) "ईर्ष्या करता है", इषुध् से इषुध्यति[३८७] (ऋ०, वा० सं०) "याचना करता है", कण्डू से कण्डूयते (तै० सं०, का० सं०) "खुजली करता है", तुरण "शीघ्रगामी" से तुरण्यति (ऋ०) "शीघ्रगामी होता है", दुवस् से दुवस्यति (ऋ०) "परिचर्या करता है", भिषज् से भिषज्यति (तै० सं०, मै० सं०, का० सं०) "चिकित्सा करता है", भुरण "गतिशील" से भुरण्यति (ऋ०) "गतिशील होता है", मनस् से मनस्यसि (ऋ०) "मन में धारण करते हो", तथा मनस्ये (ऋ०) "मन में धारण करता हूं", महि "बड़ा" से महीयते[३८८] (ऋ०, अ०) "आनन्दित होना, आदृत होना", वल्गु से वल्गूयति (ऋ०) "आदर करता है", सपर् से सपर्यति[३८९] (ऋ०) "परिचर्या करता है"।

यगन्त नामधातुओं के रूप आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों में मिलते है।

५. **णिच् (इ)**— पाणिनि ने कुछ नामधातुओं से परे णिच् (इ) प्रत्यय का विधान किया है[३१०]। यह णिच् (इ) प्रत्यय प्रायेण "करना" अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा— व्रत 'भोजन" से व्रतयेत् (मै० सं०, का० सं) "भोजन करे", चूर्ण से चूर्णयेत् (मा० श्रौ०) "चूर्ण बनाये", वस्त्र से सं-वस्त्रयेत् (मा० गृ०) "वस्त्र को पहने"।

णिजन्त नामधातुओं का स्वर— णिजन्त धातुओं के रूपों की भांति णिजन्त नामधातुओं के रूपों में नामधातु के अन्तिम अ पर उदात्त रहता है और य पर उदात्त नहीं होता है; जैसे— व्रत से व्रतयेत्, व्रतयति (श० ब्रा०)।

स्वर-वैशिष्ट्य से णिजन्त नामधातुओं में गणना— वैदिकभाषा में ऐसे अनेक नामधातुरूप मिलते है जिन में य पर उदात्त नहीं है और णिजन्त नामधातुरूपों की भांति, नामधातु के अन्तिम अ पर उदात्त है; यथा— ऋत से ऋतयन् (ऋ०) "ऋत (शाश्वत नियम) को करता हुआ", कुलाय से कुलाययत् (ऋ०) "घोंसला बनाता हुआ", नीळ से नीळयासे (ऋ०) "नीड (विश्राम-स्थान) में लाओगे", सभाग "भागी" से सभागयति (अ०) "भागी बनाता है"। ऐसे रूपों को णिजन्त नामधातुरूप मानना उचित होगा, यद्यपि अनेक पाश्चात्य विद्वान् ऐसे रूपों मे य प्रत्यय मानते है।

चुरादिगण के नामधातु— पाणिनीय धातुपाठ मे अनेक नामधातुओं को चुरादिगण में गिनाया गया है। इस में कोई सन्देह नही है कि धातुपाठ के चुरादिगण में गिनाये गये अधिकतर धातु नामों से बने हुए हैं; यथा— अर्थ से अर्थयासे (ऋ०, सा०) "याचना करते हो", ऊन से ऊनयीः (ऋ०, अ०) "परिहीन करो", कीर्ति से कीर्तयति (तै० सं०, मै० सं०, का० स०) "कीर्ति करता है", पाल से पालयन्तु (मै० सं०) "पाल (रक्षक) का कार्य (अर्थात् रक्षा) करें", भक्ष से भक्षयति (मै० सं०, तै० सं०, का० स०) "भक्ष (भक्षण) करता है", मन्त्र से मन्त्रयन्ते (ऋ०, अ०, का० सं०) "मन्त्र (मन्त्रणा) करते हैं", मृग से मृगयन्ते (ऋ०, अ०) "खोजते है"।

सप्तमोऽध्यायः

६. क्विप्— अनेक नामधातुरूपों में नाम से परे य या णिच् इत्यादि कोई नामधातु-प्रत्यय नहीं जोड़ा जाता है और नामधातु से परे ति इत्यादि प्रत्यय जोड़ कर रूप बनाये जाते हैं। वार्तिककार ऐसे नामधातु-रूपों में "आचार" के अर्थ में क्विप् प्रत्यय (जिस का सम्पूर्ण लोप होता है) मानता है[३९१]; यथा— भिषज् से भिषक्ति (ऋ०) "चिकित्सा करता है"।

३०८. नामधातुओं में विकार— य प्रत्यय परे रहते नामधातुओं में निम्नलिखित विकार होते हैं—

१. अकारान्त— (क) नामधातुप्रत्यय य परे रहते अनेक अकारान्त नामधातुओं में कोई विकार नहीं होता है[३९२]; यथा— अमित्र से अमित्र-यन्तम् (ऋ०, तै० सं०, का० सं०) "शत्रु के समान आचरण करते हुए को", इन्द्र से इन्द्रयन्ते (ऋ०) "इन्द्र के समान आचरण करते हैं"; देव से देवयन् (ऋ०) "देवों की पूजा करता हुआ", सुम्न से सुम्नयन् (ऋ०) "अनुग्रह की इच्छा करता हुआ"।

(ख) अनेक नामधातुरूपों में अकारान्त नाम के अन्तिम अ का दीर्घ हो जाता है[३९३]; यथा— अघ से अघायति (ऋ०), अमित्रायन्तम् (अ०), अश्व से अश्वायन्तः "घोड़ों की इच्छा करते हुए", ऋत से ऋता-यन्तीः (ऋ०) "ऋत का पालन करती हुई" (उषाएं), यज्ञ से यज्ञा-यते (ऋ०, मै० सं०) "यज्ञ करते हुए के लिये"। यजुर्वेद की संहिताओं में देव के नामधातुरूपों में अन्तिम अ का दीर्घ मिलता है (दे० टि० ३९३); यथा— शत्रन्त च० ए० देवायते (तै० सं०, मै० सं०, का० सं०)। ऋ० में यह दीर्घत्व नहीं मिलता है; यथा— देवयन्। सुम्न के उपर्युक्त अकारान्त रूप के अतिरिक्त अन्तिम अकार के दीर्घत्व का नामधातुरूप भी मिलता है (टि० ३९३); यथा— शत्रन्त प्रथ० व०— सुम्नायन्तः (ऋ०, तै० सं०, मै० सं०, का० सं०)।

(ग) कुछ नामधातु रूपों में अन्तिम अ का ई हो जाता है[३९४]; यथा— अध्वर से अध्वरीयसि (ऋ०) "यज्ञ करते हो", तविष से तविषीयसे

"बलवान् होते हो", पुत्र से पुत्रीयन्तः (ऋ०, सा०) "पुत्र की इच्छा करते हुए" (अ० में इकार मिलता है यथा— पुत्रियन्ति), रथ से रथीयन्ती (ऋ०) "रथ में जाती हुई"। पपा० में ऐसे नामधातुरूपों के ई को ह्रस्व कर दिया जाता है।

(घ) कुछ नामधातुरूपों में नाम के अन्तिम अ का लोप हो जाता है[३९५]; यथा— अध्वर से अध्वर्यन्तः (वा० सं०, तै० सं०, मै० सं०, का० सं०) "यज्ञ करते हुए", कव्यन् (तै० सं० ७,१,२०,१) "कवि के समान आचरण करता हुआ", कृपण से कृपण्यति (ऋ०) "विलाप करता है", तविष से तविष्यते (ऋ०) "बलवान् होता है", तुरण से तुरण्यति (ऋ०) "शीघ्रगामी होता है", इत्यादि।

२. आकारान्त— नामधातु-प्रत्यय य परे रहते आकारान्त नामों का अन्तिम आ प्रायेण अविकृत रहता है; यथा— पृतना "संग्राम" से पृतनायन्तम् (ऋ०) "संग्राम करते हुए को", भन्दना से भन्दनायतः (ऋ०) "स्तुति की इच्छा करते हुओं को", रशना से रशनायमाना (अ०) "मेखला को धारण करती हुई"। परन्तु पृतना से बने अनेक रूपों में आ का लोप हो जाता है (टि० ३९५); यथा— पृतन्यति (ऋ०, सा०, अ०)।

३. इकारान्त, उकारान्त— नामधातु-प्रत्यय य परे रहते इकारान्त तथा उकारान्त नामों का अन्तिम इ उ दीर्घ हो जाता है[३९६]; यथा— अराति से अरातीयति "शत्रु जैसा आचरण करता है", वसु से वसूयन्तः (ऋ०) "धन की इच्छा करते हुए", वल्गु से वल्गूयति "आदर करता है"। परन्तु पपा० में नामों के अन्तिम इ उ का ह्रस्व रूप ही दिखाया जाता है (दे० वैदिकव्याकरण पृ० १९९)।

४. ओकारान्त नाम गो के ओ का अव् हो जाता है (पा० ६,१,७९); यथा— गव्यन् (ऋ०, अ०) "गाय की इच्छा करता हुआ"। अन्य स्वर (ई, ऊ, ए इत्यादि) अन्त में आने वाले नामों से बने नामधातुरूपों के उदाहरण वैदिकभाषा में अतिविरल हैं।

सप्तमोऽध्यायः

५. **हलन्त** – नामधातु-प्रत्यय य परे रहते हलन्त नाम प्रायेण अविकृत रहते हैं; यथा— भिषज् से भिषज्यति "चिकित्सा करता है", उक्षन् से उक्षण्यन्तः (ऋ०) "उक्षन् (वर्षा करने वाले) की इच्छा करते हुए", उदन् "जल" से उदन्यन् (ऋ०) "सींचता हुआ", ब्रह्मन् से ब्रह्मण्यन्तः (ऋ०) "ब्रह्मा के समान आचरण करते हुए (प्रार्थना करते हुए,)", वृषन् से वृषण्यति (ऋ०) "वृषा (वर्षा करने वाले) के समान आचरण करता है", वधर् "वज्र" से वधर्यन्तीम् (ऋ०) "वज्र को फेंकती हुई (विजली)", सुमनस् से सुमनस्यमानः "अच्छे मन वाला होता हुआ", नमस् से नमस्यति "नमस्कार करता है"। कतिपय नामधातुरूपों में नकारान्त तथा सकारान्त नामों के अन्तिम न् तथा स् का लोप हो जाता है और उन के रूप अकारान्त नामों की भांति बनते है; यथा— वृषन् से वृषायते "वृषा (वर्षा करने वाले) के समान आचरण करता है", ओजस् से ओजायमानः (ऋ०) "ओजस् (बल) प्रकट करता हुआ" (दे० टि० ३८२ में वार्तिक)।

३०९. **व्याख्यान-भेद**— अनेक रूपों के व्याख्यान के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। कुछ विद्वानों के मतानुसार कतिपय रूप नामधातुओं से बने हुए हैं, जबकि अन्य विद्वान् उन्हीं रूपों को सामान्य धातुओं से बने हुए मानते है। ऐसे कुछेक प्रमुख रूपों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१. गोपायति, पनायति— पाणिनि के मतानुसार ऐसे रूपों में √गुप् तथा √पन् से परे स्वार्थ में आय प्रत्यय आता है[३९७]। परन्तु ग्रासमैन, मोनियर विलियम्स, मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् गोपा "ग्वाला" नाम से नामधातुरूप मानते हैं और √गुप् की व्युत्पत्ति भी इसी रूप से बतलाते है। ये विद्वान् पनायति इत्यादि रूपों में पन की कल्पना करते हैं, यद्यपि ऐसा नाम नहीं मिलता है।

२. अशाय-, गृभाय-, तुदाय-, दमाय-, नशाय-, मुषाय-, मथाय-, मुषाय-, श्रथाय-, स्कभाय-, स्तभाये- मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य

विद्वान् इन्हें नामधातु-रूपों के अङ्ग मानते हैं। परन्तु पाणिनीय व्याकरण तथा अन्य भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, ये सब अङ्ग सामान्य धातुओं से बने हुए हैं[३९८]। इन को नामधातु मानने में यह अड़चन है कि इन के मूल नाम नहीं मिलते हैं। इन के रूप नामधातुओं के समान अवश्य बनते हैं; यथा—गृभायति (ऋ०), गृभायत (ऋ०, अ०), अगृभायम् (पै० अ०), स्कभायत (ऋ०), अस्कभायत् (ऋ०), इत्यादि। मैं ऐसे रूपों को धातुओं से बने हुए मानना अधिक उपपन्न समझता हूं।

३. पालय (अ०)— मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इसे पाल का नामधातु मानते है, जबकि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह √पा "रक्षणे" का णिजन्त रूप है[३९९]। इस रूप को नामधातु से बना हुआ मानना अधिक युक्तियुक्त है, क्योंकि प्रेरणार्थक णिच् के अर्थ की कोई विशेषता इस में नहीं है।

४. अर्थयासे, मन्त्रयन्ते इत्यादि— अनुच्छेद ३०७ के अन्तर्गत ५. णिच् के अधीन अनेक ऐसे रूप गिनाये गये है जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सामान्य धातुओं से चुरादिगण में बनते है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ऐसे रूप नामधातुओं से बने हुए हैं। ऐसे रूपों को नामधातुओं के णिजन्त रूप मानना सर्वथा उचित होगा।

३१०. **नामधातुओं के उपलब्ध रूप**— वैदिकभाषा में नामधातुओं के जो रूप उपलब्ध होते हैं उन के आधार पर नमस् (परस्मैपद) और मनस् (आत्मनेपद) के नामधातु-रूप निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे।

लट् के रूप

परस्मैपद

	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	नमस्यति	नमस्यतः	नमस्यन्ति।
म० पु०	नमस्यसि	नमस्यथः	नमस्यथ।
उ० पु०	नमस्यामि	×	नमस्यामसि, नमस्यामः।

आत्मनेपद

प्र० पु०	मनस्यते ;	मनस्येते ;	मनस्यन्ते ।
म० पु०	मनस्यसे ;	मनस्येथे ;	× ।
उ० पु०	मनस्ये ;	× ;	मनस्यामहे ।

लङ् के रूप

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— अनमस्यत् ; द्वि०—नमस्यताम् ; ब०—अनमस्यन् ।

म० पु० ए०— अनमस्यः ।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— अमनस्यत ; ब०— अमनस्यन्त ।

म० पु० द्वि०— अमनस्येथाम् ।

विधिमूलक (Injunctive) के रूप

परस्मैपद

प्र० पु० ब०— नमस्यन् । म० पु० ए०— नमस्यः ।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— मनस्यत ; ब०— मनस्यन्त ।

लोट् के रूप

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— नमस्यतु ; द्वि०— नमस्यताम् ; ब०— नमस्यन्तु ।

म० पु० ए०— नमस्य ; द्वि०— नमस्यतम् ; ब०— नमस्यत ।

आत्मनेपद

प्र० पु० ब०— मनस्यन्ताम् ।

म० पु० ए०— मनस्यस्व ; ब०— मनस्यध्वम् ।

लेट् के रूप

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— नमस्यात् ; द्वि०— नमस्यातः ; ब०—नमस्यान् ।
म० पु० ए०— नमस्याः । उ० पु० ए०— नमस्या ।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— मनस्याते । म० पु० ए—मनस्यासे ।

विलि० के रूप

परस्मैपद

प्र० पु० ए०— नमस्येत् । म० पु० ए०— नमस्येः ।
उ० पु० ब०— नमस्येम ।

आत्मनेपद

प्र० पु० ए०— मनस्येत (अ०) ।

शत्रन्त — नमस्यन् । शानजन्त— मनस्यमानः ।

लुङ् के रूप— नामधातुओं के लुङ् के रूप अतिविरल है । निम्नलिखित लुङ्-रूप उपलब्ध होते है— असू से आसूयीत् (श० ब्रा० ३,२,१, १९) "असन्तोष प्रकट किया", ऊन से ऊनयीः म० पु० ए० (मा के साथ विमू० प्रयोग ऋ०, अ०) "परिहीन मत करो", पाप से पापयिष्ट म० पु० ब० (मा के साथ विमू० प्रयोग, तै० सं०) "पाप से मत गिराओ", वृषन् से आ+अवृपायिषत प्र० पु० ब० (वा० सं० २,३१) "वृषा की भांति (भक्षण) किया है", कण्ड्वादिगण (अनु० ३०७.४) के सपर (जिस के लिये आधुनिक विद्वान् *सपर् नाम की कल्पना करते हैं) से असपर्यैत् प्र० पु० ए० (अ० १४,२,२०) "परिचर्या की है" ।

लृट् के अङ्ग से शत्रन्त— नामधातुओं के लृट् के अङ्ग से बने कुछ च० ए० शत्रन्त रूप तै० सं० तथा का० सं० में मिलते हैं; यथा— कण्डू से

है", √दा से दीयते (अ०) "दिया जाता है", √धा से धीयते (मै० सं०) "रक्खा जाता है", √पा से पीयते (अ०) "पीया जाता है", √मा से मीयते "नापा या बनाया जाता है", √हा से हीयते "छोड़ा जाता है"।

२. इ उ का दीर्घत्व— धातु के अन्तिम इ उ का दीर्घ हो जाता है (टि० ३९६); यथा— √जि से जीयते "जीता जाता है", √श्रु से श्रूयते "सुना जाता है"।

३. ऋ का रि— ऋकारान्त धातुओं के ऋ का रि हो जाता है (टि० ८३); यथा— √कृ से क्रियते "किया जाता है"।

४. ऋ का अर्— जिन ऋकारान्त धातुओं के आदि में अर्थात् ऋ से पूर्व संयुक्त व्यञ्जन हों उन धातुओं के ऋ को गुण होता है[४०५]; यथा— √स्मृ से स्मर्यते (तै० आ०)।

५. ॠ का ईर् ऊर्— धातु के अन्तिम ॠ का ईर् हो जाता है (टि० ८२,९३); यथा— √शॄ से शीर्यते "कुचला जाता है"। परन्तु जिस धातु में अन्तिम ॠ से पूर्व पवर्ग का कोई वर्ण आता हो उस में ॠ का ऊर् बनता है (टि० ३५२क, ९३); यथा— √पॄ से पूर्यते (मै० सं०) "भरा जाता है"।

६. धातुओं की उपधा के अनुनासिक व्यञ्जन या अनुस्वार का लोप हो जाता है[४०६]; यथा— √अञ्ज् से अज्यते, √बन्ध् से बध्यते।

७. सम्प्रसारण— कतिपय धातुओं के य् व् र् को सम्प्रसारण हो जाता है (टि० ८६,२१०,२९२); यथा— √ग्रह् से गृह्यते, √ज्या से जीयते तथा जीयते "अत्याचार किया जाता है", √प्रच्छ् से पृच्छ्यते, √यज् से इज्यते, √वच् से उच्यते, √वद् से उद्यते, √वप् से उप्यते, √वह् से उह्यते, √व्रश्च् से वृश्च्यते, √ह्वे से हूयते।

८. णिजन्त धातुओं के इ (णि) प्रत्यय का लोप हो जाता है[४०७]; यथा— √भाजि से भाज्यते "भागी बनाया जाता है"।

६. √खन् और √तन् को प्रायेण आ आदेश हो जाता है[४०८]; यथा—√खन् से खायते (ब्रा०) "खोदा जाता है", √तन् से तायते "फैलाया जाता है"। ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि √जन् से बनने वाले रूप जायते इत्यादि भी वास्तव में रूप-रचना की दृष्टि से कर्मवाच्य के रूप हैं, यद्यपि धातु पर उदात्त रहता है (दे० अनु० २३०)।

कर्मवाच्य के उपलब्ध रूप

३१३. वैदिकभाषा में उपलब्ध रूपों के आधार पर कर्मवाच्य में √युज् के रूप निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे—

लट् के रूप

प्र० पु० ए० — युज्यते ; द्वि०— युज्येते ; ब०— युज्यन्ते ।
म० पु० ए०— युज्यसे । उ० पु० ए०— युज्ये ; ब०— युज्यामहे ।

लोट् के रूप

प्र० पु० ए०—युज्यताम् ; द्वि०—युज्येताम् (ब्रा०); ब०—युज्यन्ताम् ।
म० पु० ए०—युज्यस्व ; द्वि०—युज्येथाम् (ब्रा०); ब०— युज्यध्वम् ।

विधिलिङ् के रूप

यद्यपि ऋ० तथा अ० में कर्मवाच्य के विलि० के रूप उपलब्ध नहीं होते हैं, तथापि कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों में विलि० के कुछ रूप मिलते है। उपलब्ध रूपों के आधार पर √युज् के रूप निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे—

प्र० पु० ए०— युज्येत ; द्वि०— युज्येयाताम् ; ब०— युज्येरन् ।

लेट् के रूप

कर्मवाच्य में लेट् के रूप अत्यल्प है। निम्नलिखित उपलब्ध रूप उल्लेखनीय है—

प्र० पु० ए०— उच्याते (पं० ब्रा०), उह्याते (ऋ०), भ्रियाते (ऋ०), युज्याते (तै० ब्रा०), धीयाते (तै० ब्रा०)।

सप्तमोऽध्यायः

प्र० पु० ब०— इ॒ज्या॒न्तै (तै० सं०), उ॒च्यान्तै (तै० सं०), गृ॒ह्यान्तै (तै० सं०, मै० सं०, का० सं०)।

लङ् के रूप

उपलब्ध रूपों के आधार पर √युज् के रूप निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे—

प्र० पु० ए०— अयु॑ज्यत ; ब०— अयु॑ज्यन्त ।

लुङ् के रूप

कर्मवाच्य में लुङ् के रूप केवल प्र० पु० ए० में उपलब्ध होते हैं। कर्मवाच्य में लुङ् के ऐसे रूप लगभग ४५ धातुओं से बनते है, जिन में से ४० धातुओं से बने रूप ऋ० में मिलते है। लुङ् की इस रूप-रचना की निम्नलिखित विशेषताएं है—

(१) प्र० पु० ए० में त के स्थान पर इ (पा० चिण्) प्रत्यय आता है[४०९]। (२) धातु की उपधा के अ को वृद्धि हो जाती है (टि० १९८); यथा— अता॑पि (√तप्)। (३) धातु के अन्तिम स्वर को वृद्धि हो जाती है (टि० १९७); यथा— अश्रा॑यि (√श्रि), अस्ता॑वि (√स्तु), अका॑रि (√कृ)। (४) धातु की उपधा के इ उ ऋ को गुण होता है; यथा— अचे॑ति (√चित्), अयो॑जि (√युज्), अमो॑चि (√मुच्), अद॑र्शि। (५) आकारान्त धातुओं को य् (पा० युक्) का आगम होता है[४१०]; यथा— अज्ञा॑यि, अदा॑यि, अधा॑यि, अपा॑यि (√पा "पीना")। परन्तु कुछ धातुओं की उपधा के अ को वृद्धि नहीं होती है[४११] (जिन में पा० के अनुसार √जन् तथा √वध् के अतिरिक्त ऐसे धातु है जो मकारान्त है); यथा— अज॑नि, (अवधि), (अशमि)।

लगभग दो दर्जन से अधिक ऐसे रूपों में अडागम का अभाव है। कुछेक ऐसे रूप काल के वाचक है, परन्तु अधिकतर ऐसे रूप विधि-मूलक (Injunctive) हैं ; यथा— चे॒ति॒ , जनि॑ , ज्ञा॒नि॒ , ता॒रि॒ , द॒र्शि॒ , दा॒यि॒ , धा॒यि॒ इत्यादि कालवाचक हैं। घोषि॑ , चे॒ति॒ ,

धायि, भेदि (वा० सं० ११,६४), मोचि, वाचि, शारि, श्रावि, सादि, इत्यादि विधिमूलक है।

विशेष— जारयायि (ऋ० ६,१२,४)—इस रूप के व्याख्यान के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत-भेद हैं। पाश्चात्य विद्वान्[४१२] इसे जार का कर्मवाच्य नामधातुरूप लुङ् में मानते हैं और मैक्डानल का मत है कि यह विधिमूलक प्रयोग है जिस का अर्थ है "उस का आलिङ्गन किया जाय" ("Let him be embraced"), यास्क ने अपने निरुक्त (६,१५) में जारयायि का व्याख्यान "अजायि" किया है और दुर्गाचार्य ने "अजायि" का अर्थ "जायते" किया है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य में जारयायि का व्याख्यान "स्तूयते" किया है और कहा है— "जरतेः स्तुतिकर्मण एतद् रूपम्"। इस रूप का व्याख्यान सन्दिग्ध है।

३१४. **कर्मवाच्य के विशेष रूप**— ऋ० में कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जो कर्मवाच्य के है और जिन की रचना की अपनी विशेषता है; यथा—

प्र० पु० ए०— √गृ "स्तुति करना" से गृणे (ऋ० ५,६,२;८,२७,८ इत्यादि) "स्तुति की जाती है"। ऋ० ८,२७,८ के भाष्य में सायण कहता है "गृ शब्दे इत्यस्य कर्मणि लिटि छान्दसो विकरणः"। वास्तव में ऐसे रूपों में लट् मानना उचित है। इस कर्मवाच्य की विशेषता यह है कि धातु के साथ गण का विकरण प्रयुक्त होता है (य प्रत्यय नहीं होता है) और प्र० पु० ए० के ते प्रत्यय के स्थान पर ए आता है (दे० टि० २१)। इसी प्रकार √श्रु "सुनना" से शृण्वे (ऋ० १,७४,७ इत्यादि) "सुना जाता है"।

प्र० पु० ब०— √श्रु "सुनना" से शृण्विरे (ऋ० १,१५,८ इत्यादि) "सुने जाते है"। सायण इसे लिट् का रूप मानता है। परन्तु इस की रूप-रचना भी उपर्युक्त रूप के समान लट् में है और इ+रे प्रत्यय का प्रयोग कर्मवाच्य में हुआ है।

प्र० पु० ए०— √स्तु से स्तवे (ऋ० ६,१२,५) "स्तुति की जाती

है"। इस में धातु से परे कर्मवाच्य में ते के स्थान पर ए प्रत्यय आया है और धातु के स्वर को गुण हो गया है।

गृणीषे, चर्कृषे, शृण्विषे, स्तुषे— ये चारों रूप भी कर्मवाच्य के हैं और वर्तमान काल के वाचक हैं। यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इन के लकार तथा पुरुष के विषय में विभिन्न मत प्रकट किये हैं, तथापि इन के कर्मवाच्यत्व के विषय में सब सहमत हैं। यही मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि ये रूप म० पु० ए० के है। मन्त्रों के व्याख्यान की सुविधा से कतिपय विद्वानों ने कहीं-कहीं प्र० पु० ए० मान कर समाधान किया है। चर्कृषे यङ्लुगन्त के अङ्ग से बना है। शेष रूप स्पष्ट हैं।

टिप्पणियां

१. निरुक्त १,१— भावप्रधानमाख्यातम्।
बृ० दे० २,१२१— भावप्रधानमाख्यातम्।
ऋ० प्रा० १२,१९— तदाख्यातं येन भावं सधा॒तु।
ऋ० प्रा० १२,२५; वा० प्रा० ८, ४६— क्रियावाचकमाख्यातम्......।
अ० प्रा० के चतुर्थ अध्याय के भाष्य की भूमिका (J. A. O. S., vol. VII, p. 591) में— आख्यातं यत्क्रियावाचि...... ।
कौटलीय अर्थशास्त्र २,१०,१८— अविशिष्टलिङ्गमाख्यातं क्रियावाचि।
दे० चतुर्थ अध्याय की टि० २।

२. तु०— निरुक्त २,२— अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः। क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णम्। घृतमिति।

३. पा० ३,४, ३५–५५।

४. Skt. Lg., p. 330.

५. पा० १,३,६१— म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च।

६. पा० १,३, ६१–६३— द्युद्भ्यो लुङि। वृद्भ्यः स्यसनोः। लुटि च क्लृपः॥

७. पा० १,३,१३— भावकर्मणोः।

८. धातु के द्वित्वयुक्त अङ्ग को अभ्यस्त कहते हैं; यथा—√भृ "धारण करना" से बना अङ्ग बिभृ अभ्यस्त कहलाता है। तु० पा० ६, १,५— उभे अभ्यस्तम्। इस के अतिरिक्त √जक्ष् प्रभृति सात धातु अभ्यस्तसंज्ञक कहलाते हैं; तु० पा० ६,१,६— जक्षित्यादयः षट्। इस पर कारिका—

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥

९. पा० ७,१,३–४— झोऽन्तः। अदभ्यस्तात्॥

१०. पा० ७,१,४६—इदन्तो मसि।

११. पा० १,२,४—सार्वधातुकमपित्।

११क. पा० ७, ३,८४.८६— सार्वधातुकार्धधातुकयोः। पुगन्तलघूपधस्य च॥ इन सूत्रों का कार्यक्षेत्र विस्तृत है और पित् से भिन्न प्रत्ययों पर भी लागू होता है।

१२. पा० १,१,५— क्ङिति च।

१३. पा० ३,४,१०८— झेर्जुस्।

१४. पा० ३,४,१०९–११०—सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च। आतः॥

१५. पा० ३,४,१११–११२—लङः शाकटायनस्यैव। द्विषश्च॥ दे० टि० १४ (अभ्यस्त तथा √विद्)।

१६. पा० ७,१,४५— तप्तनप्तनथनाश्च॥ काशिका तथा सि० कौ० के व्याख्यान के अनुसार, (लोट्) म० पु० व० में प्रयुक्त होने वाले त प्रत्यय के स्थान पर तप्, तनप्, तन, थन आदेश होते हैं।

सप्तमोऽध्यायः

परन्तु आधुनिक अनुसन्धान से स्पष्ट है कि लोट् के अतिरिक्त लङ्, विधिलिङ् तथा लुङ् में भी त के स्थान पर तन का प्रयोग मिलता है; यथा— अजहातन (लङ्), स्यातन (विलि०), अभूतन (लु०)। जिन रूपों में थन का प्रयोग मिलता है, उन के कतिपय उदाहरण ये हैं— स्थन (√अस् "होना" से), याथन (√या "जाना" से), पाथन (√पा 'रक्षा करना" से)। सायण तथा पाश्चात्य विद्वान् इन सब रूपों में थ के स्थान पर थन का प्रयोग मानते हैं।

१७. पा० ७,१,४०— अमो मश्।

१८. पा० ७,१,५— आत्मनेपदेष्वनतः। दे० टि० ९।

१९. पा० ७,१,८— बहुलं छन्दसि।

२०. पा० ७,१,६— शीङो रुट्।

२१. पा० ७,१,४१— लोपस्त आत्मनेपदेषु।

२२. पा० ३,४,१०५— झस्य रन्।

२३. रम् प्रत्यय वाले रूपों के सम्बन्ध में सायण प्रभृति भारतीय विद्वानों ने कोई निश्चित समाधान नहीं सुझाया है। यथा ऋ० १,५०,३ के भाष्य में सायण अदृश्रम् को लु० प्र० पु० ब० का रूप मानता है और कहता है—" 'तिङां तिङो भवन्ति' इति प्रथमपुरुषबहुवचनस्योत्तमपुरुषैकवचनादेशः। प्रथमपुरुषान्त एव शाखान्तरे श्रूयते—'अदृश्रन्नस्य केतवः' (अ० १३,२,१८)।" परन्तु ऋ० १०,३०,१३ के भाष्य में वह इसे उ० पु० ए० का रूप मानता है। ऋ० १०,३५,१ के भाष्य में सायण अबुध्रम् को प्र० पु० ब० का रूप मानता है। ऋ० १,९,४ के भाष्य में सायण असृग्रम् को उ० पु० ए० लुङ् का रूप मानता है, जबकि ऋ० के अन्य दस मन्त्रों के भाष्य में वह इसे प्र० पु० ब० का रूप मान कर अर्थ करता है। ऋ० ९,२३,१ के भाष्य में असृग्रम् का अर्थ "असृग्रन् सृज्यन्ते" किया है और ९,६६,११ के भाष्य में सायण कहता है— "असृग्रं·····सृज्यन्ते। सृजेः कर्मणि 'तिङां तिङो भवन्ति' इति झो रमादेशः।" दे० पा० ७,१,८ पर काशि० तथा सि० कौ० में "अदृश्रम्" का व्याख्यान।

२४. पा० ७,२,८१— आतो ङितः ।

२४क. पा० ३,४,७९-८०—टित आत्मनेपदानां टेरे । थासस्से ॥

२५. ऋ० १,८७,६ के भाष्य में सायण विद्रे को लिट् का रूप मानता है और समाधानार्थ पा० ६,४,७६ (इरयो रे) उद्धृत करता है।

२६. पा० लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ।

२७. पा० ६,४,७२— आडजादीनाम् ।

२८. पा० ६,१,९०— आटश्च ।

२९. पा० ६,४,७३— छन्दस्यपि दृश्यते ।

३०. आनट् के धातु के विषय में मत-भेद है। ऋ० भाष्य में अधिकतर स्थलों पर सायण इसे "अशू व्याप्तौ" का रूप मानता है—कहीं लङ् का और कहीं त-प्रत्यय-लोप के साथ लिट् का। एक स्थल (१,१६३,७) पर सायण इसे गतिकर्मा नश् धातु का लङ् रूप और तीन स्थलों पर व्याप्तिकर्मा नश् धातु का लुङ् रूप मानता है। ग्रासमैन प्रभृति (WZR.) कतिपय पाश्चात्य विद्वान् भी इसे अश् धातु का रूप मानते है, परन्तु मैं उन विद्वानों से सहमत हूं जो इसे नश् का लु० रूप स्वीकार करते है। दे० टि० २४५।

३१. तु० ऋ० प्रा० २,७५-७७।

३२. पा० ६,४,७५— वहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ।

३३. पा० ६,४,७४— न माङ्योगे । ३,३,१७५-१७६—माङि लुङ्। स्मोत्तरे लङ् च ।

३४. पा० ३,४,९४ —लेटोऽडाटौ । इस सूत्र पर सि० कौ०—"लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तस्तौ च पितौ ।"

३५. पा० ३,४,९२— आडुत्तमस्य पिच्च ।

३६. Skt. Gr., pp. 210-11; Ved. Gr., pp. 316-17; Ved. Gr. Stu., p. 348; Skt. Lg., p. 299; Alt. V., pp. 191-93, 197; Avery, p. 228.

३७. पा० ३,४,९७— इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ।

सप्तमोऽध्यायः

३८. पा० ३,४,८९— मेर्निः ।

३९. पा० ३,४,९८— स उत्तमस्य ।

४०. पा० ३,४,९६— वैतोऽन्यत्र ।

४१. पा० ३,४,९५— आत ऐ ।

४२. पा० ३,४,९३— एत ऐ ।

४३. पा० ३,४,८६— एरुः ।

४४. पा० ६,४,१०५— अतो हेः ।

४५. पा० ६,४,१०१-१०३— हुझल्भ्यो हेर्धिः । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । अङितश्च ॥

४६. पा० ६,४,१०१— हुझल्भ्यो हेर्धिः ।

४७. पा० ३,४,८७-८८— सेर्ह्यपिच्च । वा छन्दसि ॥

४८. पा० ६,४,१०६— उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् । इस पर वार्तिक— उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम् ।

४९. पा० ३,१,८३-८४— हलः श्नः शानज्झौ । छन्दसि शायजपि ॥

५०. पाश्चात्य विद्वान् गृभाय इत्यादि आय (पा० शायच्) प्रत्यय वाले रूपों (टि० १६८) को गृभ इत्यादि नामों से बने हुए नामधातु (Denominative verb) मानते है; दे० Skt. Gr., pp. 263, 390; Ved. Gr., p. 402; WZR, *s.v.*: Alt. V., p. 217.

५१. पा० ७,१,३५— तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम् ।

५२. ऋ० भाष्य में सायण वहतात् को विकल्प से म० पु० द्वि० तथा प्र० पु० ए० का रूप मानता है । ह्विटने (Skt. Gr., p 214) इसे म० पु० द्वि० मानता है । परन्तु अनेक अन्य विद्वान् इसे म० पु० ए० का रूप मानते है; दे० WZR., *s.v.*; Ved. Gr., p. 324; Alt. V., p. 38; Avery, p. 243.

५३. पा० ७,१,४४— तस्य तात् । काशि०— "तशब्दस्य लोण्मध्यमपुरुष-बहुवचनस्य स्थाने तादित्ययमादेशो भवति" ।

५४. इन रूपों के अन्यत्र प्रयोग के लिये दे०— का० सं० १६,२१; ऐ० ब्रा०

२,६–७; तै० ब्रा० ३,६,६,३; आश्व० श्रौ० सू० ३,३; शां० श्रौ० सू० ५,१७। दे० पा० ७,१,४४ पर काशि०।

५५. Skt. Gr., p. 214; Ved. Gr., p. 318; Ved. Gr. Stu., pp. 348–49.

५६. पा० ३,४,९०— आमेतः।

५७. पा० ३,४,९१— सवाभ्यां वामौ।

५८. पाणिनि ने यज्ध्व और परवर्ती शब्द एनम् का संहिता-रूप "यजध्वैनमिति च" सूत्र (७,१,४३) में प्रस्तुत किया है। इस सूत्र पर काशि० इस प्रकार है— "यजध्वमित्येतस्य एनमित्येतस्मिन् परतो मकारलोपो निपात्यते वकारस्य च यकारश्छन्दसि विषये"। इस सूत्र पर सि० कौ० ने निम्नलिखित व्याख्यान किया है—"एनमित्यस्मिन्परे ध्वमोऽन्तलोपो निपात्यते।......। वकारस्य यकारो निपात्यत इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी"। ऋ० भाष्य में सायण भी उक्त पाणिनीय सूत्र का उद्धरण देकर निपातन से वर्णलोप मानता है।

५९. पा० ७,१,४२— ध्वमो ध्वात्।

६०. पा० ३,४,१०३— यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च। पाणिनि विलि० तथा आलि० दोनों के लिये यास् आगम का विधान करता है और अन्य सूत्र "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य" (७,२,७९) के द्वारा विलि० में यास् के स् का लोप करता है।

६१. पा० ७,२,८०— अतो येयः।

६२. पा० ६,१,६६— लोपो व्योर्वलि।

६३. पा० ६,१,९६— उस्यपदान्तात्। यद्यपि पाणिनि या के आ तथा उस् के उ का पररूप एकादेश मानता है, तथापि हमने पाठकों की सुविधा के लिये आ का लोप मान लिया है।

६४. पा० ३,४,१०२— लिङः सीयुट्। पाणिनि विलि० तथा आलि० दोनों के लिये सीय् आगम का विधान करता है और विलि० में सीय् के स् का लोप करता है (दे० टि० ६०)।

सप्तमोऽध्यायः

६५. पा० ३,४,१०६— इटोऽत् ।

६६. पा० ३,४,११६— लिङाशिषि ।

६७. पा० ३,४,१०४— किदाशिषि ।

६८. पा० ३,४,१०७— सुट्तिथोः ।

६९. त् तथा स् प्रत्यय से पूर्व यास् के स् का लोप हो जाता है। दे० पा० ८,२,२९— स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ।

७०. पा० ३,१,८२— स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ।

७०क. पा० ३,१,७०-७२ — वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुत्रसित्रुटिलषः । यसोऽनुपसर्गात् । संयसश्च ॥ ३,१,७५-७६— अक्षोऽन्यतरस्याम् । तनूकरणे तक्षः ॥ अदा० तथा जु० के वैदिक धातुओं के गण-विकल्प के लिये पाणिनि ने "बहुलं छन्दसि" (२,४,७३.७६) वचन कहा है ।

७१. पा० ३,१,८५— व्यत्ययो बहुलम् । पाणिनि के व्याख्याकारों तथा वैदिक भाष्यकारों ने वैदिक भाषा की अनेक विशेषताओं का समाधान केवल "व्यत्ययो बहुलम्" के आधार पर करने का प्रयास किया है । स्वयं महाभाष्यकार पतञ्जलि ने सुप्, तिङ्, वर्ण, लिङ्ग, पुरुष, काल, पद इत्यादि की वैदिक विशेषताओं का समाधान इसी व्यत्यय के आधार पर सुझाया है और इस के लिये निम्नलिखित कारिका प्रस्तुत की है—

> सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
> व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

७२. Alt. V., pp. 171–175.

७३. पा० ३,१,६८— कर्तरि शप् ।

७४. पा० ६,४,८९— ऊदुपधाया गोहः ।

७५. पा० ७,३,७६— क्रमः परस्मैपदेषु ।

७६. मैक्डानल (Ved. Gr., p. 319; Ved. Gr. Stu., p. 140) तथा ह्विटने (Skt. Gr., p. 268) के अनुसार ये रूप भ्वा० के अपवाद हैं । परन्तु मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.*) क्रुप् को तुदा० का

धातु मानता है और ऋ० भाष्य में सायण भी कृर्वते में तुदा० का विकरण श मानता है। और सायण के अनुसार ओहते में उह् (पा० धातुपाठ उहिर्) धातु है, ऊह् नहीं है।

७७. पा० ७,३,७७— इषुगमियमां छः। पाणिनि के अनुसार, दाण् "देना" से भी लड्वर्ग का अङ्ग यच्छ बनता है (टि० ८८)। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार, केवल यम् से यच्छ अङ्ग बनता है। और ये विद्वान् यु "पृथक् करना" से युच्छ अङ्ग की रचना को स्वीकार करते हैं, परन्तु पाणिनीय धातुपाठ में यु तथा युच्छ दो पृथक् धातु हैं।

७८. पा० ७,३,७८— प्राघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः। ह्विटने, मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मूलतः पा इत्यादि पांचों धातु जुहोत्यादिगण के रहे होंगे और सिसद के संक्षिप्त रूप सिस्द से सीद बना होगा। तु० Lat. sido. सश्च अङ्ग से बने रूपों का समाधान करने के लिये सायण ऋ० भाष्य में प्रायः सश्च् धातु मानता है और ऋ० १,४२,७ के भाष्य में कहता है—" 'ग्लुञ्च षस्ज गतौ' इत्यत्र सश्चिमप्येके पठन्तीति धातुवृत्तावुक्तम्।" परन्तु ऋ० ३, १६,२ के भाष्य में सायण षस्ज धातु से सश्चत रूप का व्याख्यान करते हुए कहता है— " 'षस्ज संगे' इत्यस्मात् लोटि रूपम्। जकारस्य व्यत्ययेन चकारः"। तु० ऋ० ३,९,४ का भाष्य। पाश्चात्य विद्वान् 'सश्च' को सच् "संयुक्त होना" धातु का द्वित्व मानते है। पाश्चात्य विद्वान् दृश् और पश् या स्पश् (पा० आदेश पश्य) को, सृ और धाव् (पा० आदेश धौ) को, तथा शद् और शी (पा० आदेश शीय) को एक दूसरे से भिन्न धातु मानते हैं। इन में अर्थसाम्य के कारण पाणिनि ने इन्हें आदेश माना है। ये धातु परस्पर पूरक हैं। दे० अनु० २३९,८।

७९. पा० ६,४,२५— दंशसञ्जस्वञ्जां शपि।

सप्तमोऽध्यायः

८०. पा० धातुपाठ के अनुसार, भ्वा० के निम्नलिखित इदित् धातुओं की उपधा में ऐसा नकार आता है—इन्व्, पिन्व्, मिन्व्, निन्व्, हिन्व्, दिन्व्, धिन्व्, जिन्व्, रिण्व्, रण्व्, धन्व्, कृण्व्। तु० पा० ३,१,८०।

८१. पा० ३,१,७७—तुदादिभ्यः शः।

८२. पा० ७,१,१००— ॠत इद्धातोः।

८३. पा० ७,४,२८—रिङ् शयग्लिङ्क्षु। इस सूत्र से ऋ का रि और टि० ८४ में दिये गये सूत्र से रि के इ का इय् होता है।

८४. पा० ६,४,७७— अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ॥

८५. वस् "चमकना" वैदिक धातु है और पा० धातुपाठ में इस की गणना नहीं मिलती है। पाश्चात्य विद्वान् उच्छ- को वस् "चमकना" के लड्वर्ग का अङ्ग मानते हैं। परन्तु सायण पा० धातुपाठ में परिगणित तुदा० के धातु 'उच्छी विवासे' से उच्छ- अङ्ग का व्याख्यान करता है।

८६. पा० ६,१,१६— ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च।

८७. पा० ७,१,५६— शे मुचादीनाम्। इस पर वार्तिक (काशि०)— शे तृम्फादीनामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।

८८. Skt. Gr., pp. 270-71,274; Ved. Gr., pp. 327. पाणिनि ७,३,७१—"ओतः श्यनि" सूत्र द्वारा श्यन् विकरण से पूर्व इन धातुओं के ओ का लोप करता है। टी० बरो (Skt. Lg., p. 330) के मतानुसार, इन धातुओं के अङ्ग दिवा० के मूल उदात्त (अनु० २३०) को धारण करते हैं। डेल्ब्रिक ने भी इन धातुओं की समस्या पर विचार किया है, दे० Alt. V., pp. 164–66.

८९. पा० ३,१,६९—दिवादिभ्यः श्यन्।

९०. Skt. Gr., p. 273; Ved. Gr., p. 331.

९१. Alt. V., pp. 164-66; Skt. Gr., pp. 273–74; Ved.

Gr., p. 331; Skt Lg.. p. 330. ऐसे धातुओं को दिवा० में रखने पर भी मैक्डानल (Ved Gr., p. 331, f.n. 3–4) यह स्वीकार करता है कि स्वरावस्थाविकृति (vowel gradation) के विचार से इन्हें एकारान्त तथा ऐकारान्त धातु मानना अधिक उचित है।

पा० ६,१,४५—"आदेच उपदेशेऽशिति" के अनुसार, शित् (अर्थात् लड्वर्ग का अङ्ग बनाने वाले) प्रत्ययों से भिन्न सभी प्रत्ययों से पूर्व एजन्त धातुओं के अन्तिम अच् को आ आदेश हो जाता है।

९२. पा० ७,३,७४— शमामष्टानां दीर्घः श्यनि।

९३. पा० ८,२,७७—हलि च। पाश्चात्य विद्वान् ऐसे धातुओं की उपधा के इकार को दीर्घ मानते हैं; यथा—दीव्, सीव्, इत्यादि; दे० Skt. Gr., p. 274; Ved. Gr., pp. 441,449; Ved. Gr. Stu., pp. 390,427.

९४. पा० ७,३,७९—ज्ञाजनोर्जा।

९५. पा० २,४,७३— बहुलं छन्दसि। इस सूत्र पर काशि० तथा सि० कौ० में "वृ॒त्रं ह॑नति" (ऋ० ८,८९,३) उद्धृत करके यह दर्शाया गया है कि ह॒न॑ति में शप् का लुक् नहीं होता है अर्थात् यह भ्वा० के लट् प्र० पु० ए० का रूप माना गया है। परन्तु सायण ह॒न॑ति में लेट् का अट् आगम मानता है और लगभग सभी पाश्चात्य विद्वान् सायण का मत स्वीकार करते हैं। यही मत समीचीन है। अदा० के अङ्ग से बने जो विरल वैदिक आख्यात मिलते हैं; यथा—भूर्तु– उन के समाधान के लिये यह सूत्र प्रायेण प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में पाश्चात्य मत भिन्न है। दे० अनु० २६६ इत्यादि।

९६. पा० २,४,७२—अदिप्रभृतिभ्यः शपः।

९७. पा० ७,३,८९—उतो वृद्धिर्लुकि हलि

सप्तमोऽध्यायः

९८. पा० ७,२,११४— मृजेर्वृद्धिः। पा० १,१,३ पर महाभाष्य के वचन "वाऽचि क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति" (सि० कौ०— क्ङित्यजादौ वेष्यते), के अनुसार, कित् तथा ङित् अजादि प्रत्यय से पूर्व मृज् को वैकल्पिक वृद्धि होती है। परन्तु वैदिक वाङ्मय में ऐसे उदाहरण मृग्य हैं।

९९. पा० ३,४,११३— "तिङ्शित्सार्वधातुकम्" के अनुसार, धातुओं के साथ जुड़ने वाले १८ तिङ् प्रत्यय और शित् प्रत्यय (यथा शप् विकरण इत्यादि) सार्वधातुक कहलाते हैं। परन्तु पा० ३,४,११४-११६— "आर्धधातुकं शेषः। लिट् च। लिङाशिषि।" के अनुसार धातुओं के साथ जुड़ने वाले शेष सब प्रत्यय और अपवादस्वरूप लिट् तथा आशीर्लिङ् के तिङ् प्रत्यय भी आर्धधातुक कहलाते हैं। अगले सूत्र (३,४,११७— छन्दस्युभयथा) में पाणिनि कहता है कि वैदिक भाषा के रूपों में सार्वधातुक और आर्धधातुक के विषय में कहीं-कहीं अव्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है।

१००. पा० ७,४,२१— शीङः सार्वधातुके गुणः।

१०१. पा० ७,२,७६— रुदादिभ्यः सार्वधातुके। दे० पा० ७,२,३४।

१०२. पा० ७,३,९८-९९— रुदश्च पञ्चभ्यः। अड्गार्ग्यगालवयोः।

१०३. पा० ७,२,७७-७८— ईशः से। ईडजनोर्ध्वे च। कतिपय आधुनिक विद्वानों का मत है कि स्वर-वैशिष्ट्य के आधार पर ईशिरे (ऋ० १०,६३,८) को लिट् की अपेक्षा लट् प्र० पु० ब० का रूप मानना अधिक उचित प्रतीत होता है; दे० Skt. Gr., p. 238; Ved. Gr., p. 335; वै० प० को०। लिट् के रूपों में रे या इरे (पा० इरेच्) प्रत्यय पर उदात्त रहता है। तु० पा० ६,१,१६३।

१०४. पा० ७,३,९३— ब्रुव ईट्।

१०५. पा० ७,३,९५— तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके।

१०६. पा० ६,४,१११— श्नसोरल्लोपः।

१०७. पा० ६,४,११९— घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च। दे० घु टि० २४१।

१०८. पा० ७,३,९६— अस्तिसिचोऽपृक्ते ।

१०९. पा० ७,३,९७— वहुलं छन्दसि ।

११०. पा० ६,४,३७— अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ।

१११. पा० ६,४,९८-९९— गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि । तनिपत्योश्छन्दसि ॥

११२. पा० ७,३,५४— हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ।

११३. पा० ६,४,३६— हन्तेर्जः ।

११४. मैक्डानल Ved. Gr. Stu., p. 148 में इसे परस्मैपद का रूप मानता है, परन्तु Ved. Gr., p. 340 में इसे आत्मनेपद के रूपों में गिनाता है। मोनियर विलियम्स (MWD., √दुह्) ने भी इसे आत्मनेपद का रूप माना है। परन्तु ह्विटने ने (Skt. Gr., p. 239) इसे परस्मैपद का रूप माना है और यही मत समीचीन प्रतीत होता है। पा० (टि० १९) के अनुसार, प० के अन् प्रत्यय से पूर्व रुट् (र्) का आगम हुआ है। ऋ० १,१३३,१ पर सायण अशेरन् को परस्मैपद का रूप मानता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे आ० का रूप ही मानते हैं; दे० Avery, p. 249; Ved. Gr., p. 340.

११५. यद्यपि सायण ने ऋ० १०,१०१.९ पर दुहीयत् का व्याख्यान "दुह्यात्" और ऋ० ४,४१,५ पर "दुह्येत्" (?) अवश्य दिया है, तथापि इस के व्याकरणविषयक वैशिष्ट्य पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। दुहीयन् के व्याकरणविषयक वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में भी सायण को सन्देह है। अत एव ऋ० १,१२०,९ के भाष्य में इस रूप के निम्नलिखित तीन समाधान सुझाये गये हैं— "दुहीयन्। 'दुह प्रपूरणे'। दुहिर्दोहः। 'इगुपधात्कित्' (उणादिसूत्र ४,५५९) इति भावे इप्रत्ययः। दुहिमात्मन इच्छति दुहीयति। 'सुप आत्मनः क्यच्'। दुहीयतेर्लेटि अडागमः। 'इतश्च लोपः०' इति इकारलोपः। यद्वा दुहेर्लिङि 'झस्य रन्' (पा० ३,४,१०५) इति व्यत्ययेन रनादेशाभावे

रूपमेतत् । छान्दसोऽन्त्यलोपः । यद्वा । रनादेशे कृते छान्दसो रेफस्य यकारः । अत एव व्युत्पत्त्यनवधारणात् नावगृह्णन्ति ।"

आधुनिक विद्वान् इन्हें प्रायेण विलि० के रूप मानते है।

११६. अतें प्रत्यय के अ पर उदात्त रखने के साधारण नियम के अपवाद-स्वरूप दुहुते (ऋ०) के अन्तिम अक्षर पर उदात्त है।

११७. दे० Skt. Gr., pp 241-42,370-71; Ved. Gr., pp. 390-92; Ved. Gr. Stu., pp. 202-204. वैदिक भाषा में √चकास् "चमकना" का प्रयोग मृग्य है।

११८. पा० ६,४,३४— शास इदङ्हलोः।

११९. पा० ६,४,३५— शा हौ। इस सूत्र पर काशि० के अनुसार, आद्युदात्त शाधि रूप भी वेद में मिलता है, यद्यपि हि प्रत्यय के अपित्त्व के कारण शाधि साधारणतया अन्तोदात्त है।

१२०. दे० Skt. Gr., p. 237; Ved. Gr., 336; Alt. V., pp. 34-35; Gr. Lg. Ved., p. 261.

१२१. ऋ० १,४२,९ पर सायणभाष्य (यंसि का समाधान)— "यम उपरमे। लोडर्थे लटि......।" ऋ० १,१३,१ पर सायणभाष्य (यक्षि का समाधान)— "यजेर्लोटः सिपि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्।" इत्यादि।

१२२. पा० ३,४,८३— विदो लटो वा।

१२३. पा० ३,४,८४— ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः। ८,२,३५— आहस्थः।

१२४. Skt. Gr., p 282— "The root *vid know* has, from the earliest period to the latest, a perfect without reduplication, but otherwise regularly made and inflected : thus *véda, véttha*, etc., pple *vidváṅs*. It has the meaning of a present"; *ibid.*, p. 290; Ved. Gr., p. 353— "The root *vid*- 'know' loses its reduplication along

with the perfect sense"; *ibid.* pp. 357–58; Ved. Gr. Stu., p. 154; Alt. V., p. 121; Gr. Lg. Ved., p. 276; Skt. Lg., p. 342.

१२५ Skt. Gr., p. 290; Ved. Gr., p. 357; Ved. Gr. Stu., p. 154; WZR. (√*ah*).

१२६. पा० २,४,७५— जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ।

१२७. पा० ६,१,१०—श्लौ ।

१२८. पा० ६,१,१— एकाचो द्वे प्रथमस्य ।

१२९. पा० ६,१,४-५— पूर्वोऽभ्यासः । उभे अभ्यस्तम् ।

१३०. पा० ७,४,५९— ह्रस्वः ।

१३१. पा० ७,४,६०— हलादिः शेषः ।

१३२. पा० ७,४,६१— शर्पूर्वाः खयः ।

१३३. पा० ७,४,६२— कुहोश्चुः ।

१३४. पा० ८,४,५४— अभ्यासे चर्च ।

१३५. पा० ७,४,७६-७७— भृञामित् । अर्तिपिपर्त्योश्च ॥ दे० टि० १३७ ।

१३६. पा० ६,४,७८— अभ्यासस्यासवर्णे ।

१३७. टि० १३५ में उद्धृत पाणिनीय सूत्रों में परिगणित पांच (भृ, मा, हा, ऋ, पृ) धातुओं के अतिरिक्त जु० के अन्य धातुओं के अभ्यास के इकार का समाधान करने के लिये भारतीय वैयाकरण "बहुलं छन्दसि" (पा० ७,४,७८) सूत्र का सहारा लेते हैं ।

१३८. पा० ७,३,८३— जुसि च ।

१३९. Avery, p. 237; WZR., *s.v.* (śvac); Skt. Gr., p. 312; Ved. Gr., p. 342, f.n.; Gr. Lg. Ved., p. 279. सायण इसे √ष्वञ्ज् से बने क्विबन्त प्रातिपदिक का च० ए० रूप मानता है ।

१४०. पा० ६,४,११३— ई हल्यघोः । दे० द्यु टि० २४१ ।

१४१. पा० ६,४,११६— जहातेश्च ।

सप्तमोऽध्यायः

१४२. पा० ६,४,११७— आ च हौ। यद्यपि वैयाकरण जहाहि, जहीहि तथा जहिहि उदाहरण देते हैं, परन्तु वैदिक भाषा में इन का प्रयोग नहीं मिला है।

१४३. पा० ६,४,११८— लोपो यि।

१४४. पा० ६,४,११२— श्नाभ्यस्तयोरातः।

१४५. पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार, दद् तथा दध् भ्वा० के पृथक् धातु हैं जिन से ये रूप बनते हैं।

१४६. पा० ६,१,२८-२९— "प्यायः पी। लिड्यङोश्च" के अनुसार, क्त, लिट् तथा यङ् से पूर्व प्याय् को पी आदेश होता है। पाणिनीय धातुपाठ में प्यै धातु भ्वा० का माना गया है। ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति विद्वानों ने पि तथा पी "फूलना" को समानार्थक मान कर, प्या "भरना" को इन से पृथक् माना है। इस में सन्देह नहीं है कि पि, पी, प्या तथा प्याय् समानार्थक हैं और एक ही धातु के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

१४७. पा० ६,१,१६ (टि० ८६) के अनुसार कित् तथा ङित् प्रत्यय से पूर्व और पा० ६,१,१७ के अनुसार, लिट् में व्यच् के य् को सम्प्रसारण होता है। ऋ० ३,५४,८;८,१२,२४;१०,११२,४ पर सायण-भाष्य के अनुसार, विविक्तः तथा अविविक्ताम् 'विचिर् पृथग्भावे' से बने हैं। परन्तु इन्हें भी व्यच् "व्याप्त करना" से ही मानना चाहिए, जैसा कि आधुनिक विद्वान् मानते हैं, दे० वै० प० को०। अविव्यक्, विव्यचत् इत्यादि में सायण भी व्यच् धातु मानता है।

१४८. इन रूपों के व्याख्यान के सम्बन्ध में मत-भेद है। अवैरी (Avery, pp. 238-40) के मतानुसार, ये तीनों रूप लेट् के हैं। ह्विटने तथा मैक्डानल के अनुसार, जुहूर्थाः लङ् से बना विधिमूलक (Injunctive) है। ऋ० ७,१,१९ पर सायण इसे "हुर्छा कौटिल्ये" से बना रूप मानता है। दे० Alt. V., p. 136.

१४९. पा० ६,४,१००— घसिभसोर्हलि च ।

१५०. पा० ६,४,१०० (टि० १४९) पर महाभाष्य में— "अन्यत्रापि लोपो दृश्यते— अग्निर्वनानि बप्सति" वाक्य मिलता है और कैयट तथा नागेश इस उद्धरण के <u>बप्सति</u> को एकवचन का रूप मानते हैं। यह उद्धरण ऋ० ८,४३,३ के अन्तिम पाद "दुद्भिर्वनानि बप्सति" का विकृत पाठ प्रतीत होता है। ग्रासमैन (WZR., *s.v. bhas*) भी ऋ० के इस <u>बप्सति</u> को लट् प्र० पु० ए० का रूप मानता है। परन्तु अन्य आधुनिक विद्वान् और सायण इसे ब० का रूप मानते हैं; दे० Avery, p. 236; Ved. Gr., p. 342; वै० प० को०।

१५१. पा० ३,१,७३— स्वादिभ्यः श्नुः।

१५२. पा० ६,४,१०७— लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः।

१५३. अनेक विद्वान् ऋ० के शृण्वे, सुन्वे, हिन्वे इत्यादि रूपों की गणना साधारण (कर्तृवाचक) लट् के रूपों में करते हैं; दे० Avery, p. 234; Alt. V., p. 70; Ved. Gr., p. 347. इसी आधार पर मैक्डानल (Ved. Gr. Stu , p. 135) ने √कृ से कृण्वे रूप दिखलाया है। परन्तु सायण तथा ग्रासमैन (WZR., *s.v.*) इन्हें प्रायेण कर्मवाच्य रूप मानते हैं।

१५४. पा० ६,४,८७— हुश्नुवोः सार्वधातुके।

१५५. पा० ३,१,७४ — श्रुवः शृ च। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, √श्रु की गणना भ्वा० में की गई है। परन्तु भारतीय विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि स्वा० में √श्रु की गणना करना लाघव है; दे० इसी सूत्र पर सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी-टीका; शिवदत्तदाधिमथाः— "केचित्तु गणकार्यस्यानित्यत्वबोधनायास्य स्वादावपाठ इति ब्रुवते।"

१५६. पा० ७,३,९०— ऊर्णोतेर्विभाषा। दे० टि० ९७।

१५७. भारतीय वैयाकरण ऐसे रूपों में लि० प्र० पु० ब० आ० का इरे प्रत्यय मानते हैं। पा० ३,४,११७ "छन्दस्युभयथा" पर काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार, लिट् को ऐसे रूपों में सार्वधातुक माना जाता

है और सार्वधातुकत्व से इन रूपों में नु विकरण आता है। ऋ० १,१५,८ के भाष्य में सायण ने भी शृण्विरे का यही समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु सायण के अनुसार, ऋ० ५,८७,३ को छोड़ कर शेष मन्त्रों में शृण्विरे और सभी मन्त्रों में सुन्विरे कर्मवाच्य में प्रयुक्त हुए हैं। अधिकतर मन्त्रों में इन दोनों रूपों को कर्मवाच्य के प्रयोग मानना ही उचित प्रतीत होता है; दे० WZR., *s.v.* ह्विटने (Skt. Gr., p. 255) का मत है कि पिन्विरे तथा हिन्विरे क्रमशः √पिन्व् तथा √हिन्व् से बने हुए द्वित्वरहित लिट् हो सकते हैं। मैक्डानल (Ved. Gr., p. 346) इन सब रूपों में इडागमयुक्त रे प्रत्यय (अनु० २२६,७; टि० ८०) मानता है; दे० Ved. Gr. Stu., p. 145; Skt. Lg., p. 323.

१५८. पा० ३,१,७९— तनादिकृञ्भ्य उः।

१५९. Ved. Gr., p. 346; Ved. Gr. Stu., p. 145; Gr. Lg. Ved., p. 264; Skt. Lg., p. 324; Alt. V., pp. 155-56; Ling. Intr., p. 151.

१६०. पा० ३,१,७९ (टि० १५८) पर काशि० के अनुसार कृ का पृथक् ग्रहण नियम के लिये है जिससे पा० २,४,७९ द्वारा विहित वैकल्पिक सिज्-लुक् नहीं होता है। और पा० ३,१,७९ पर सि० कौ० के अनुसार, कृ का पृथक् ग्रहण गणकार्य की अनित्यता का परिचायक है। परन्तु इसी सूत्र पर महाभाष्य ने कृ के पृथक् ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है।

१६१. पा० ६,४,११०— अत उत्सार्वधातुके।

१६२. पा० ६,४,१०८-१०९— नित्यं करोतेः। ये च।

१६३. पा० ३,१,७८— रुधादिभ्यः श्नम्। अन्तिम अच् के पश्चात् श्नम् जोड़ने के लिये, दे० पा० १,१,४७— मिदचोऽन्त्यात्परः।

१६४. ऋ० में ऐसे अनेक रूप मिलते हैं जिन में लो० म० पु० ए० के धि प्रत्यय से पूर्व धातु के अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है और अ०

मे युङ्धि रूप मिलता है। इस के अपवादस्वरूप ऋ० में एक वार √अन्ज् से अङ्ग्धि बनता है, परन्तु एक वार साधारण अङ्धि भी बनता है। लो० प्र० पु० द्वि० में धातु के अन्तिम व्यञ्जन सहित अङ्क्ताम् (वा० सं० २, २२) रूप मिलता है, अत एव मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 136) ने लो० प्र० पु० द्वि० प० में जो युङ्ताम् रूप बनाया है उस के लिये कोई आधार नहीं दीख पड़ता है। लो० म० पु० द्वि० तथा ब० प० के कुछ रूपों में धातु के अन्तिम व्यञ्जन का लोप मिलता है, परन्तु कुछ में नहीं है। इस आधार पर हम ने दोनों प्रकार के रूप दिखलाये हैं। अ० में लट् प्र० पु० ए० आ० के कुछ रूपों में धातु के अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है; यथा— अन्ज् तथा युज् से क्रमशः अङ्ते (परन्तु ऋ० अङ्क्ते) तथा युङ्ते। लट् प्र० पु० ए० का रूप वृन्जे (ऋ०) भी √वृज् से बनता है। लो० प्र० पु० ए० आ० के उपलब्ध रूपों में धातु के अन्तिम व्यञ्जन का लोप मिलता है। ऐसे रूपों में धातु के अन्तिम व्यञ्जन के लोप का व्याख्यान करने के लिये अ० प्रा० २, २०— "स्पर्शादुत्तमादनुत्तमस्यानुत्तमे" द्रष्टव्य है; तु० पा० ८,४, ६५— "झरो झरि सवर्णे"।

१६५. पा० ६,४,२३— श्नान्नलोपः।

१६६. पा० ७,३,९२— तृणह इम्।

१६७. पा० ३,१,८१— क्र्यादिभ्यः श्ना।

१६७क. अ० तथा तै० सं० इत्यादि में मिलने वाले रूपों के आधार पर गृभ्णाहि बनाया गया है।

१६८. पा० ३,१,८३ (टि० ४९) के अनुसार, म० पु० ए० प० में हलन्त धातु से परे आने वाले ना (पा० श्ना) का आन (पा० शानच्) बन जाता है और फलतः हि का लोप हो जाता है (टि० ४४)। वेद में अशान (ऋ०), गृहाण (ऋ०), बधान (अ०), तथा स्तभान (अ०) उदाहरण मिलते हैं। पा० (टि० ४९) के अनुसार,

कतिपय वैदिक रूपों में श्ना के स्थान पर शायच् प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है; यथा—लो० म० पु० ए०—गृभाय (ऋ०), मुषाय (ऋ०), श्रथय (ऋ०); व०—स्कुभायत (ऋ०), गृभायत (अ०)। दे० टि० ५०।

१६९. पा० ७,३,८०—प्वादीनां ह्रस्वः।

१७०. पा० ६,४,२४—अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति।

१७१. पा० ७,१,९१—णलुत्तमो वा।

१७२. पा० १,२,५—असंयोगाल्लिट् कित्।

१७३. पा० ७,१,३४—आत औ णलः॥ आकारान्त धातुओं के अतिरिक्त एजन्त (ए ओ ऐ औ अन्त) धातुओं का अङ्ग भी आकारान्त बनता है; तु० पा० ६,१,४५—"आदेच उपदेशेऽशिति"। परन्तु वैदिक-भाषा में प्रायेण आकारान्त धातुओं से बने रूपों के ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

१७४. सायण "पॄ पालनपूरणयोः" से कि प्रत्यय (पा० ३,२,१७१) द्वारा पप्रि प्रातिपदिक बना कर और प्रथ० ए० की विभक्ति को डा आदेश (पा० ७,१,३९) करके पप्रा का व्याख्यान "पूरयिता" करता है। कुछ सन्देह के साथ कतिपय आधुनिक विद्वान् जुहा (ऋ० ८,४५, ३७) को हा 'छोड़ना" का लि० प्र० पु० ए० मानते हैं; दे० WZR. (*hā*); Roots (*hā*); Alt. V., p. 124; Avery, p. 250. अन्य आधुनिक विद्वान् जुहा को निपात मानते हैं; दे० SPW., *s.v.*; MWD., *s.v.*, पिशल (Ved. St. I, 163f) के मतानुसार, उत्तरवर्ती पद 'को' को इस के साथ जोड़ कर 'जहाको' "छोड़ता हुआ" पद मानना चाहिये; तु० तै० आ० १,३,१। गैल्डनर (HOS., 34, p. 363) के मतानुसार, जुहा लि० प्र० पु० ए० है या जहात् के लिये प्राचीन अपपाठ है? यास्क (४,२) जुहा का व्याख्यान "जघान" (लि० उ० पु० ए०) करता है और दुर्गाचार्य कहता है कि जुहा पद √हन् से बना है और हा "छोड़ना" से नहीं।

१७४क. वै० प० को० में ऐसे शुश्रुमो पाठ का समाधान शुश्रुम+उ मान कर किया गया है।

१७५. पा० ३,४,८१—लिटस्तझयोरेशिरेच्।

१७६. पा० ६,४,७६—"इरयो रे" के अनुसार, ऐसे रूपों में इरे को रे आदेश होता है। सेट् धातुओं से परे रे को इट् का आगम होने पर भी पुनः रे कर दिया जाता है।

१७७. पा० ७,२,१३—कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि। ७,२,६३—ऋतो भारद्वाजस्य। दे० टि० १७९। "कृसृ०" सूत्र से वैयाकरणों ने यह नियम निकाला है कि इन आठ धातुओं को छोड़ कर शेष सभी धातु लिट् में सेट् है। इसे क्रादिनियम कहते हैं। दे० टि० १८१।

१७८. पा० ७,२,६६—इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम्।

१७९. पा० ७,२,६१—अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्।
७,२,६४—बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे।

१८०. मैक्डानल के मतानुसार (Ved. Gr., p. 355; Ved. Gr. Stu., p. 148, f.n. 2), इन उदाहृत रूपों में आकारान्त धातु के आ को अपित् (weak) प्रत्ययों से पूर्व इ आदेश हो गया है। पाणिनि के अनुसार, आ का लोप हो गया है (टि० २०१) और क्रादिनियम से इट् का आगम हुआ है (टि० १७७)। दे० Skt. Gr., p. 285.

१८१. पा० ७,२,६२—उपदेशेऽत्वतः॥ पा० ७,२,१३ (टि० १७७) तथा ७,२,६१-६३ (टि० १७७.१७९) का निष्कर्ष सि० कौ० में निम्नलिखित कारिका में दिया गया है—

> अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
> ऋदन्त ईदृङ्नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥

१८२. Ved. Gr., p. 356; Ved. Gr. Stu., p. 148; Skt. Gr., p. 287; Gr. Lg. Ved., p. 278; Alt. V., p. 119.

१८३. पा० ७,४,७०—अत आदेः।

१८४. पा० ७,४,६६—उरत्। पा० की प्रक्रिया के अनुसार, इस अ से

परे र् आता है, परन्तु "हलादिःशेषः" (टि० १३१) से उस का लोप हो जाता है।

१८५. पा० ७,४,७१— तस्मान्नुड् द्विहलः। ऋकारादि धातुओं के सम्बन्ध में इस सूत्र पर वार्तिक— "ऋकारैकदेशो रेफो हल्ग्रहणेन गृह्यते" (काशि०)। ७,४,७२— अश्नोतेश्च॥

१८६. Ved. Gr., pp. 352-353; Ved. Gr. Stu., p. 154. इस प्रकार के द्वित्व के सम्बन्ध में मैक्डानल तथा कतिपय अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने यह समाधान प्रस्तुत किया है कि मूलतः धातु के आदि स्वर के साथ धातु के नकार का द्वित्व करने से ऐसे रूपों का उद्भव हुआ, और इन में अभ्यास के स्वर को दीर्घ और धातु से प्रायेण नकार-लोप कर दिया जाता है। ऐसे नकार-युक्त धातुओं के रूपों के अनुकरण के प्रभाव से कुछेक नकार-रहित धातुओं के रूप भी इसी प्रकार बनने लगे। दे० Alt. V., pp. 113-114; Gr. Lg. Ved., p. 276; Skt. Lg., p. 341.

१८७. मैक्डानल (टि० १८६) इसे √अंश् मानता है और अनेक अन्य पाश्चात्य विद्वान् भी √अंश् तथा √नश् को √अश् के रूप-भेद मानते हैं; दे० Skt. Lg., p. 341; Roots, *s.v.*; WZR., *s.v.*; Alt. V, p. 113; Gr. Lg. Ved., p. 276.

१८८. पा० ६,१,३६— अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषे तित्याज श्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः।

१८९. अनेक आधुनिक विद्वानों के अनुमान के अनुसार, आनृजुः √ऋज् "पहुंचना" से बना है; दे० Roots, (√*ṛj*); Ved. Gr., p. 353. मोनियर विलियम्स (MWD., अर्ज्) इस रूप में √अर्ज् "कमाना" धातु मानता है।

कतिपय आधुनिक विद्वान् अनाह में √अंह् धातु मानते हैं; दे० SPW. (*ah*); Alt. V., p. 113; WZR. (I. *ah*). ह्विटने अनाह में √अंह् "तंग या दुःखी होना" धातु मानता है; दे०

Roots (√*anh*). गेल्डनर (HOS., 34, p. 369 f.n. 5b) तथा रेनू के मतानुसार (Gr Lg. Ved., p. 276), इस में √नह् धातु है और यह सम्भवतः प्र० पु० ए० का रूप है। परन्तु अनेक अन्य विद्वान् इसे म० पु० ब० का रूप मानते हैं; दे० WZR. (1. *ah*); Avery, p. 251; Ved. Gr., p. 353. इसे बहुवचन मानते हुए सायण सम्+अनाह का व्याख्यान "संदधते" करता है।

१९०. पा० ६,१,७—तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। इस पर काशि०—"तुजादीनामिति प्रकारे आदिशब्दः। कश्च प्रकारः? तुजेर्दीर्घोऽभ्यासस्य न विहितः; दृश्यते च; ये तथाभूतास्ते तुजादयस्तेषामभ्यासस्य दीर्घः साधुर्भवति।" सि० कौ०—"तुजादिराकृतिगणः"।

१९१. भारतीय वैयाकरण इस में जागृ धातु और द्वित्व का अभाव मानते हैं; दे० पा० ६,१,८ पर वार्तिक—"द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्" (काशि०); महाभाष्य; सि० कौ० (वैदिकीप्रक्रिया)। इस वार्तिक के आधार पर सायण प्रभृति भारतीय विद्वान् अन्य वैदिक रूपों में भी द्वित्व के अभाव का व्याख्यान करते हैं।

१९२. पा० ७,४,६९—दीर्घ इणः किति। ६,४,८१—इणो यण्।

१९३. पा० ७,४,७३—भवतेरः। ६,४,८८—भुवो वुग्लुङ्लिटोः।

१९४. पा० ७,४,७४—ससूवेति निगमे।

१९५. ऋ० ३,१६,२ पर सायण के अनुसार, यह लिट् का रूप है और डेल्ब्रिक (Alt. V., p. 121) इस मत को स्वीकार करता है। परन्तु अनेक आधुनिक विद्वान् इसे लुङ् का रूप मानते हैं; दे० Roots (√*dabh*); Ved. Gr., p. 353 f.n. 9; WZR. (√*dabh*).

१९६. Skt. Gr., p. 282; Ved. Gr., p. 358, f.n. 1; Ved. Gr. Stu., p. 155. अ० ३,२२,२ की पाण्डुलिपियों तथा पपा० में चेततुः पाठ मिलता है। परन्तु इस मन्त्र पर सायणभाष्य में चेततु पाठ माना गया है। सा० १,१५४ में चेततुः रूप मिलता है। अ०

३,२२,२ के इंग्लिश अनुवाद के नीचे टिप्पणी में ह्विटने चेततु पाठ का समर्थन करता है और पण्डित द्वारा सम्पादित अ० के संस्करण में चेततु पाठ ही दिया गया है। उपर्युक्त टिप्पणी में ह्विटने द्वारा उद्धृत वेबर के मतानुसार, चेततुः √चत् "डरा कर अधीन करना" से बना हुआ प्र० पु० द्वि० का रूप है।

१९७. पा० ७,२,११५— अचो ञ्णिति।

१९८. पा० ७,२,११६— अत उपधायाः।

१९९. ह्विटने (इंग्लिश अनुवाद पर टिप्पणी) के अनुसार, अ० ३,१८,३ में उपलब्ध जग्राह पाठ का जग्रह संशोधन वाञ्छनीय है।

२००. पा० ७,४,११— ऋच्छत्यृताम्।

२०१. पा० ६,४,६४— आतो लोप इटि च।

२०२. पा० ६,४,१२०— अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि।

२०३. पा० ६,४,१२१— थलि च सेटि।

२०४. पा० ६,४,१२० पर वार्तिक— दम्भेरेत्वं वक्तव्यम् (काशि०)।

२०५. पा० ६,४,१२२— तॄफलभजत्रपश्च॥

२०६. पा० ६,४,१२३-१२५— राधो हिंसायाम्। वा जॄभ्रमुत्रसाम्। फणां च सप्तानाम्। पा० ६,४,१२२ (टि० २०५) में परिगणित तॄ, फल् तथा त्रप् धातु और उस सूत्र पर वार्तिक— "श्रन्थेश्चेति वक्तव्यम्" (काशि०) के वैदिक उदाहरण भी मृग्य हैं।

२०७. पा० ६,४,१२६— न शसददवादिगुणानाम्। अधिकतर अकारवान् वकारादि धातुओं के व् को सम्प्रसारण हो जाता है और √शस् के वैदिक उदाहरण मृग्य हैं। पाश्चात्य विद्वान् √दद् को √दा का ही भेद मानते हैं।

२०८. पा० ६,१,१७— लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्।

२०८क. पा० ६,१,३३ "अभ्यस्तस्य च" के द्वारा द्वित्व से पूर्व √ह्वे का संप्रसारण करके हु का द्वित्व किया जाता है।

२०९. पा० ६,१,३७— न संप्रसारणे संप्रसारणम्।

२१०. पा० ६,१,१५—वचिस्वपियजादीनां किति च । ६,१,१६ (टि० ८६) । पा० ६,१,१७ पर काशि० तथा पा० ६,१,१५ पर सि० कौ० के अनुसार कित् लिट्-प्रत्ययों से पूर्व धातु के य् या व् का संप्रसारण करने के पश्चात् धातु का द्वित्व किया जाता है ।

२११. पा० २,४,४१—"वेञो वयिः" से लिट् मे वे का वय्; ६,१, ३९—"वश्चान्यतरस्यां किति" से कित् प्रत्यय उस् से पूर्व वय् के य् का व् अर्थात् वय्=वव्; तब पूर्व व् का संप्रसारण (टि० ८६.२१०)।

२१२. पा० ७,४,६७—द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् ।

२१३. पा० ६,१,३०— विभाषा श्वेः । अभ्यासदीर्घ (टि० १९०)।

२१४. पा० ६,४,९९—तनिपत्योश्छन्दसि । ६,४,९८ (टि० १११)।

२१५. पा० ७,३,५५-५८—अभ्यासाच्च । हेरचङि । सन्लिटोर्जेः । विभाषा चेः। धापा० के अनुसार, "कि ज्ञाने" धातु है, चि "जानना" नही है।

२१६. पा० ८,२,६४–६५—मो नो धातोः । म्वोश्च ॥

२१७. पा० के आम्प्रत्ययविधायक सूत्र— ३,१,३५–३९—कास्प्रत्ययादाम-मन्त्रे लिटि। इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । दयायासश्च । उषविद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् । भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ॥ अनुप्रयोगविधायक सूत्र- ३,१,४०—कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ॥

२१८. √शी "सोना" से बने शिश्यिरे (ब्रा०) के आधार पर निन्यिरे बनता है। परन्तु ईकारान्त धातु से बना कोई ऐसा वैदिक रूप नही दीख पड़ता है जो मैक्डानल द्वारा कल्पित निनीरे रूप का आधार बन सके। सम्भव है मैक्डानल ने जुहूरे (ऋ०) को इस कल्पित रूप का आधार माना हो, क्योंकि पाश्चात्य विद्वान् इस रूप में √हू "पुकारना" धातु मानते हैं। परन्तु भारतीय वैयाकरण इस में √ह्वे धातु (दे० टि० २०८क) और पा० ६,४,२—"हलः" द्वारा संप्रसारण के हु का हू मानते है।

२१९. मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 151) द्वारा कल्पित [तुतुद्ध्वे]

सप्तमोऽध्यायः

रूप के लिये कोई आधार नहीं दीख पड़ता है, क्योंकि उपलब्ध रूप दुधिध्वे है; दे० टि० १८०।

२२०. (क) पा० (टि० १८८) ने अपस्पृधेथाम् (ऋ०) का कोई समाधान नहीं सुझाया और केवल इस के छान्दसत्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इस सूत्र पर महाभाष्य में इस के दो समाधानों का उल्लेख है—(१) लङ् आ० के म० पु० द्वि० में √स्पर्ध् का द्वित्व, र् का संप्रसारण, तथा धातु के अकार का लोप; (२) अप+√स्पर्ध्+लङ् आ० म० पु० द्वि० (पूर्ववत् र् का संप्रसारण तथा धातु का अकारलोप, परन्तु द्वित्व और अडागम का अभाव)। दे० पा० ६,१,३६ पर काशि०, सि० कौ०।

(ख) पा० ६,४,१२० पर महाभाष्य में श्लोकवार्तिक—"नशिमन्योरलिट्येत्वं छन्दस्यमिपचोरपि। अनेशं मेनकेत्येतद् व्येमानं लिङि पेचिरन्।" (काशि०–नशिमन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम्; छन्दस्यमिपचोरप्यलिट्येत्वं वक्तव्यम्) के अनुसार, लिट् के विना भी लिङ् के रूप पेचिरन् में √पच् के अ को एत्व हो जाता है।

२२१. Benfey, *Vollständige Grammatik*, p. 353; Alt. V., pp. 121–123; Avery, p. 253; Skt. Gr., p. 295; *Roots.*

२२२. Ved. Gr., pp. 364–65; Ved. Gr. Stu., p. 158.

२२२क. ग्रासमैन (WZR.) ने √वश् तथा √वाश् दोनों धातुओं के नीचे अवावशीताम् (ऋ० १,१८१,४) रूप दिखाया है। ह्विटने (Skt. Gr., p. 368; Roots, p. 158) इसे √वाश् का यङ्लुगन्त लङ् मानता है। मैक्डानल Ved. Gr., p. 364 में इसे √वश् का अतिलिट् दिखाता है, परन्तु Ved. Gr. Stu., p. 418 में वह इसे √वाश् का अतिलिट् दिखाता है और Ved. Gr., p. 392 में यङ्लुगन्त लङ् में भी यह रूप दिखाया है।

२२३. मैक्डानल पहले (Ved. Gr., p. 364) अवावचीत् को अतिलिट् के रूपों में गिनाता है, परन्तु आगे चल कर (p. 392) इसे यङ्लुगन्त के

रूपों में गिनाता है और परिवर्धन तथा शुद्धिपरिशिष्ट (p. 435) में इसे अतिलिट् से निकाल देता है।

२२४. ह्विटने पहले (Skt. Gr., p. 295) अपिप्रत तथा जुहुरन्त को अतिलिट् के रूप मानता है, परन्तु पीछे (Roots, *s.v.*) लङ्वर्ग के अङ्ग से बने रूपों में इनकी गणना करता है।

२२५. Skt Gr., p. 295; cf. Alt. V., pp. 122-123.

२२६. Ved. Gr. Stu., p. 346—"वाक्य-रचना में प्रयोग के कुछ उदाहरणों में लङ् से और अन्य उदाहरणों में लुङ् से इस (अतिलिट्) का भेद नहीं किया जा सकता।" तु० Skt. Lg., p. 345; Gr. Lg. Ved., p. 280.

२२७. Skt. Gr., pp. 310-12; Roots, *s.v.*

२२८. Alt. V., pp. 194-95; Avery, p 252; Skt. Gr., p. 293; Roots; Ved. Gr., pp. 360-61; Ved. Gr. Stu., p. 156; WZR.

२२९. Ved. Gr., p. 361; Ved. Gr. Stu , p. 156.

२३०. Avery, p 253; Alt. V., p 197; WZR.; Skt. Gr., p. 294; Roots; Ved. Gr., p. 362; Ved. Gr. Stu., p. 157; Gr. Lg. Ved., pp. 279-80.

२३१. ऋ० १,१२२,१४ पर सायणभाष्य और अवैरी (पृ० २७१) के अनुसार, चाकन्तु प्र० पु० ब० का रूप है; परन्तु मैक्डानल (टि० २३०) इसे प्र० पु० ए० का रूप मानता है। Ved. Gr., p. 435 में मैक्डानल कहता है कि रूप में ए० होते हुए भी इस का अर्थ ब० का है।

२३२. रराणता के सम्बन्ध में देखिये— SPW., (√रन्); Alt. V., p. 43; Bollensen, Z. D. M. G., 22, 574.

सायण इस पद का व्याख्यान (तृ० ए०) "रममाणेन मनसा" करता है।

२३३. Avery, p. 252; Alt. V., pp. 195-96; WZR.; Skt. Gr.,

pp. 293-94; Roots; Ved. Gr., p. 361; Ved. Gr. Stu., p. 156; Gr. Lg. Ved., p. 279.

२३४. ह्विटने (Roots, p. 118) के मतानुसार भी ममन्यात् जु० का रूप है। Ved. Gr., p. 361 में दिया गया ममद्यत् इसी पद का अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है। Ved. Gr. Stu., p. 404 में मैक्डानेल ने ममन्यात् पाठ दिया है।

२३५. पा० ६, १, १९२ पर काशि०—"ममत्तु नः परिज्मा (ऋ० १, १२२,३)। मदेर्'बहुलं छन्दसी'ति विकरणस्य श्लुः। जजनदिन्द्रम्। जन जनन इत्यस्य पञ्चमे लकारे रूपम्। धन धान्य इत्यस्य पञ्चमे लकारे दुधनत्।" पा० ६,४,१०३ पर काशि०—"रारन्धीति रमेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्। शपः श्लुरभ्यासदीर्घत्वं छान्दसत्वात्।"

२३६. पा० २,४,७७—गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु। पा० २,४, ७८—"विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः" के अनुसार, √घ्रा, √धे, √शो तथा √छो के लुङ्-रूप प्रथम तथा षष्ठ दोनों प्रकार के लुङ्-भेदों में बनते हैं। परन्तु वैदिकभाषा में √धे के रूप केवल प्रथम लुङ्-भेद में मिलते है और अन्य धातुओं का कोई लुङ्-रूप नहीं मिला है।

२३७. पा० ७,३,८८—भूसुवोस्तिङि।

२३८. पा० २,४,७९—तनादिभ्यस्तथासोः।

२३९. पा० ८,२,२५-२७—धि च। झलो झलि। ह्रस्वादङ्गात्॥

२४०. ऐसे रूप प्रायेण ऋ० में मिलते हैं और सायण इन का कोई निश्चित समाधान नहीं करता है। ऋ० १,७१,१ पर सायण अजुषून् को तुदा० के लङ् का रूप, इस में व्यत्यय से परस्मैपद और "बहुलं छन्दसि" (टि० १९) से झन् प्रत्यय को रुट् का आगम मानता है। इसी प्रकार अकृप्रन् (ऋ० ४,२,१८), अवृत्रन् (ऋ० ८,९२, १४), तथा अविश्रन् (ऋ० ८,२७,१२) को अदा० के लङ् के, परस्मैपदी रूप और "बहुलं छन्दसि" (टि० १९) से इन के प्रत्यय में रुडागम मानता है। सायण के अनुसार, अयुज्रन् (ऋ० ३,४१,२)

में लुङ् के विकरण अङ् (टि० २६६) को "बहुलं छन्दसि" (टि० १९) से रुडागम हुआ है। ऋ० १,८०,८ पर सायण अस्थिरन् में लुङ् के च्लि विकरण का लुक् (टि० २४४) और झ प्रत्यय का व्यत्यय से रन् आदेश मानता है, परन्तु ऋ० १,६४,११ तथा १, १३५,१ पर सायण अस्थिरन् में 'ह्रस्वादङ्गात्" (टि० २३९) सूत्र से सिच् के स् का लोप मानता है। वास्तव में "ह्रस्वादङ्गात्" से अस्थिरन् में सिच् के स् का लोप नहीं माना जा सकता, क्योंकि सिच् से परे झल् होने पर यह सूत्र लगता है जबकि इस रूप में झल् नहीं अपितु र् है। सायण के अनुसार, ऋ० में अदृश्रन् कर्मवाच्य ("दृश्यन्ते") के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जबकि असृग्रन् कहीं कर्मवाच्य ("सृज्यन्ते") के अर्थ में और कही कर्तृवाच्य ("गच्छन्ति") के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

२४१. पा० १,२,१७—स्थाघ्वोरिच्च। पा० १,१,२०—"दाधा घ्वदाप्" के अनुसार, दाप् तथा दैप् को छोड़ कर, अन्य दा- रूप तथा धा- रूप धातु घु-संज्ञक है।

२४२. वा० सं० ३,५८ पर उवट तथा महीधर इसे √अद् के णिजन्त का विलि० रूप मानते हैं। मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 389) इन्हें √दा "देना" के रूप मानता है, जबकि ह्विटने (Skt. Gr., p. 300; Roots, √2 dā) के अनुसार ये √दा (पा० दो) "बांटना" से बने हैं। ह्विटने का अनुकरण करते हुए मैक्डानल ने √दा "बांटना" से पुनः ये दोनों रूप (ibid. p. 389) दिखलाये हैं।

२४३. मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 169) ने आ० प्र० पु० द्वि० में अक्रूताम् रूप दिखलाया है जो निश्चय ही अशुद्ध है। इसी प्रकार मैक्डानल ने अशुद्धि से प० प्र० पु० द्वि० के रूप अधीताम् (ऋ० १०, ४,६) को आ० प्र० पु० द्वि० का रूप माना है (Ved. Gr., p. 367; Ved. Gr. Stu., p. 393). अवैरी (पृ० २५४) भी इसे आ० का

रूप मानता है, और ग्रासमैन (WZR., *s.v.*) का भी यही अनुमान प्रतीत होता है। मोनियर विलियम्स (MWD., √भा I.) ने भी इस की परिगणना आ० के रूपों में की है। डेल्ब्रिक (Alt. V., p. 73) भी इसे आ० का रूप समझता है। दे० ह्विटने (Roots) प०।

२४४. पा० २,४,८०— मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः। इस सूत्र पर काशि० ने √जन् का उदाहरण अज्ञत (ऐ० ब्रा० ७,१४) दे कर कहा है— "ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्। मन्त्रग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।" सि० कौ० ने काशि० का अनुकरण करते हुए, लिखा है— "मन्त्रग्रहणं ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम्।"

२४५. आनंद के विविध व्याख्यानों के लिये दे० टि० ३०। इस सूत्र के व्याख्यान में काशि० तथा सि० कौ० प्रणक् (ऋ० १,१८,३) को प्र+√नश् का लुङ् मानते हैं, परन्तु ऋ० १,१८,३ पर सायण इसे रुधा० में √पृच् का लङ् मानता है। ग्रासमैन प्रभृति आधुनिक विद्वान् काशि० तथा सि० कौ० के मत का समर्थन करते हैं।

२४६. ऋ० १,१५८,५ पर सायण ग्ध को √हन् का छान्दस लुङ् रूप मानता है, जबकि आधुनिक विद्वान् इसे √घस् का रूप मानते हैं।

२४७. ऋ० ६,६१,९ पर सायण अतन् को √अत् का शबन्त रूप मानता है, परन्तु आधुनिक विद्वान् इसे √तन् का रूप मानते हैं।

२४८. ह्विटने तथा मैक्डानल इसे √क्रम् का रूप मानते हैं, जबकि ऋ० ५,५९,१; ७,५,७ पर सायण तथा ग्रासमैन के अनुसार, यह √क्रन्द् का रूप है। गैल्डनर (HOS., vol. 34, p. 66, n.) इस में √क्रम् मानता है।

२४९. ऋ० में अप्राः का ११ बार प्रयोग मिलता है जिन में से केवल एक प्रयोग (१,५२,१३) म० पु० ए० का और शेष प्रयोग प्र० पु० ए० के माने जाते हैं। दे० WZR., √prā; Roots, √prā; MWD., √prā; Alt. V., p. 59; Avery, p. 254. सायण ऋ० ६,७२, ५ में भी इसे म० पु० ए० का प्रयोग मानता है और प्र० पु० ए० में

इस का समाधान करते हुए कहता है—"पुरुषव्यत्ययः" (१,११५,१); "व्यत्ययेन मध्यमः" (१०,७६,४;१०६,११;१२७,२); " 'तिङां तिङो भवन्ति' इति तिपः सिबादेशः" । दे० टि० ७१ । सायण के अनुसार, अप्राः अदा० लङ् का रूप है । दे० अनु० २७५ (ख) ।

२५०. पा० ३,१,६०-६१— चिण् ते पदः । दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यो-ऽन्यतरस्याम् ॥

२५१. पा० ६,४,१०४— चिणो लुक् ।

२५२ पा० ७,३,३५— जनिवध्योश्च ।

२५३. Skt. Gr., pp. 304-305; Ved. Gr., p. 368; Ved. Gr. Stu., pp. 179–80; Avery, p. 275.

२५४. पा० २,४,८० (टि० २४४) पर काशि० तथा सि० कौ० और ऋ० के सायणभाष्य के अनुसार, धक् √दह् से बना है । पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, अनिट्-सिज्लुङ् में अधाक् (ऋ०), धाक् (ऋ० १,१५८,४) √दह् से बने हैं और विकरण-लुग्-लुङ् में धक् √दघ् "पहुंचना" से बना है; Alt. V., p. 60; WZR., *s.v.*; Skt. Gr., pp. 300, 318; Roots, *s.v.*; Ved. Gr. Stu., p. 388; Ved. Gr., pp. 369,378. पाश्चात्य विद्वान् धक्तम् (ऋ० १, १८३,४) में भी √दघ् मानते है, परन्तु सायण इस का व्याख्यान "दत्तम्" करता है ।

२५५. ऋ० ३,३३,८ पर सायण मृष्ठाः में √मृज् धातु मानता है, परन्तु ग्रासमैन, ह्विटने तथा मैक्डानल √मृष् "ध्यान न देना" धातु मानते हैं ।

२५६. ऋ० ६,५१,१२ पर सायण नंशि को प्र० पु० ए० मानते हुए इस का व्याख्यान "व्याप्नोतु" करता है । परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे √नंश्=√नश् "व्याप्त करना" से बना उ० पु० ए० का रूप मानते हैं ; WZR., √2. naś ; Avery, p. 255; Roots, p. 89; Ved. Gr., p. 369; MWD., √नश् I.

सप्तमोऽध्यायः

२५७. अवैरी (p. 254) का अनुसरण करते हुए मैक्डानल ने अडागमरहित लुङ् के अङ्ग से बने विमू० के रूपों में धीमहि की गणना की है, परन्तु वह स्वीकार करता है (Ved. Gr., p. 369, f.n. 6) कि यह विलि० में उ० पु० ब० का रूप भी हो सकता है। इस के विपरीत ह्विटने (Skt. Gr., p. 302) ने इस की गणना तो विलि० के रूपों में की है, परन्तु वह कहता है कि यह अडागम-रहित लुङ् भी हो सकता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इस रूप के सभी (२३) ऋ०-प्रयोगों में √धा "रखना" धातु है। परन्तु सायण इस रूप के एक प्रयोग (ऋ० ८,७,१८) में √ध्यै, अन्य (ऋ० ८,२२,१८) में √धीङ् "आधारे" और एक (ऋ० ३,६२,१०) में √ध्यै या √धीङ् धातु मानता है। वा० सं० ३,३५ पर भाष्य करते हुए उवट तथा महीधर धीमहि में √ध्यै मानते हैं और तै० आ० (१,११,२;१०,२७,१) के भाष्य में सायण भी इस में √ध्यै ही मानता है। ऋ० के दो प्रयोगों (७,१५,७;१०,१६,१२) में सायण धीमहि को भूतकालिक मान कर क्रमशः "वयं निहितवन्तः" तथा "वयं स्थापितवन्तः" व्याख्यान करता है। शेष ऋ० प्रयोगों में सायण धीमहि को √धा से निष्पन्न मान कर इसे अदा० का आलि० (ऋ० १,१७,६; ३,३०,१९) या विलि० (ऋ० १,४४,११; ३,२९,४) समझता है।

२५८. ह्विटने (Skt. Gr., p. 302) गुणरहित रूपों का वर्गीकरण सन्दिग्ध मानता है और कहता है कि ऐसे रूप अङ्-लुङ् के प्रतीत होते हैं, क्योंकि विकरण-लुग्-लुङ् के लेट् में गुण होना अधिक उचित होगा, परन्तु इस लुङ् तथा लिट् में √भू के रूपों में गुण का अभाव है। अवैरी (पृ० २५६-५७) ने ऐसे गुण-रहित रूपों की गणना अङ्-लुङ् के रूपों में की है। परन्तु मैक्डानल ने इन की गणना विकरण-लुग्-लुङ् के रूपों में की है (Ved. Gr., pp. 368-69; Ved. Gr. Stu., p. 171 f.n. 1). अवैरी (पृ० २५६-५७) ऐसे रूपों को अङ्-लुङ् के मानता है।

२५९. √पद् को छोड़ कर शेष अकार-युक्त धातुओं के रूप अडागमरहित अङ्-लुङ् में भी समान बनते हैं। इस लिये ऐसे रूपों का वर्गीकरण पूर्णतया असन्दिग्ध नहीं है, क्योंकि ये अङ्-लुङ् के विमू० रूप भी हो सकते हैं।

२६०. भारतीय विद्वान् आकारान्त अङ्ग वाले ऐसे सब रूपों को प्रायेण अदा० के मानते हैं (अपवाद के लिये दे० टि० २३६,२४४) और पाश्चात्य विद्वानों में भी ऐसे रूपों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में मत-भेद है। ग्रासमैन ऐसे अधिकतर रूपों को अदा० के मानता है और ह्विटने ने भी अपने उत्तरकालीन ग्रन्थ (Roots, *s.v.*) में दार्ति, दातु, धाति, पाथः, पान्ति (ऋ० २,११,१४) और √वह् के उह्रीत, वोढम्, वोढाम् तथा वोढ्वम् की गणना अदा० के रूपों में की है। परन्तु अन्यत्र (Skt. Gr., pp. 301 ff.) इन में से कुछ रूपों (दार्ति, धार्ति, स्थाति इत्यादि) की गणना लुङ् के रूपों में की गई है।

२६१. दे० टि० २५९। Ved. Gr., p. 369 में गमाम में आ पर उदात्त अशुद्ध है। दे० Ved. Gr. Stu., p. 379. हमने उपलब्ध प्रयोग के अनुसार, इसे अनुदात्त ही दिखाया है।

२६२. ह्विटने (Skt. Gr., p. 303) √भू तथा √बुध् से बने क्रमशः *भूधि और *बुद्धि दोनों के स्थान पर बोधि रूप मानता है; और मैक्डानल (Ved. Gr., p. 370 f.n. 3; Ved. Gr. Stu., p. 172 f.n.) के मतानुसार, √भू से *भूधि के लिये और √बुध् से *बुद्धि के स्थान पर *बोद्धि के लिये बोधि रूप बनता है। दे० WZR., √budh, √bhū; Alt. V., p. 37; Avery, pp. 242,255; MWD., √बुध् I; √भू I; Gr. Lg. Ved., p. 47. सायण के मतानुसार, ऋ० में उपलब्ध बोधि के ४६ प्रयोगों में से ७ प्रयोगों (४,१७,१७;१८;२२,१०; ६,२१,१२;७, ३२,११; २५;७५,२) में √भू के लोट् का रूप है (६,२१,१२— "बोधीति भवतेर्लोण्मध्यमपुरुषैकवचनस्य छान्दसं रूपम्"; ७,३२,११—

"भवतेर्लोटि रूपम्। भकारस्य वकारश्छान्दसः") और शेष २९ प्रयोगों में √बुध् का रूप है। इन में से एक प्रयोग (४,१६,१७) में सायण बोधि का व्याख्यान "अबोधि" (="बुद्धवान् असि") और अन्य प्रयोग (१०,१३३,१) में "बुध्यताम्" करता है और कहता है कि √बुध् का "छान्दस लुङ्" में चिण्युक्त (टि० २५०) रूप है। ऋ० ३, १४,७ के प्रयोग को भी लुङ् का रूप मानते हुए सायण कहता है कि इस रूप में लोट् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग हुआ है (पा० ३,४,६) और म० पु० ए० के प्रत्यय के स्थान पर प्र० पु० ए० का प्रत्यय 'त" और चिण् के कारण "त" का लोप हुआ है (टि० २५०-२५१)। शेष प्रयोगों में √बुध् के लो० म० पु० ए० का प्रत्यय मानते हुए सायण कहता है कि इन में गण-विकरण का लुक् (टि० ९५), धि प्रत्यय (टि० ४५), और √बुध् के ध् का छान्दस लोप हो गया है (दे० १,२४,११;१.३१,९;३,१९,५, इत्यादि पर भाष्य)।

२६३. अनेक पाश्चात्य विद्वान् योधि को √युध् का रूप मानते हैं; दे० WZR., √*yudh*; Skt. Gr., p. 303; Ved. Gr., p. 370 f.n. 4; Ved. Gr. Stu., p. 172; MWD, √युध् I; Roots, p. 133. ऋ० ५,३,९ पर सायण इस का व्याख्यान "पृथक्कुरु" करते हुए इस में √यु "पृथक् करना" मानता है और डैल्ब्रिक (Alt. V., p. 37) इसी मत का अनुमोदन करता है।

२६४. Ved. Gr., p. 370. में माहि के आ पर उदात्त अशुद्ध है।

२६५. ह्विटने (Roots, p. 71), मैक्डानल (Ved. Gr., p. 370; Ved. Gr. Stu., p. 389) तथा रैनू (Gr. Lg. Ved., p. 283) प्रभृति विद्वान् दीष्व में √दा "देना" मानते हैं, जबकि उवट तथा महीधर के मतानुसार इस में "दो दाने" धातु है।

२६६. पा० ३.१,५३-५५.५७— लिपिसिचिह्वश्च ॥५३॥ आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ॥५४॥ पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु ॥५५॥ इरितो वा ॥ धापा० के अनुसार √मुच् तथा √विद् लृदित् और √छिद्

इत्यादि धातु इरित हैं। और √रुह् के लिये दे० टि० २६७।

२६७. पा० ३,१,५६.५९—सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च ।।५६।। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि ।।५९।।

२६८. पा० ३,१,५२—अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ॥ इस सूत्र के अनुसार, √वच् के रूप भी अङ्-लुङ् में बनते है और ह्विटने (Skt. Gr., p. 308; Roots, p. 151) तथा बरो (Skt. Lg., p. 335) √वच् से बने अवोचत् इत्यादि रूपों को अङ्-लुङ् के मानते हैं। परन्तु अवैरी (पृ० २६६–६७), डैल्ब्रिक (Alt. V., p. 110), मैक्डानल (Ved. Gr., p. 374) तथा रैनू (Gr. Lg. Ved, p. 286) इन्हें चङ्-लुङ् के रूप मानते है। पा० के अनुसार, वोच- अङ्ग वाले रूपों में अङ् विकरण है—कुछेक रूपों मे पा० ३,१,८६ (टि० २७०) द्वारा विहित और अन्य रूपों में प्रस्तुत सूत्र द्वारा विहित। सायण ने तो वोचतु (ऋ० ३,५४,१९) तथा वोच (ऋ० १,१३२,१) में भी 'व्यत्यय' (टि० ७१) से शप् के स्थान पर अङ् माना है। अङ् परे रहते, पा० ७,४,२० "वच उम्" से √वच् के अकार के पश्चात् उ का आगम होकर वोच- अङ्ग बन जाता है। हमने वोच- को अङ्-लुङ् का अङ्ग मान कर इस के रूपों पर विचार किया है, चङ्-लुङ् में नहीं।

२६९. उवट तथा महीधर के मतानुसार, सेत् √सन 'पाना" या √सि "बांधना" से बना है और वा० सं० ९,६ पर उवट कहता है—"सनोतेः सिनोतेर्वा लिटि एतद्रूपम्।" ह्विटने (Roots, p. 183) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 373 f.n. 3) इसे √सा>√सन् "पाना" का रूप मानते हैं। दे० MWD. √सन् I.

२७०. पा० ३,१,८६—लिङ्याशिष्यङ् ॥ इस पर वार्तिक (महाभाष्य) १—आशिष्यङः प्रयोजनं स्था-गा गमि-वचि-विदयः; २—शकिरुह्योश्च; ३—दृशेरक्॥ इस सूत्र पर काशि०—आशिषि विषये यो लिङ् तस्मिन् परतश्छन्दसि विषयेऽङ् प्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः।

सप्तमोऽध्यायः

छन्दस्युभयथेति लिङः सार्वधातुकसंज्ञाप्यस्ति। स्था-गा-गमि-वचि-वदि-शकि-रुहयः प्रयोजनम्। वार्तिक—दृशेरग्वक्तव्यः।

२७१. पा० ७,४,१७—अस्यतेस्थुक्॥ निरुक्त—२,२—अथापि वर्णोपजनः। आस्थत्॥

२७२. पा० ७,४,१६—ऋदृशोऽङि गुणः।

२७३. पा० ३,१,४८-५०—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्।४८। इस पर वार्तिक (काशि०)—कमेरुपसख्यानम्। विभाषा धेट्श्व्योः।४९। गुपेश्छन्दसि।५०॥ वैदिक भाषा में णि-रहित √कम् से बने चङ्-लुङ् के उदाहरण मृग्य हैं।

२७४. पा० ६,१,११—चङि।

२७५. पा० ६,४,५१—णेरनिटि।

२७६. पा० ७,४,१—णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः।

२७७. पा० ७,४,९३—सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे।

२७८. पा० ७,४,९४—दीर्घो लघोः।

२७९. पा० ७,४,७-८—उर्ऋत्।नित्यं छन्दसि॥

२८०. पा० ७,४,३—भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम्। पा० द्वारा परिगणित अन्य धातुओं के वैदिक उदाहरण मृग्य है।

२८१. पा० ७,४,९५—अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पशाम्। पा० द्वारा परिगणित अन्य धातुओं के वैदिक उदाहरण मृग्य है।

२८१क. ह्विटने (Roots, p. 39) तथा मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 380) √गृ "जागना" और ग्रासमैन (WZR., *s.v.*, gar) √गर् "जागना" के आधार पर अजीगर्, जिगृतम् तथा जिगृत का समाधान करते हैं। सायण तथा महीधर (वा० सं० २९,१८) अजीगर् में √गॄ का ण्यन्त चङ्लुङ् मानते है। ऋ० के अनेक मन्त्रों के भाष्य में सायण इसे √गॄ का जु० लङ् मानता है। परन्तु सायण अनेक मन्त्रों के भाष्य में इस का अर्थ "जागरयति" या "प्रकाशयति" करता है। अजीगर् को √गृ "जागना" या √जागृ का ण्यन्त

चङ्लुङ् मानना उचित है। जिगृतम् तथा जिगृत को √गृ "जागना" का जु० मान कर भी समाधान किया जा सकता है। दे० MWD., *s.v.* √जागृ। ग्रासमैन तथा मैक्डानल के मतानुसार केवल ऋ० १,१६३,७ के मन्त्र का अजीगर् (वा० सं० २९,१८) √गॄ से बना है और अन्य अजीगर् तथा अजीगर् √गृ या √गर् "जागना" से बने है।

२८२. पा० ७,४,८०–८१ में निर्दिष्ट धातुओ मे से केवल √प्लु के अभ्यास के उ को इ (टि० २७७) बनने का वैदिक उदाहरण मिलता है।

२८३. पा० ७,४,५— तिष्ठतेरित्।

२८४. पा० के मतानुसार अपप्तत् अङ्-लुङ् का रूप है। ऌदित √पत्ऌ से अङ् विकरण (टि० २६६) आने पर, पा०-७,४,१९ "पतः पुम्" से √पत् के अ के पश्चात् प् का आगम हो जाता है। परन्तु इन रूपों में द्वित्व की स्पष्टता के कारण चङ्-लुङ् के रूपों में इन की गणना करना समीचीन है।

२८५. पा० ६,४,१२० (टि० २०२,२२०ख) पर वार्तिक (काशि०) "नशि-मन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम्" से स्पष्ट है कि लिट् से भिन्न लकार मे √नश् के अ का ए बनता है और पा० के उपर्युक्त सूत्र के महा-भाष्य में उद्धृत अनेशम् को कैयट अङ्-लुङ् का रूप मानता है। वा० सं० १६,१० में प्रयुक्त अनेशन् को महीधर अङ्-लुङ् (टि० २६६) का रूप मानता है और ऋ० १०,१२८,६ में प्रयुक्त नेशत् को सायण भी इसी प्रकार अङ्-लुङ् का रूप मानता है और अभ्यास के एत्व के लिये इसी वार्तिक को उद्धृत करता है, परन्तु ऋ० ४,१,१७ के नेशत् को सायण लङ् का रूप मानते हुए इसी वार्तिक को उद्-धृत करता है। ह्विटने (Skt. Gr., p. 308) तथा रैनू (Gr. Lg. Ved., p. 285) भी ऐसे रूपों को अङ्-लुङ् के मानते हैं, परन्तु उत्तरवर्ती-ग्रन्थ-(Roots, p. 89) में ह्विटने ने अनेशत् इत्यादि रूप चङ्-लुङ् के माने हैं। मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् (टि० २६८)

इन्हें चङ्-लुङ् के रूप मानते हैं और द्वित्व-विषयक वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

२८६. पा० ३,१,४३-४४ च्लि लुङि। च्लेः सिच्।

२८७. पा० ७,२,१— सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु।

२८८. पा० ७,२,३— वदव्रजहलन्तस्याचः।

२८९. पा० १,२,११-१२— लिङ्सिचावात्मनेपदेषु। उश्च ॥

२९०. पा० १,२,१३-१६— वा गमः। हनः सिच्। यमो गन्धने। विभाषोपयमने। √हन् तथा √यम् के ऐसे वैदिक उदाहरण मृग्य है।

२९१. पा० ६ १,५८-५९— सृजिदृशोर्झल्यमकिति। अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्।

२९२. पा० ६,१,३४— बहुलं छन्दसि।

२९३. पा० ८,३,७८ — इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्।

२९४. पा० ६,१,६८— हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्।

२९५. पा० ३,१,३४—सिब्बहुलं लेटि॥ महाभाष्य—वार्तिक १—"सिबुत्सर्गः छन्दसि"—महाभाष्य— "सिबुत्सर्गश्छन्दसि कर्तव्यः" ॥ वार्तिक २— "सनाद्यन्ते नेषत्वाद्यर्थः"— महाभाष्य— "सनाद्यन्ताधिकारे च कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्? नेषत्वाद्यर्थः। इन्द्रो नस्तेन नेषतु। गावो नेष्टादिति।"— प्रदीप- "परनिमित्तमनुपादाय सनादिवर्गे धातोः सिब् विधेयः। तेन तदन्तस्य धातुसंज्ञायां सत्यां नेषत्वादीनि सिध्यन्ति। नीशब्दात्सिपि गुणे च कृते लोटि च नेषत्विति रूपम्" ॥

२९६. पा० ३.१,३४ पर महाभाष्यवार्तिक ३— "प्रकृत्यन्तरत्वात्सिद्धम्"— महाभाष्य— "प्रकृत्यन्तरत्वात्सिद्धमेतत्। कथं प्रकृत्यन्तरं नेषः?" वार्तिक ४— "नेषतु नेष्टादिति दर्शनात्"— महाभाष्य— "नेषतु नेष्टादिति हि दृश्यते"— प्रदीप— "प्रकृत्यन्तरत्वादिति जेषृ-णेषृ-एषृ-प्रेषृ-गताविति पाठान्नयत्यर्थ उत्सर्गो न कर्तव्यः। 'अवयासिसीष्ठाः' इत्याद्यर्थस्तु कर्तव्यः। 'पा० ३,२,१३५ पर वार्तिक २— "नयतेः पुक् च"—वार्तिक ३—"न वा धात्वन्यत्वात्"— महाभाष्य—"न वा

वक्तव्यः। किं कारणम् ? धात्वन्यत्वात्। धात्वन्तरं नेपतिः। कथं ज्ञायते ?" वार्तिक ४— "नेपतु नेष्टादिति दर्शनात्"—महाभाष्य— "नेपतु नेष्टादिति हि प्रयोगो दृश्यते । इन्द्रो वस्तेन नेपतु । गावो नेष्टात् " ॥

२९७. पा० ७,४,४५— सुधित-वसुधित-नेमधित-धिष्व-धिषीय च ।

२९८. WZR., *s.v.*; Alt. V., p. 181; Skt. Gr., p. 319; Ved. Gr., p. 378; Skt. Lg., p. 337.

२९९. उणादिसूत्र (सि० कौ०) २,२४३–४५— छन्दस्यासञ्शुजृभ्याम् । ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित् । अर्तेर्गुणः शुट् च ॥

३००. पा० ७,२,३५— आर्धधातुकस्येड्वलादेः ।

३०१. पा० ७,२,२— अतो ल्रान्तस्य ।

३०२. पा० ७,२,७— अतो हलादेर्लघोः ।

३०३. पा० ७,२,४–५— नेटि । ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ।

३०४. पा० ७,२,३७— ग्रहोऽलिटि दीर्घः ।

३०५. पा० ८,२,२८— इट ईटि ।

३०६. इस रूप के धातु के सम्बन्ध में सन्देह और मत-भेद है। सायण ने इस के दो व्याख्यान किये है— "न दविषाणि न दूपये न परितपामि। यद्वा न दविषाणि— न देविष्यामीत्यर्थः।" सायण के द्वितीय व्याख्यान को स्वीकार करते हुए ग्रासमैन (WZR., *s.v.* √div) तथा रैनू (Gr. Lg. Ved., p. 61) इसे √दिव् (दीव्) का रूप मानते हैं, परन्तु रोट (SPW., *s.v.* √2du) √दिव् के समानार्थक √दु की कल्पना करके उस से इस रूप का समाधान करता है। डैल्ब्रिक (Alt. V., p. 179) इस में √दु "जलाना" और मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.* √दु I.) √दु (दू) "जाना" धातु मानता है। मैक्डानल अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ (Ved. Gr. Stu, p. 390) में इस रूप की व्युत्पत्ति √दु (दू) "जलाना" से मानता है और √दु

"जाना" से सन्दिग्ध समझता है, परन्तु Vedic Reader p. 189 में वह निश्चय ही इसे √द्रु "जाना" का रूप मानता है।

३०७. पा० ३,१,३४ पर महाभाष्य— वार्तिक ७— "सिब्बहुलं छन्दसि णित्"।

३०८. पा० ७,२,७३— यमरमनमातां सक् च।

३०९. पा० ३,१,४५— शल इगुपधादनिटः क्सः।

३१०. पा० ३,१,४२— अभ्युत्सादयां प्रजनयां चिकयां रमयामकः पावयां क्रियाद्विदामक्रन्निति छन्दसि।

३११. Skt. Gr., pp. 212-213, 326–327; Ved. Gr., p. 317; Ved. Gr. Stu., pp 175–176; Skt. Lg., pp. 349–52.

३१२. पा० ३,१,३३— स्यतासी लृलुटोः।

३१३. पा० ७,२,१०— एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। इस सूत्र पर काशि० तथा सि० कौ० में ऐसे धातुओं की परिगणना की गई है जो अनुदात्त (निहत) होने के कारण अनिट् माने जाते है।

३१४. पा० ७,२,७० — ऋद्धनोः स्ये।

३१५. पा० ७,२,४४— स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा।

३१६. पा० ७,२,५७— सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः। लृट् में कृत् से अन्य धातुओं का वैदिक प्रयोग अनुपलब्ध है।

३१७. पा० ७,२,५९— न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः।

३१८. पा० ७,२,५८— गमेरिट् परस्मैपदेषु।

३१९. पा० ७,२,४५— रधादिभ्यश्च (रध् नश् तृप् दृप् द्रुह् मुह् ष्णुह् ष्णिह्)।

३२०. Avery, p. 262; WZR.; MWD., *s.v.*; Ved. Gr., p. 386; Ved. Gr. Stu., p. 177; Skt. Gr., p. 333; Gr. Lg. Ved., p. 145.

३२१. ग्रासमैन (WZR., *s.v.*) के अनुसार, इस रूप का क्रुरिष्याः पाठ मानना चाहिये। दे० SPW., *s.v.* Kari*syá*. मैक्डानल (Ved.

Gr., p. 386, f.n. 13) भी इसे कुरि्ष्याः के समान मानता है। सायण इस का व्याख्यान "कर्तव्यानि" करता है और वै० प० को० में इसी मत को स्वीकार किया गया है। परन्तु वा० सं० ३३,७९ पर महीधर इस का व्याख्यान "करिष्यति" करता है और कहता है— "तिलोपो दीर्घश्च छान्दसः"।

३२२. दे० Skt. Gr., p. 333; Ved. Gr. Stu., p. 177.

३२३. पा० ३,३,१४— लृटः सद्वा॥

३२४. पा० २,४,८५— लुटः प्रथमस्य डारौरसः।

३२५. पा० ७,४,५० — तासस्त्योर्लोपः।

३२६. पा० ७,४,५१— रि च।

३२७. पा० ८,२,२५— धि च।

३२८. पा० ७,४,५२— ह एति।

३२९. पा० ६,१,१८६— तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः। दे० टि० ३३० में काशिका-मत।

३३०. पा० ८,१,२९— न लुट्। इस सूत्र पर काशि०— "लुडन्तं नानुदात्तं भवति।......तासेः परस्य लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे सति सर्वतासिरेवोदात्तः। यत्र तु टिलोपस्तत्रोदात्तनिवृत्तिस्वरो भवति।"

३३०क. कतिपय विद्वान् प्रयोक्तासे को म० पु० ए० का रूप मानते हैं; दे० वै० प० को०।

३३१. Skt. Gr., p. 334; Ved. Gr. Stu., p. 178; Skt. Lg., p. 331; Gr. Lg. Ved., p. 294.

३३२. पा० ३,१,२५ — सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्।

३३३. पा० ३,१,२६— हेतुमति च।

३३४. Skt. Gr , p. 379; Ved. Gr., p. 393; Skt. Lg., pp. 330, 356.

३३५. Skt. Gr., p. 383; Ved. Gr., p. 393; Brugmann, Kurze

Vergleichende Grammatik, 698.

३३६. Skt. Gr., pp. 378,387; Skt. Lg., pp. 330, 356,357; Ved. Gr., p. 398, Ved. Gr. Stu., p. 205.

३३७. Skt.-Gr., pp. 277,378; Ved. Gr., p. 393; Ved. Gr. Stu., p. 196; Skt. Lg., pp. 330,356.

३३८. पा० ६,४,९२— मितां ह्रस्वः। दे० धापा० का म्वा०। इस सूत्र के व्याख्यान में काशि० कहती है— "केचिदत्र वेत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन उत्कामयति, संक्रामयतीत्येवमादि सिद्धं भवति।" 'वा" की अनुवृत्ति से अनेक वैदिक रूपों का समाधान किया जा सकता है; यथा— गामय (ऋ०)।

३३९. पा० ७,३,३६— अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ। अन्य धातुओं के वैदिक उदाहरण मृग्य हैं।

३४०. पा० ६,१,४५— आदेज उपदेशेऽशिति।

३४१. पा० ६,१ ४८— क्रीङ्जीनां णौ।

३४२. पा० ७,३,४३— रुहः पोऽन्यतरस्याम्।

३४३. पा० ७,३,३७— शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्। अन्य धातुओं के वैदिक उदाहरण मृग्य है।

३४४. पा० ७,३,४०— भियो हेतुभये षुक्।

३४५. पा० ७,३,३२—हनस्तोऽचिण्णलोः।

३४६. पा० ३,१,५१— नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः।

३४७. पा० ३,१,७— धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा।

३४८. पा० ६,१,९— सन्यङोः।

३४९. पा० ६,१,२— अजादेर्द्वितीयस्य।

३५०. पा० ७,४,७९— सन्यतः।

३५१. पा० ७,२,१२— सनि ग्रहगुहोश्च।

३५२. पा० ६,४,१४— अज्झनगमां सनि।

३५२क. पा० ७,१,१०२— उदोष्ठ्यपूर्वस्य।

३५३. पा० ७,४,५८— अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।

३५४. पा० ७,४,५४— सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् । √मी, √मा तथा √पत् (अनिट्) के वैदिक उदाहरण नहीं मिले हैं ।

३५५. पा० ७,४,४९— सः स्यार्धधातुके ।

३५६. पा० ७,४,५५— आप्ज्ञप्यृधामीत् । √ज्ञपि का वैदिक उदाहरण नहीं मिला है ।

३५७. पा० ७,४,५६— दम्भ इच्च ।

३५८. पा० ७,४,५७— मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा ।

३५९. पा० ६,४,४२— जनसनखनां सञ्झलोः ।

३६०. पा० ३,१,५-६—गुप्तिज्किद्भ्यः सन् । मान्वधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य ।

३६१. पा० ३,१,७ (टि० ३४७) पर वार्तिक— आशङ्कायां सन् वक्तव्यः ।

३६२. पा० ३,१,२२— धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ।

३६३. पा० २,४,७४— यङोऽचि च ।

३६४. पा० ३,१,२२ (टि० ३६२) पर वार्तिक— सूचिसूत्रिमूत्र्यटचर्त्यशूर्णोतीनां ग्रहणं यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम् (काशि०) । अन्य धातुओं के वैदिक उदाहरण अनुपलब्ध हैं ।

३६५. पा० ७,४,८२— गुणो यङ्लुकोः ।

३६६. पा० ७,४,८५— नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ।

३६७. पा० ७,४,८६— जपजभदहदशभञ्जपशां च ।

३६८. पा० ७,४,६५— दाधर्ति- दर्धर्ति- दर्धर्षि- बोभूतु- तेतिक्ते- अलर्षि- आपनीफणत्-संसनिष्यदत्-करिक्रत्-कनिक्रदत्- भरिभ्रत्- दविध्वतः- दविद्युतत् - तरित्रतः- सरीसृपतम् - वरीवृजत् -मर्मृज्य- आगनीगन्ति इति च । इस सूत्र में परिगणित मर्मृज्य (?) यङन्त है और शेष सभी रूप यङ्लुगन्त हैं । परन्तु काशि० दाधर्ति, दर्धर्ति तथा दर्धर्षि को √धृ या णिजन्त धारयति के जु० (श्लौ) या यङ्लुगन्त रूप मानती है ; और अलर्षि, तरित्रतः, सरीसृपतम्,

वरीवृजत्, तथा आगनीगन्ति को जु० के अङ्ग से (श्लौ) बने हुए रूप मानती है। काशि० के अनुसार, कनिक्रदत् √क्रन्द् का लुङ् और मर्मृज्य √मृज् का लिट् रूप है। सि० कौ० इस सम्बन्ध में काशि० का अनुकरण करती है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ये वैदिक रूप (मर्मृज्य को छोड़ कर) यङ्लुगन्त के हैं और पा० ७,४,६३ से इस सूत्र में "यङि" की अनुवृत्ति है। केवल मर्मृज्य पद वैदिकभाषा में अप्राप्य है और लिट् में भी ऐसा रूप नहीं मिलता है। प्रतीत होता है कि पाणिनि के सूत्र में शुद्ध मौलिक पाठ मर्मृज्यते (ऋ०) रहा होगा, जो स्खलन के कारण केवल मर्मृज्य रह गया। इसे लिट् का रूप मानना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि वैदिकभाषा से इस मत का समर्थन कहीं भी नहीं होता है।

३६९. पा० ७,४,६३-६४— न कवतेर्यङि। कृषेश्छन्दसि।

३७०. पा० ७,४,९०—रीगृदुपधस्य च। वार्तिक— रीगृत्वत इति वक्तव्यम्॥ पा० ७,४,९२— ऋतश्च। दे० टि० ३६८।

३७१. पा० ७,४,९१-९२— रुग्रिकौ च लुकि। ऋतश्च। दे० टि० ३६८। पा० ७,४,९१ पर वार्तिक – मर्मृज्यते मर्मृज्यमानास इत्युपसंख्यानम् (काशि०)। यद्यपि काशिका ने मर्मृज्यमानासः पाठ तथा उदाहरण दिया है, परन्तु ऋ० में उपलब्ध उदाहरण मर्मृजानासः है और मर्मृज्यमानासः का प्रयोग अप्राप्य है।

३७२. पा० ७,४,८३— दीर्घोऽकितः।

३७३. पा० ७,४,७५— निजां त्रयाणां गुणः श्लौ।

३७४. पा० ७,३,९४— यङो वा।

३७५. अवैरी तथा ग्रासमैन प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् बद्बधे को √बाध् का यङ्लुगन्त लट् मानते हैं, परन्तु सायण इसे √बध् का लिट् मानता है।

३७६ अवैरी (p. 270) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 392) योयुवे को यङ्लुगन्त लट् मानते है, परन्तु ग्रासमैन (WZR., *s.v.*, √1. yu)

इसे यङ्लुगन्त लिट् मानता है।

३७७. सायण के मतानुसार, प्र-सुर्स्रे √सृ का लिट् है और ग्रासमैन (WZR., *s.v.* √sṛ) इसे यङ्लुगन्त लिट् मानता है। परन्तु अवैरी (p. 270) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 392) इसे यङ्लुगन्त लट् मानते हैं।

३७८. ऋ० १,१२७,१० के भाष्य में सायण जोगुवे को √गु का यङ्लुगन्त लिट् मानता है। परन्तु ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् इसे यङ्लुगन्त लट् मानते हैं।

३७९. पा० ३,१,८—सुप आत्मनः क्यच्। वार्तिक छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम् (काशि०)। महाभाष्य—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्यघशब्दात् छन्दसि परेच्छायां क्यजिति।

३८०. पा० ३,१,१०—उपमानादाचारे।

३८१. पा० ३,१,१९—नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्।

३८२. पा० ३,१,११—कर्तुः क्यङ् सलोपश्च। वार्तिक—ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया (सि० कौ०)।

३८३. पा० ३,१,१२—भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः। भृश, शीघ्र, मन्द, चपल, पण्डित, उत्सुक, उन्मनस्, अभिमनस्, सुमनस्, दुर्मनस्, रहस्, रेहस्, शश्वत्, बृहत्, वेहत्, नृषत्, शुधि, अधर, ओजस्, वर्चस्।

३८४. पा० ३,१,१३— लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्।

३८५. पा० ३,१,२७—कण्ड्वादिभ्यो यक्।

३८६. रोट, ग्रासमैन तथा मोनियर विलियम्स प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इरज्य को √रज् का यङन्त मानते हैं; दे० SPW., WZR., MWD., *s.v.*। ह्विटने का मत है कि इरज्य का सम्बन्ध √ऋज् से है जिस से √अर्ज् तथा √राज् बने है; दे० Roots, pp. 15,138. वै० प० को० में इसे नामधातु माना गया है। निघण्टु २, २१ में ऐश्वर्यकर्म वाले धातुओं में और ३,११ में परिचरणकर्म

अष्टमोऽध्यायः

लकारार्थ-प्रकरणम्

३१५. संस्कृतभाषा के विकास के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस भाषा में लकारों के प्रयोग में अनेक परिवर्तन हुए हैं। प्राचीनतम वैदिक भाषा में सात लकार— लट्, लृट्, लुट्, लिट्, लङ्, लुङ् तथा लृङ्— कालवाचक (Tenses) और पांच लकार— विधिमूलक, लेट्, लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ्— क्रिया-प्रकार-वाचक (Moods) हैं। प्राचीनतम वैदिकभाषा में लुट् के स्फुट प्रयोग का अभाव है। प्राचीनतम भाषा में लिट् प्रायेण वर्तमानकाल या आसन्नभूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त होता था। परन्तु धीरे-धीरे लिट् का प्रयोग भूतकाल के अर्थ की ओर झुकता गया। अन्ततो गत्वा पाणिनि के युग में पहुंच कर लिट् का प्रयोग परोक्ष भूतकाल के अर्थ में होने लगा। इसी प्रकार लुङ् के प्रयोग में भी अनेक परिवर्तन आये। प्राचीनतम भाषा में लुङ् का प्रयोग प्रायेण आसन्न-भूत-काल के अर्थ में होता था। परन्तु पीछे चल कर ऐतिहासिक भूतकाल के अर्थ में भी इस का प्रयोग होने लगा। ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की भाषा में अनद्यतन भविष्यत् के लिये लुट् का प्रयोग और सामान्य भविष्यत् के लिये लृट् का अधिक प्रयोग होने लगा। प्राचीनतम भाषा में लेट् भविष्यत् काल के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। इस लिये लृट् का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है। लेट् का प्रयोग उत्तरोत्तर कम होता गया और अन्ततो गत्वा पूर्णतया अवसन्न हो गया। उस के स्थान पर विधिलिङ् तथा लृट् का प्रयोग बढ़ता गया।

प्राचीनतम वैदिकभाषा में लेट्, लोट् इत्यादि क्रिया-प्रकार-वाचक लकारों के रूप लट् के अतिरिक्त लिट् तथा लुङ् के अङ्गों से भी

बनते थे— आधुनिक विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है। लिट् तथा लुङ् के अङ्गों से बनने वाले क्रिया-प्रकार-वाचक रूपों का धीरे-धीरे ह्रास होता गया और उत्तरकालीन भाषा में मुख्यतया लट् के अङ्ग से बनने वाले क्रिया-प्रकार-वाचक रूप शेष रह गये। प्राचीनतम भाषा में विधिमूलक तथा लेट् का प्रचुर प्रयोग मिलता है और इन की तुलना में विधिलिङ् का प्रयोग अल्पतर है। परन्तु काल-क्रम के साथ-साथ विधिमूलक तथा लेट् का प्रयोग कम होता गया और विधिलिङ् का प्रयोग उन के स्थान पर बढ़ता गया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार जो रूप लोट् के माने जाते हैं उन में से उत्तमपुरुष के तीनों वचनों के रूप, आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, लेट् के है, और प्र० पु० द्वि०, म० पु० द्वि० तथा म० पु० ब० के रूप विमू० के हैं। केवल प्र० पु० ए०, प्र० पु० ब० तथा म० पु० ए० के रूप रूप लोट् के अपने माने जाते हैं।

लकारों के प्रयोग का विवेचन वास्तव में संस्कृत के विकास तथा परिवर्तन का इतिहास है।

३१६. **लट् का प्रयोग**— लट् के प्रयोग में कोई विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं मिलता है। और उत्तरकालीन संस्कृत के समान प्राचीन भाषा में भी लट् वर्तमान काल का बोध कराता है[1]; यथा— अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ० १,१,१) "मैं अग्नि की स्तुति करता हूं"।

इस के अतिरिक्त गौणरूप में लट् कहीं-कहीं भूतकाल का भी बोध कराता है[2]; यथा— पु॒रु॒त्रा वृ॒त्रो अ॑शय॒द् व्य॑स्तः॥ ···अ॒मु॒या शया॑-न॒म्...अति॑ य॒न्त्याप॑ः॥ (ऋ० १,३२,७-८) "वृत्र बहुत से स्थानों पर बिखरा पड़ा था। पड़े हुए (वृत्र) के ऊपर से जल बहते थे"। लट् कहीं-कहीं गौणरूप से भविष्यत्काल को भी प्रकट करता है (टि० २); यथा— अ॒हम॑पि॒ ह॒न्मीति॑ होवाच (श० ब्रा० ४,१,४,८) "उस ने कहा 'मैं भी मारूंगा'"। इन्द्रश्च रुशमा चांशं प्रास्येताम्— "यतरो नौ पूर्वो भूमिं पर्येति स जयति" इति (पं० ब्रा० २५,१३,३) "इन्द्र और रुशमा ने होड़ लगाई— हम दोनों में से जो पहले भूमि की परिक्रमा करेगा वही जीतेगा"।

पुरा के साथ लट्— पुरा "पहले" निपात के साथ लट् भूतकाल का बोध कराता है[3]; यथा— अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित् (ऋ० १,१०५,७) "(हे देवताओ !) मैं वही हूं जिस ने पहले, सोम का रस निकाले जाने पर, कुछ (स्तोत्र) कहे थे"।

स्म पुरा के साथ लट्— स्म पुरा निपातों के साथ लट् भूतकाल में (प्रायेण प्राचीन काल में) होने वाली घटना का बोध कराता है[4]; यथा— संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति (ऋ० १०,८६,१०) "प्राचीन काल में नारी सामूहिक यज्ञ (सभा या संग्राम) में जाया करती थी"।

ह स्म पुरा के साथ लट्— ब्राह्मणों में इसी भूतकालिक अर्थ को प्रकट करने के लिये ह स्म पुरा इन तीनों निपातों के समूह के साथ लट् का प्रयोग मिलता है; यथा— न ह स्म वै पुराऽग्निरपरशुवृक्णं दहति (तै० सं० ५,१,१०,१; मै० सं०, का० सं०) "प्राचीन काल में अग्नि कुल्हाड़े द्वारा न काटे गये (इन्धन) को नहीं जलाती थी"।

ह स्म के साथ लट्— अधिकतर ब्राह्मण-प्रयोगों में केवल ह स्म निपातों के साथ लट् का प्रयोग भूतकाल का बोध कराता है (टि० ४) और ऐसे प्रयोगों में √ब्रू के लट् के रूप आह इत्यादि (अनु०२३६.११) का प्रचुर प्रयोग मिलता है; यथा— एतद्ध स्म वा आह नारदः (मै० सं० १,५,८) "नारद ने यह कहा", सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते (श० ब्रा० २,१,२,४) "सप्तर्षि तारों को पहले ऋक्ष (रीछ) नाम से पुकारते थे"।

३१७. **लङ् का प्रयोग**— लङ् के रूप लट् के अङ्ग से बनते हैं। अडागम-सहित तथा अडागमरहित लङ् के रूप अनद्यतन भूतकाल का बोध कराते हैं[5]। प्रायेण भूतकालिक घटनाओं का वर्णन करने के लिये लङ् का प्रयोग किया जाता है; यथा— अजनयत्सूर्यम् (ऋ० २,१९,३) "(इन्द्र ने) सूर्य को उत्पन्न किया", यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्

(ऋ० २,१२,३) "जिस (इन्द्र) ने वृत्र को मार कर सात नदियों को बहाया"।

पुरा के साथ लङ्— भूतकालिक घटनाओं का वर्णन करने के लिये पुरा निपात के साथ भी लङ् का प्रयोग किया जाता है; यथा— तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम् (ऋ० १,१०३,१) "(हे इन्द्र) कवियों ने प्राचीन काल में तुम्हारे उस परम बल को धारण किया"।

पाणिनि के मतानुसार, वैदिकभाषा में अनद्यतनभूत से भिन्न काल में भी लङ्, लुङ् तथा लिट् का प्रयोग होता है[१]। इस मत के समर्थन में काशिका तथा सि० कौ० में मै० सं० से निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है— अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः (मै० सं० ४,१३, ९) "आज इस यजमान ने अग्नि को होता चुना है"। यह एक विरल प्रयोग है। सामान्यतया अनद्यतन भूतकालिक घटनाओं के वर्णन में लङ् का प्रयोग होता है।

३१८. **लिट् का प्रयोग**— पाणिनि के मतानुसार, लिट् का प्रयोग अनद्यतन परोक्षभूतकाल का बोध कराने के लिये होता है[२]। परन्तु प्राचीन वैदिकभाषा में कहीं-कहीं लिट् का प्रयोग लङ् के साथ-साथ भूतकालिक घटनाओं का वर्णन करने के लिये किया जाता है; यथा— अहन्नहिमन्वपस्ततर्द (ऋ० १,३२,१) "(इन्द्र ने) वृत्र को मारा और तत्पश्चात् जलों को मुक्त किया", नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार (ऋ० १,३२,९) "जब वृत्र की माता नीचे झुकी, इन्द्र ने उस के (हनन के लिये) आयुध का ग्रहण किया"।

ऋ० में लिट् का अधिकतर प्रयोग, लट् के साथ-साथ, वर्तमानकाल को प्रकट करने के लिये किया जाता है; यथा— उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् (ऋ० १०,७१,४) "एक वाणी को देखते हुए भी नही देखता है और दूसरा इसे सुनते हुए भी नहीं सुनता है", न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे

(ऋ० १,११३,३) "समान मन वाली और भिन्न रूपों वाली, स्थिर उषा तथा रात्रि न परस्पर विरोध करती हैं और न रुकती हैं", क्वे॒दानीं सूर्यः कश्चिकेत (ऋ० १,३५,७) "अब सूर्य कहां है, कौन जानता है"।

लिट् के ऐसे वैदिक प्रयोगों का समाधान करने के लिये भारतीय भाष्यकार प्रायेण पाणिनीय सूत्र (टि० ६) का सहारा लेते हैं, जिस के अनुसार वैदिकभाषा में लिट् का प्रयोग विभिन्न कालों में होता है। परन्तु मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इस स्थिति के लिये भिन्न समाधान प्रस्तुत करते है। मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 341) के मतानुसार, लिट् उस अवस्था को अभिव्यक्त करता है जिसे कर्ता ने पूर्ववर्ती कार्य के परिणाम-स्वरूप प्राप्त किया है। मैक्डानल का कथन है कि यदि वह (पूर्ववर्ती) कार्य (जो प्रायेण पुनरावृत्त या निरन्तर होता है) वर्तमान-काल में भी जारी रहे, तो लिट् के रूप का अनुवाद वर्तमानकाल के अर्थ में किया जाता है; परन्तु यदि ऐसे (पूर्ववर्ती) कार्य को वर्तमान-काल से पूर्व समाप्त माना जाय, तो लिट् के रूप का अनुवाद आसन्न भूतकाल (Present Perfect) के अर्थ में किया जाता है। पु॒रा "पहले" तथा नू॒नम् "अब" इन दोनों निपातों के साथ लिट् उपर्युक्त दोनों अर्थों को प्रकट करता है; जैसे— पु॒रा नू॒नं च॑ स्तु॒तय॒ ऋषी॑णां पस्पृ॒ध्रे (ऋ० ६,३४,१) "ऋषियों की स्तुतियों ने पहले परस्पर स्पर्धा की है और अब (भी करती है)"। इन निपातों के बिना भी लिट् उपर्युक्त अर्थों को अभिव्यक्त करता है; यथा— न भो॒जा म॑म्रुः (ऋ० १०,१०७,८) "दानी लोग न मरे हैं (और न मरते हैं)"। लिट् के जो रूप केवल भूतकालिक कार्य का सारांश बताते है और वर्तमान-काल का वर्जन करते हैं, उन रूपों का अनुवाद आसन्न भूतकाल के अर्थ में किया जा सकता है; यथा— यत्सी॒मागश्चकृ॒मा तत्सु मृ॑ळतु (ऋ० १,१७९,५) "हम ने जो कोई पाप किया है उसे वह क्षमा करे"।

लिट् के वर्तमानकालिक प्रयोग के सम्बन्ध में टी० बरो (Skt. Lg., p. 297) का मत है कि लिट् मूलतः वर्तमानकालिक लकार का एक विशेष भेद है और भूतकालिक लकार नहीं है, और ऐसे प्रयोगों में लिट् के रूपों का अनुवाद अंग्रेजी भाषा के वर्तमानकालिक लकार (the English present) के द्वारा किया जाता है। बरो का मत है कि भूतकालिक लकार के रूप में लिट् का विकास दो अवस्थाओं (stages) में हुआ है जिन का प्रतिनिधित्व वैदिकभाषा में मिलता है। पहली विकासावस्था में लिट् क्रिया की उस अवस्था को प्रकट करता है जिस में क्रिया पहले से ही हो चुकी है। ऐसे लिट् का अनुवाद आसन्नभूत-काल के द्वारा किया जाता है। (ऐसे उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है)। दूसरी विकासावस्था में लिट् का भूतकालिक अर्थ प्रधान हो गया है और ऐसे लिट् का प्रयोग लङ् के प्रयोग के समान भूतकालिक घटनाओं के वर्णन में होता है (दे० ऊपर दिये गये उदाहरण)।

ब्राह्मणों में कहीं-कही लिट् वर्तमानकाल के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा— यत्सायं जुहोति रात्र्यै तेन दाधार (मै० सं० १,८,१) 'जब वह सायंकाल में होम करता है उस से रात्रि के लिये अग्नि को धारण करता है"। इसी प्रकार दीदाय (√दी) "चमकता है", दुद्राव (√द्रु) "भागता है", योयाव (√यु) 'दूर हटाता है", बीभाय तथा बिभाय (√भी) "डरता है", इत्यादि रूपों का प्रयोग वर्तमानकाल के अर्थ में मिलता है। परन्तु ब्राह्मणों में लिट् अधिकतर भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा— एतां ह वै यज्ञसेनश्चैत्रियायणश्चितिं विदां चकार (तै० सं० ५,३,८,१) "यज्ञसेन चैत्रियायण ने अग्निचयन की इस विधि को जाना"। ऐ० ब्रा० (६-८) तथा श० ब्रा० (१-५,११,१२, १४) में लङ् के समान ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करने के लिये लिट् का प्रयोग मिलता है; यथा— देवाश्चासुराश्च पस्पृधिरे "देवों और असुरों ने परस्पर संघर्ष किया"। ऐ० ब्रा० तथा श० ब्रा० में लिट् का ऐसा प्रयोग पर्याप्त है। परन्तु अन्य ब्राह्मणों में लिट् का

प्रयोग अल्प है और लङ् का प्रचुर प्रयोग मिलता है; यथा पं० ब्रा० में लङ् का प्रयोग लिट् के प्रयोग से सौ गुणा से अधिक है। मै० सं० तथा तै० सं० के ब्राह्मणभाग और तै० ब्रा० में लङ् का प्रयोग लिट् की तुलना में ३४ गुणा से अधिक है । ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करने के लिये लङ् के समान लिट् का प्रयोग करने की प्रवृत्ति उत्तर-कालीन है और यह प्रवृत्ति उत्तरकालीन भाषा में बढ़ती गई।

३१९. **अतिलिट् (Pluperfect) का प्रयोग**— जैसा कि हम अनु० २५७ में स्पष्ट कर चुके हैं, अतिलिट् की रूप-रचना के सम्बन्ध में अनेक मतभेद है। प्रयोग की दृष्टि से लङ् तथा अतिलिट् में कोई निश्चित भेद नहीं है और इन दोनों का अर्थ लगभग समान है; यथा— **अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन** (ऋ० १०,७२,७) "(हे देवो !) तुम समुद्र में छुपे हुए सूर्य को लाये"।

३२०. **लुङ् का प्रयोग**—पा० (३,२,११०) के अनुसार, सामान्य भूतकाल का बोध कराने के लिये लुङ् का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन वैदिक भाषा में लुङ् आसन्नभूतकाल (Present Perfect) को प्रकट करता है अर्थात् लुङ् से उस क्रिया का बोध होता है जो समीप भूतकाल में पूरी हो चुकी है; यथा—चित्रं देवानामुदगादनीकम् (ऋ० १,११५, १) "देवताओं का चमकता हुआ मुख (सूर्यमण्डल) ऊपर आ गया है", एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि (ऋ० १,१२४,३) "यह द्युलोक की पुत्री सामने दीख पड़ी है"।

ब्राह्मणों में भी लुङ् इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा— ततो ह गन्धर्वाः समूदिरे— 'ज्योग्वा इयमुर्वशी मनुष्येष्ववात्सीत्' (श० ब्रा० ११,५,१,२) "तब गन्धर्वों ने कहा— यह उर्वशी चिरकाल तक मनुष्यों के बीच रह चुकी है"। ब्रा० में पुरा "पहले" निपात के साथ लुङ् का प्रयोग प्राचीन भूतकालिक घटनाओं का वर्णन करने के लिये किया जाता है (टि० ३); अव्युष्टयै वा एतस्यै पुरा ब्राह्मणा अभैषुः (तै० सं० १,५,७,५) "ब्राह्मण प्राचीन काल में उषा के प्रकट न होने के बारे में डरते थे"।

३२१. **लृट् का प्रयोग**— प्राचीन वैदिकभाषा में लृट् का प्रयोग अल्पतर है। उदाहरणार्थ— ऋ० में ९ धातुओं से बने हुए केवल १७ तिङन्त रूप लृट् के हैं और अ० में २५ धातुओं से केवल ५० तिङन्त रूप लृट् में बनते हैं। परन्तु तै० सं० में लगभग ६० धातुओं से लृट् के रूप बनते हैं और ब्रा० में लृट् के रूपों की संख्या बढ़ती गई है। इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का मत है कि ऋ० तथा अ० में लेट् अंशतः लृट् के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस लिये लृट् का प्रयोग कम है। ज्यों-ज्यों लेट् का प्रयोग घटता गया, त्यों-त्यों लृट् का प्रयोग बढ़ता गया।

लृट् सामान्य भविष्यत् को प्रकट करता है[८], और कहीं-कहीं लेट् के समान वक्ता की इच्छा का भी बोध कराता है; यथा— **स्तुविष्यामि त्वामहम्** (ऋ० १,४४,५) "मैं तुम्हारी स्तुति करूंगा"; **न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते** (ऋ० १,८१,५) "हे इन्द्र, तुम्हारे सदृश न कोई हुआ, न होगा"।

ब्रा० में प्रायेण कहना, जानना, सोचना, डरना, इत्यादि अर्थ वाले धातुओं के पश्चात् लृट् के रूपों का प्रयोग मिलता है; यथा— **सोऽब्रवीत्— 'इदं मयि वीर्यं तत्ते प्र दास्यामि'** (तै० सं० २,४,१२, ३–४) "उस ने कहा— 'मेरे में यह वीरता है इसे मै तुम्हें दूंगा"; **इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे— 'महद्वा इतोऽभ्वं जनिष्यते'** (श० ब्रा० ३,२, १,२६) "इन्द्र ने विचार किया— 'इस से बड़ी बुराई उत्पन्न होगी'"।

३२२. **लुट् का प्रयोग**— पाणिनि के मतानुसार, अनद्यतन (आज से भिन्न) भविष्यत्काल के अर्थ में लुट् का प्रयोग होता है[१]। यद्यपि वेदों के मन्त्र-भाग में लुट् के निश्चित प्रयोग का अभाव है, तथापि ब्रा० में लुट् का जो प्रयोग उपलब्ध होता है उस से स्पष्ट है कि अनद्यतन भविष्यत् में किसी विशेष समय पर होने वाले या निश्चित रूप से होने वाली क्रिया को प्रकट करने के लिये लुट् का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण— यदि पुरा संस्थानाद् दीर्येत 'अद्य वर्षिष्यतीति' ब्रूयाद्, यदि संस्थिते

श्वो व॒र्ष्टेति॑ ब्रूयात् (मैं० सं० २,१,८) "यदि यज्ञ की समाप्ति से पूर्व यज्ञ-पात्र टूट जाये, तो यह कहना चाहिए 'आज वर्षा होगी'। यदि यज्ञ की समाप्ति पर (टूटे), तो कहना चाहिए 'कल वर्षा होगी'"; इ॒त्यु॒हे वः॑ प॒क्तास्मि॑ (श० ब्रा० ३,३,४,१७) "अमुक दिन मैं आप के लिये पकाऊंगा", औ॒घ इ॒माः सर्वाः॑ प्र॒जा निर्वो॑ढा तत॑स्त्वा पारयि॒ता-स्मीति॑ (श० ब्रा० १,८,१.२) "जल-प्लावन सब लोगों को बहा ले जाएगा, मैं तुम्हें उस से बचाऊंगा (पार करूंगा)"; यर्हि वाव वो मया-ऽर्थो भविता तर्ह्येव वोऽहं पुनरागन्ताऽस्मीति (ऐ० ब्रा० १,२७) "जब तुम्हें मेरे से कोई काम होगा, तब मैं पुनः तुम्हारे पास आ जाऊंगा"।

३२३. **लृङ् का प्रयोग** – पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, जब किसी निमित्त से क्रिया की सिद्धि नहीं होती, तब भविष्यत् तथा भूतकाल के अर्थ में लृङ् का प्रयोग होता है[१०]। मैक्डानल के मतानुसार, लृङ् लृट् का भूतकालिक लकार है[११], जिस का अर्थ है "ऐसा हुआ होता"। आधुनिक विद्वान् लृङ् के लिये नैमित्तिक (Conditional) लकार की संज्ञा का प्रयोग करते है। लृङ् के जो प्रयोग मिलते हैं उन में मुख्यतया यह बतलाया जाता है कि अमुक क्रिया हो गई होती, यदि उस के लिये उपयुक्त निमित्त उपस्थित होता।

ऋ० में लृङ् का केवल एक प्रयोग मिलता है— यो वृ॒त्राय॒ सिन॒-मत्राभ॑रिष्य॒त्प्र तं जनि॑त्री वि॒दुष॑ उवाच (ऋ० २,३०,२) "जो वृत्र के लिये यहां पर अन्न ले जाता, उस को जननी ने विद्वान् (इन्द्र) के लिये बताया"। ब्रा० में लृङ् के कुछेक प्रयोग मिलते हैं; यथा— शतायुं गामकरिष्यम् (ऐ० ब्रा० ६,३३) "मैं गाय को सौ वर्ष की आयु वाली बना देता"; स त॒दे॑व नावि॑न्दत्प्र॒जाप॑ति॒र्यद॒हो॑ष्यत् (मैं० सं० १,८,१) "प्रजापति को वह (स्थान) नही मिला जहां वह होम करता"; स वै तं नावि॑न्दु॒द्यस्मै॒ तां दक्षि॑णा॒मने॑ष्यत् (तै० ब्रा० ३,११,८,७) "उसे कोई व्यक्ति नहीं मिला जिस के लिये वह दक्षिणा ले जाता"; स य॒द्धै॒ताव॑द्दे॒-वाभ॑विष्य॒द्याव॑त्यो हैवाग्रे॑ प्र॒जाः सृ॒ष्टास्ताव॑त्यो हैवाभ॑विष्य॒न्न प्राजनि-

ष्यन्त (श० ब्रा० ४,३,१,२५) "यदि वह उतना ही होता तो जितनी प्रजा पहले उत्पन्न की गई थी उतनी ही रहती और आगे प्रजा उत्पन्न न होती"।

३२४. विधिमूलक लकार (Injunctive) का प्रयोग— जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं (अनु० २१६), लङ्, लुङ् तथा अतिलिट् (Pluperfect) के जो अडागमरहित रूप भूतकालवाचक नहीं हैं अपितु क्रिया की अवस्था का बोध कराते हैं, उन्हें विमू० लकार के रूप मानते हैं। पा० ने भी अडागमरहित ऐसे रूपों की विशेषता को स्वीकार किया है, परन्तु उस ने केवल मा "मत" निपात के साथ ऐसे रूपों के प्रयोग का उल्लेख किया है[१२]।

वैदिकभाषा में मा "मत" निपात के विना भी ऐसे रूपों के वहुत से प्रयोग मिलते है (टि० १२)। रूप-रचना की दृष्टि से विमू० की अपनी कोई विशेपता नहीं है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि भापा-विकास की दृष्टि से विमू० की रचना प्राचीनतम है। इस का अडागमरहित रूप मौलिक रहा होगा, जो प्रसंग के अनुसार क्रिया के काल या प्रकार का वोध कराता था। प्रारम्भ में, प्रसंग के अनुसार, भूतकाल का वोध भी अडागम के विना हो जाता था; और अडागम मूलतः एक स्वतन्त्र शब्द होता था जो भूतकाल का वोध कराने के लिये क्रियाओं के साथ प्रयुक्त किया जाता था। कालान्तर में अडागमयुक्त रूप भूतकाल में प्रयुक्त किये जाने लगे और शेष अडागमरहित रूप लोट् में मिला दिये गये; यथा—प्र० पु० द्वि०, म० पु० द्वि० तथा म० पु० व० के रूप लोट् के रूप वन गये। विमू० के कुछ रूप लेट् के रूपों के समान है; यथा—प्र० पु० ए० गमत्। केवल प्रसंग से ऐसे रूपों के बारे में निर्णय किया जा सकता है कि ये विमू० या लेट् या अडागम-रहित भूतकालवाचक रूप हैं।

१. भविष्यत् के अर्थ में विमू०— प्राचीनभापा में कहीं-कहीं विमू० लेट् की भांति भविष्यत् के अर्थ में प्रयुक्त होता है ; यथा— को नो मह्या

अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् (ऋ० १,२४,१) "अदिति के लिये मुझे पुनः कौन प्रदान करेगा ?" इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चम् (ऋ० १,३२,१) "मैं इन्द्र की वीरताओं का वर्णन करूंगा"।

२. **प्रार्थना तथा उपदेश आदि के अर्थ में विमू०**— अधिकतर वैदिक प्रयोगों में विमू० लोट् के अर्थों (प्रार्थना, उपदेश करना इत्यादि) में आता है और इस के साथ कहीं-कहीं लोट् के रूपों का भी प्रयोग मिलता है; यथा— अ॒द्या नो॑ देव सवितः प्र॒जाव॑त्सावी॒ः सौभ॑गम्। परा॑ दुः॒ष्वप्न्यं॑ सुव (ऋ० ५,८२,४) "हे सविता देवता ! आज हमारे लिये सन्तानयुक्त सौभाग्य को प्रेरित करो, बुरे स्वप्न को दूर हटाओ"; सेमां॑ वे॑तु॒ वष॑ट्कृतिम॒ग्निर्जु॑षत॒ नो॒ गिर॑ः (ऋ० ७,१५,६) "वह इस वषट्कार के पास आये, अग्नि हमारी स्तुतियों का सेवन करे"; इ॒मा ह॒व्या जु॑षन्त नः (ऋ० ६,५२,११) "वे हमारी इन आहुतियों का सेवन करें"।

निषेधवाचक वाक्यों में मा "मत" निपात के साथ केवल विमू० का प्रयोग मिलता है (टि० १२); यथा— मा न॑ इन्द्र॒ परा॑ वृणक् (ऋ० ८,९७,७) "हे इन्द्र, हमारा परित्याग मत करो"।

३. **इच्छा की अभिव्यक्ति में विमू०**— वैदिकभाषा में कहीं-कहीं विमू० इच्छा को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होता है; यथा— अ॒ग्निं हि॑न्वन्तु॒ नो॒ धिय॒ः सप्ति॑मा॒शुमि॑वा॒जिषु॑। तेन॑ जेष्म॒ धनं॑धनम् (ऋ० १०,१५६,१) "युद्धों में तेज घोड़े की भांति अग्नि को हमारी स्तुतियां प्रेरित करें, जिस से हम धन ही धन जीतें"; उ॒र्वश्या॒मभ॑यं॒ ज्योति॑रिन्द्र॒ मा नो॑ दी॒र्घा अ॒भि न॑श॒न्तमि॑स्राः (ऋ० २,२७,१४) "हे इन्द्र, मैं विशाल तथा भयरहित प्रकाश को प्राप्त करूं, लम्बी अन्धेरी रातें हमारे पास न पहुंचें"।

ब्रा० में विमू० का प्रयोग मुख्यतया मा "मत" निपात के साथ मिलता है; यथा— मा व॑धध्वम् (तै० सं०) "मत मारो"; मा बिभीत (ऐ० ब्रा०) "मत डरो"। उत्तरकालीन भाषा में विमू० का प्रयोग केवल मा "मत" निपात के साथ मिलता है।

३२५. **लेट् का प्रयोग**— पा० ने लेट् के प्रयोग के सम्बन्ध में दो सूत्र बनाये हैं। पहले सूत्र में पा० कहता है कि लिङ् के अर्थ में लेट् का प्रयोग होता है[13], और दूसरे सूत्र में पाणिनि का कथन है कि **उपसंवाद** तथा आशंका में लेट् आता है[14]। आशंका का अर्थ स्पष्ट है। उपसंवाद के अर्थ के सम्बन्ध में काशि० इत्यादि का मत है कि किसी कार्य को करने के लिये शर्त रखना (**कर्तव्ये पणबन्धः**) उपसंवाद है। और इस को स्पष्ट करने के लिये काशि० में निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं— **सोऽब्रवीद् "वार्यं वृणा अहमेव पशूनामीशै"** इति (का० सं० २५,१) "रुद्र ने (देवताओं से) कहा 'मैं (इस कार्य को करने के लिये) वर वरूंगा कि मैं ही पशुओं का स्वामी बनूं' "; **सोऽब्रवीद् "वरं वृणै मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै"** इति (तै० सं० ६,४,७; तु० मै० सं० ४,५,८; का० सं० २७,३) "वायु ने (देवताओं से) कहा 'मैं (वृत्र को मारने के लिये) वर वरूंगा कि मेरे सोम के ग्रह (पात्र) को सब से आगे रखते हुए तुम्हारे सोम के ग्रह लिये जाया करेंगे"; **सोऽब्रवीद् "वरं वृणै मद्देवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै"** इति (तै० सं० ६, ४,७; तु० मै० सं) "वायु ने (देवताओं से) कहा 'मैं (वृत्र के शव को तुम्हारे लिये अच्छा बनाने के लिये) वर वरूंगा कि तुम्हारे पात्रों का देवता मैं कहलाऊंगा' "। आशंका में लेट् का प्रयोग दिखाने के लिये काशि० तथा सि० कौ० ने यह उदाहरण दिया है— **नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम** (ऋ० खिल १०,१०६,१ तथा निरुक्त १,११ में जिह्मायन्त्यः पाठ मिलता है) "ऐसा न हो कि हम कुटिल आचरण करते हुए नरक में गिरें"।

आधुनिक विद्वान् पा० के इस मत को स्वीकार नहीं करते है कि लिङ् के अर्थ में लेट् का प्रयोग होता है (टि० १३), क्योंकि कुछ समानताएं होते हुए भी लिङ् और लेट् का प्रयोग-क्षेत्र भिन्न है। इस सम्बन्ध में मैक्डानल का मत है (Ved. Gr. Stu., p. 352) कि विलि० के साथ लेट् का विरोध दिखलाने से लेट् का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है। मैक्डानल कहता है (वही, पृ० ३५२) कि लेट्

का मूल अर्थ आकूति (will) है, जब कि विलि० का मूल अर्थ इच्छा या सम्भावना है। मैक्डानल के मतानुसार, लेट् और विलि० का यह भेद इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि उत्तम पुरुष में लेट् का प्रयोग प्रायेण उन धातुओं के साथ मिलता है जिन की क्रिया को करना वक्ता की आकूति के अधीन है, यथा √हन् "मारना", √कृ "करना", √सु "रस निकालना", √ब्रू "कहना"; जब कि उत्तम पुरुष विलि० का प्रयोग प्रायेण ऐसे धातुओं के साथ मिलता है जिन की क्रिया को सम्पन्न करना वक्ता की आकूति के अधीन नहीं है, अपितु सम्भव है यथा— √जि "जीतना", √तॄ "अधीन करना", √सह् 'अभि-भूत करना", √अश् तथा √नश् "प्राप्त करना", √विद् ' पाना", √ईश् "स्वामी होना", √सच् "संयुक्त होना", √शक् "समर्थ होना", √ऋध् "समृद्ध होना" इत्यादि।

यद्यपि कहीं-कहीं लेट् तथा विलि० के प्रयोग में कुछ समानताएं अवश्य है, तथापि लिङ् के अर्थ में लेट् का प्रयोग मानने से अतिव्याप्ति-दोष आता है। प्राचीन वैदिकभाषा में विलि० की तुलना में लेट् का प्रयोग अधिक था। परन्तु लेट् का प्रयोग क्रमशः कम होता गया और विलि० का प्रयोग बढ़ता गया। अन्ततो गत्वा लेट् का प्रयोग लुप्त हो गया और विलि० का प्रयोग व्यापक हो गया। प्राचीन वैदिक भाषा में लेट् और विलि० के प्रयोग में अवश्य अन्तर है, जैसा कि दोनों लकारों के प्रयोग की तुलना से स्पष्ट है।

विमू० तथा लेट् में प्रयोग की अनेक समानताएं हैं। प्रयोग की इन समानताओं के कारण, ह्विटने (Skt. Gr., p. 211, article 563) विमू० (Injunctive) को लेट् से पृथक् नही मानता है और इसे लेट् का विशेष भेद मानते हुए विमू० के लिये लङ्मूलक लेट् (Imperfect Subjunctive) तथा अनियमित लेट् (Improper Subjunctive) संज्ञाओं का प्रयोग करता है। इस सम्बन्ध में बरो (Skt. Lg., p. 2?9) का मत है कि रूपरचना की दृष्टि से एक विशेष

प्रकार के विमू० के विकास से लेट् का प्रादुर्भाव हुआ है; अत एव प्रयोग की दृष्टि से विमू० और लेट् में साधारण समानता है। विमू० की भांति लेट् का प्रयोग भी (१) भविष्यत् में, (२) आदेश, उपदेश, प्रार्थना इत्यादि के अर्थ में, (३) और इच्छा की अभिव्यक्ति में होता है। ऐसी साधारण समानताओं के होते हुए भी विशेष अन्तर यह है कि प्राचीन वैदिकभाषा में लेट् मुख्यतया भविष्यत् के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मा "मत" निपात के साथ प्रायेण विमू० का प्रयोग मिलता है। इस के अतिरिक्त विमू० का प्रयोग केवल निराकांक्ष (स्वतन्त्र) वाक्यों में मिलता है। परन्तु लेट् का प्रयोग निराकांक्ष वाक्यों के अतिरिक्त, यद्, यदि, यदा इत्यादि अव्ययों के साथ साकांक्ष (परतन्त्र) वाक्यों में भी मिलता है।

उपर्युक्त अर्थों में लेट् के प्रयोग के हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते है।

(१) **भविष्यत् में लेट्**— भविष्यत् में लेट् के प्रयोग के जो उदाहरण मिलते है उन में से अधिकतर रूप उत्तम पुरुष के है, और कुछेक रूप प्रथम पुरुष के भी है। परन्तु मध्यम पुरुष मे ऐसे प्रयोग के उदाहरण अत्यल्प हैं। भविष्यत् मे लेट् प्रायेण नु तथा हन्त निपातों के साथ प्रयुक्त होता है। वैदिक मन्त्रों तथा ब्रा० मे लेट् के इस प्रयोग के उदाहरण उपलब्ध होते है; यथा— प्र नु वोंचा सुतेषु वाम् (ऋ० ६, ५९,१) "सोमों का रस निकालने पर मैं तुम दोनों (इन्द्राग्नी) की स्तुति करूंगा"; यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे (ऋ० ८, ९३,५) "हे वर्धनशील सत्पते (इन्द्र) यदि तुम मानते हो 'मैं नहीं मरूंगा' "; जेषामिन्द्र त्वया युजा (ऋ० ८,६३,५) "हे इन्द्र, हम तुझ साथी के द्वारा जीतेंगे"; वरं वृणै (तै० सं० ६,४,७) "मैं वर वरूंगा"; हन्तेमान्भीषयै (ऐ० ब्रा० ३,२०) "अच्छा मैं इन्हे डराऊंगा"; उवासोषा उच्छाच्च नु (ऋ० १,४८,९) "उषा (पहले) चमकी है और अब चमकेगी"; आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि (ऋ० १०,१०,१०) "पीछे ऐसे युग (काल) आएंगे जब

उत्तम पुरुष में निम्नलिखित रूप वनेंगे जो मूलतः लेट् के हैं—

	ए०	द्वि०	व०
परस्मैपद—	भवानि ;	भवाव ;	भवाम ।
आत्मनेपद—	भवै ;	भवावहै ;	भवामहै ।

लोट् ने विमू० से जो रूप लिये हैं उन के लिये √भू के निम्नलिखित उदाहरण दिये जा सकते हैं—

परस्मैपद— प्र० पु० ए०— भवेताम् ; म० पु० द्वि०— भवेतम् ; व०— भवेत ।

आत्मनेपद— प्र० पु० ए०— भवेताम् ; म० पु० द्वि०— भवेथाम् ; व०— भवेध्वम् ।

पूर्वोक्त कथन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि प्रयोग की दृष्टि से कुछ अंशों में विमू० तथा लेट् के साथ लोट् की विशेष समानता रही है जिस के कारण विमू० तथा लेट् के कुछ रूप लोट् में अपना लिये गये । इस विषय में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि केवल "आदेश, उपदेश, प्रार्थना तथा इच्छा" के अर्थों को अभिव्यक्त करने में लोट् का प्रयोग विमू० तथा लेट् के समान है । लोट् का प्रयोग केवल इन्हीं अर्थों की अभिव्यक्ति में होता है, जब कि विमू० तथा लेट् का प्रयोग इन के अतिरिक्त भी मिलता है ।

वैदिक मन्त्रों तथा ब्रा० में लोट् के इस प्रकार के प्रयोग के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । कुछेक उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं ।

१. **आदेश, उपदेश तथा प्रार्थना में लोट्**— अग्ने सूपायनो भव (ऋ० १,१,९) "हे अग्ने, (हमारे लिये) सुखपूर्वक प्राप्त होने वाले वनो"; तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋ० १,२,१) "(हे वायो) उन की रक्षा करो, हमारी पुकार सुनो"; अस्मे धेहि श्रवो वृहद् (ऋ० १,९,८) "(हे इन्द्र) हमें विशाल यश दीजिये"; इमं स्तोमं जुषस्व नः (ऋ० १,१२,१२) "हमारी इस स्तुति का सेवन कीजिये"; वर्हिः सीदन्त्वस्रिधः (ऋ० १,१३,९) "शत्रुरहित (देवियां) कुशाओं पर वैठें"; ते ते पिवन्तु जिह्वया (ऋ० १,१४,८) "हे अग्ने, वे (देवता) तुम्हारी जिह्वा से

पीयें"; इमान्यस्य शीर्षाणि छिन्धि (मै० सं० २,४,१) "इस के इन सिरों को काटो"; वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व (श० ब्रा० १,८,१,६) "वृक्ष से नाव को बांधो"।

२. **आशीर्वाद तथा इच्छा में लोट्**– शतं च जीव शरदः (अ० २,१३,३) "और तुम सौ वर्ष तक जीवित रहो"; गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु (अ० २,३६,३) "यह सौभाग्यवती नारी पति को प्राप्त करके राज्य करे"; त्वां वर्धन्तु नो गिरः (ऋ० १,५,८) "हमारी स्तुतियां तुम्हें बढ़ायें"।

३२७. **लोट् के अर्थ में लट् के रूप**— ऋ० में लट् के म० पु० ए० के कुछेक ऐसे रूप मिलते है जो लोट् के अर्थ में प्रयुक्त होते है[१७]। दे० अनु० २३६.१०। लोट् के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले इन रूपों के प्रयोग के सम्बन्ध में पाणिनीय व्याकरण में कोई संकेत नहीं मिलता है। ऐसे रूपों के प्रयोग के सम्बन्ध में सायण का मत है कि ये लोट् के अनियमित रूप हैं या लोट् के स्थान पर लट् का प्रयोग हुआ है[१८]।

लोडर्थक इन रूपों की विशेषता यह है कि धातु के साथ म० पु० ए० (प०) का प्रत्यय सि जुड़ता है, कोई गण-विकरण नहीं आता है, और धातु पर उदात्त रहता है; यथा— क्षेषि (√क्षि "रहना"), जेषि (√जि "जीतना"), जोषि (√जुष्), दर्षि (√दृ), धक्षि (√दह्), नक्षि (√नश् "प्राप्त करना"), नेषि (√नी), पर्षि (√पृ), प्रासि (√प्रा), भक्षि (√भज्), मत्सि (√मद्), मासि (√मा), यक्षि (√यज्), यंसि (√यम्), यासि (√या), योत्सि (√युध्), रत्सि (√रद् "खोदना"), रासि (√रा "देना"), वक्षि (√वह्), वेषि (√वी), श्रोषि (√श्रु), सक्षि (√सह् या √सच् ?), सत्सि (√सद्), होषि (√हु)। सत्सि (अ० ६, ११०,१) के अतिरिक्त शेष सब रूप ऋ० में मिलते है। ऐसे रूपों के साथ-साथ प्रायेण लोट् के रूप का भी प्रयोग मिलता है; यथा—आ··· देवेभिर्याहि यक्षि च (ऋ० १,१४,१) "हे (अग्ने) देवताओं के साथ

आओ और यज्ञ करो"। कहीं-कहीं विमू० या लेट् के रूपों के साथ भी ऐसे लोडर्थक रूपों का प्रयोग मिलता है; यथा— जरूथं हन्यक्षि राये पुरंन्धिम् (ऋ० ७,९,६) "हे अग्ने, जरूथ को मारो, धन के लिये, पूर्ण करने वाले (पुरन्धि) देवता का यजन करो"।

३२८. **विधिलिङ् का प्रयोग**— ऋ० में लेट् तथा लोट् की तुलना में विधिलिङ् का प्रयोग बहुत कम है। प्राचीन वैदिकभाषा में विलि० का प्रयोग मुख्यतया इच्छा की अभिव्यक्ति में होता है और विलि० के उत्तम पुरुष के अधिकतर प्रयोग इसी अर्थ में मिलते है। कुछेक उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१. **इच्छा में विलि०**— उप वामवः शरणं गमेयम् (ऋ० १,१५८,३) "मैं तुम दोनों की शरण को प्राप्त करूं"; अहं च त्वं च वृत्रहन्त्सं युज्याव सनिभ्य आ (ऋ० ८,६२,११) "हे इन्द्र, मैं और तुम अभीष्ट प्राप्ति के लिये संयुक्त हों"; वयं स्याम पतयो रयीणाम् (ऋ० ४, ५०,६) "हम धनों के स्वामी बनें"; पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् (ऋ० ७,६६,१६) "हम सौ वर्ष तक देखें, हम सौ वर्ष तक जीयें"; स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा (ऋ० ३,१,२३) "हे अग्ने, कुल का विस्तार करने वाला हमारा अपना पुत्र हो"।

जहां आशीर्वाद के रूप में वक्ता अपनी इच्छा अभिव्यक्त करता है उन प्रयोगों में लोट् के मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष के रूप आते है; यथा— ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीः (वा० सं० १,१) "इस गोपति (यजमान) में तुम बहुत होती हुई स्थिर रहो"।

उत्तरकालीन संस्कृत में भी विलि० का ऐसा प्रयोग पर्याप्त मिलता है; यथा— प्रजापतिरकामयत "प्रजायेय भूयान्त्स्यामि"ति (ऐ० ब्रा० ४,२३) "प्रजापति ने इच्छा की—'मैं सन्तान उत्पन्न करूं, अधिक बढूं' "।

२. **प्रार्थना में विलि०**— वैदिकमन्त्रों में विलि० के मध्यम पुरुष के अधिकतर रूप और प्रथम पुरुष के अनेक ऐसे रूप, जो देवताओं से

सम्बन्ध रखते है, प्रार्थना की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं; और ऐसे रूपों के साथ-साथ प्रायेण लोट् के रूपों का प्रयोग भी मिलता है; यथा— आ नो मित्रावरुणा नासत्या द्यावा होत्राय पृथिवी ववृत्याः (ऋ० ६,११,१) "हे अग्ने, मित्र तथा वरुण, अश्विनौ, द्युलोक तथा पृथिवी को हमारे यज्ञ के लिये इधर प्रेरित करो"; अवेरिन्द्र प्र णो धियः (ऋ० ८,२१,१२) "हे इन्द्र, हमारी प्रार्थनाओं की रक्षा करो"; इमां मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वनेः । इमा उ षु श्रुधी गिरः (ऋ० २,६,१) "हे अग्ने, मेरी इस समिधा और आहुति का सेवन कीजिये। मेरी इन स्तुतियों को सुनिये"; मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् (ऋ० १,२७, २) "वह (अग्नि) हमारे लिये दयालु हो"; समस्मे इषं वसवो ददीरन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (ऋ० ७,४८,४) "वसु देवता हमें अन्न प्रदान करें, (हे ऋभुओ !) तुम कल्याणों से सदा हमारी रक्षा करो"।

३. **आदेश तथा उपदेश में विलि०**— आदेश तथा उपदेश में भी विलि० का प्रयोग होता है और विलि० के ऐसे प्रयोगों में प्रायेण मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष के रूप आते है; यथा— इमं घा वीरो अमृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः (ऋ० ८,२३,१९) "मरणधर्मा वीर पुरुष इस अमर अग्नि को अपना दूत बनाये"; अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् (तै० सं० २,२,२,१) "मार्ग बनाने वाले अग्नि के लिये आठ कपालों वाले पुरोडाश का निर्वपन करे"; क्षौमे वसाना अग्निमादधीयाताम् (मै० सं० १,६,४) "क्षौमवस्त्र धारण करते हुए वे दोनों अग्नि का आधान करें"; नास्य तां रात्रीमपो गृहान्प्र हरेयुः (मै० सं० २,१, ५) "उस रात वे उस के घर जल न ले जायें"। वैदिकभाषा के मन्त्रभाग में विलि० का ऐसा प्रयोग अल्पतर है। परन्तु ब्रा० तथा कल्पसूत्रों में विलि० का ऐसा प्रयोग बहुत अधिक है।

४. **सम्भावना तथा सामर्थ्य में विलि०**— सम्भावना तथा सामर्थ्य में भी विलि० का प्रयोग होता है। ऐसे प्रयोगों में अधिकतर रूप प्रथम पुरुष के मिलते है; यथा— न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभ-

श्चकार (ऋ० ८,९६,२) "जिन कर्मों को प्रवृद्ध वर्षाकर्ता (इन्द्र) ने किया है, उन्हें न देव न मनुष्य मात कर सकता है"; नैनं दधिक्रावा चन पावयांक्रियात् (मै० सं० २,१,३) "इसे दधिक्रावा (सूर्य) भी शुद्ध नहीं कर सकता"; न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम (ऋ० १०,१०,४) "जो कार्य हम ने पहले कभी नहीं किया (उसे) अब कैसे करें ? हम शाश्वत (अटल) नियमों की बात करते हुए नियम-विरुद्ध कार्य कैसे करें ?"

५. **हेतु तथा हेतुमत् में विलि०** — किसी कार्य के हेतु की अभिव्यक्ति में तथा कार्य से होने वाले परिणाम (हेतुमत्) की अभिव्यक्ति में विलि० का प्रयोग होता है ; यथा— सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति (ऋ० १०,८५,३४) "जो ब्रह्मा सूर्या (सूक्त) को जाने, वह वधू के वस्त्र को प्राप्त करने के योग्य है"; यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् । स्युष्टे सत्या इहाशिषः (ऋ० ८,४४,२३) "हे अग्ने, यदि मैं 'तुम' बनूं और तुम "मैं" बनो, तो तुम्हारी सब प्रार्थनाएं सत्य हों"; सा यद्भिद्येताऽऽर्तिमार्च्छेद्यजमानः (तै० सं० ५ १,९,२) "यदि वह टूट जाये, तो यजमान संकट में पड़े"; यदि पुरा संस्थानाद् दीर्येत 'अद्य वर्षिष्यतीति' ब्रूयात् (मै० सं० २,१,८) "यदि यज्ञ की समाप्ति से पूर्व पात्र टूट जाये, तो उसे कहना चाहिए 'आज वर्षा होगी' "।

३२९. **आशीर्लिङ् का प्रयोग**— आशीर्लिङ् के नाम से ही स्पष्ट है कि आशीर्वाद (देवताओं के प्रति प्रार्थना, इच्छा की अभिव्यक्ति) के अर्थ में इस लकार का प्रयोग होता है; यथा— सर्वमायुर्जीव्यासम् (अ० १९, ६९,१) "मैं सारी आयु भर जीवित रहूं"; योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तमः (ऋ० १०,१६६,५) "तुम्हारे (शत्रुओं के) योग तथा क्षेम को लेकर मैं उत्तम बनूं"; इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट (अ० २,३६,३) "हे अग्ने, यह नारी पति को प्राप्त करे"; यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट (ऋ० ३,५३,२१) "जो हमारे से द्वेष करता है वह नीचे गिरे"; भूयसीनामुत्तरां समां क्रियासमिति गवां लक्ष्म कुर्यात् (मै० सं० ४,२,८)

" 'मैं अगले वर्ष अधिक (गायों) का चिह्न करूं' ऐसा मन्त्रोच्चारण करता हुआ गायों के चिह्न करे"; 'शतं हिमा' इति शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह (श० ब्रा० १,९,३,१९) " 'सौ वर्ष' इस वचन से वह यही कहता है 'मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूं' "।

टिप्पणियां

१. पा० ३,२,१२३— वर्तमाने लट्।

२. पा० ३,३,१३१— वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा।

३. पा० ३,२,१२२— पुरि लुङ् चास्मे।

४. पा० ३,२,११८-११९— लट् स्मे। अपरोक्षे च ॥

५. पा० ३,२,१११— अनद्यतने लङ्। पा० के इस सूत्र के अनुसार, अनद्यतन भूतकाल के विषय में लङ् का प्रयोग किया जाता है। इस सूत्र पर वार्तिक (काशि०) में कहा गया है— "परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ्वक्तव्यः" अर्थात् जो परोक्ष घटना लोक में प्रसिद्ध है और प्रयोक्ता (वक्ता) के दर्शन का विषय है उस के लिये भी लङ् का प्रयोग होता है। इस वार्तिक के व्याख्यान में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ये उदाहरण दिये हैं— अरुणद् यवनः साकेतम् "यवन ने साकेत को घेर लिया", अरुणद् यवनो माध्यमिकान् "यवन ने माध्यमिक (माझा ?) प्रदेश के लोगों को घेर लिया"।

६. पा० ३,४,६— छन्दसि लुङ्लङ्लिटः।

७. पा० ३,२,११५— परोक्षे लिट्। इस सूत्र पर महाभाष्य— "कथंजातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित्तावदाहुः— वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति।

अपर आहुः— वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति। अपर आहुः— कुड्यकटान्तरितं परोक्षमिति। अपर आहुः—द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति"। इस महाभाष्य पर कैयट कहता है— 'इन्द्रियागोचरसाधनसाधितानद्यतनक्रियावाचिनस्तु धातोर्लिट्-प्रत्यय इति निर्णयः। तथा च ह्यः पपाचेत्याद्यपि भवति।"

८. पा० ३,२,१३— लृट् शेषे च।

९. पा० ३,३,१५— अनद्यतने लुट्।

१०. पा० ३ ३,१३९-१४०— लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ। भूते च॥

११. Ved. Gr. Stu., p. 178—"This is a past tense of the future meaning *would have*."

१२. पा० ३,३ १७५-१७६— माङि लुङ्। स्मोत्तरे लङ् च॥
६,४,७४-७५— न माङ्योगे। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि॥

१३. पा० ३,४,७— लिङर्थे लेट्।

१४. पा० ३,४,८— उपसंवादाशंकयोश्च।

१५. पा० ३,३,१६२— लोट् च।

१६. Ved. Gr. Stu., p. 348; Skt. Lg., p. 299.

१७. Ved. Gr., p. 336; Ved. Gr. Stu., p. 349; Skt. Gr., p. 227, article 624.

१८. दे०—ऋ० १,१३,१;१,१४,१;१,३१,१७;१,१३२,४; तथा ३,१५,३ के भाष्य में सायण का मत। ऋ० ३,१७,२-३ के भाष्य में सायण यक्षि को लेट् का रूप मानता है। परन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है, क्योंकि स्वयं सायण ने इसे अन्यत्र लोट् का रूप माना है। दे०—ऋ०३,१४,५ पर सायण-भाष्य।

नवमोऽध्यायः

कृदन्त-प्रकरणम्

२३०. **लट् के अङ्ग से अत् (पा० शतृ) तथा आन (पा०. शानच्) प्रत्यय**— परस्मैपद में लट् के अङ्ग से परे अत् (पा० शतृ) प्रत्यय और आत्मनेपद में आन (पा० शानच्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[1]। प्रत्येक गण के नियमानुसार (अनु० २२२-२२४) धातु का जो अङ्ग लट् में बनता है उस से परे ये प्रत्यय आते हैं।

(क) **शत्रन्त रूप**— परस्मैपद में धातु से परे अत् (पा० शतृ) प्रत्यय आता है; यथा— √भू से भ॑वत् (भ॑व+अत्) "होता हुआ", √दुह् से दुहत् (दुह्+अत्) "दोहन करता हुआ", √हु से जु॑ह्वत् (जुहु+अत्) "होम करता हुआ", √नृत् से नृ॑त्यत् (नृ॑त्य+अत्) "नाचता हुआ", √कृ से कृण्वत् (कृणु+अत्) "करता हुआ", √तुद् से तुदत् (तुद+अत्) "कष्ट पहुंचाता हुआ", √भिद् से भिन्दत् (भिन्द्+अत्) "भेदन करता हुआ", √कृ से कुर्वत् (कुरु+अत्) "करता हुआ", √प्री से प्रीणत् (प्रीण्+अत्) "प्रसन्न करता हुआ"। लट् के प्र० पु० ब० में जो अङ्ग बनता है वही अङ्ग शत्रन्त में आता है; यथा— √अस् "होना" से स॒न्ति तथा शत्रन्त सन्तौ, √हन् से घ्नन्ति तथा शत्रन्त घ्नन्तः।

(ख) **शत्रन्त रूपों में नुम् आगम**— मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि शत्रन्त रूपों के शक्ताङ्ग में अन्त् प्रत्यय आता है जो अशक्ताङ्ग में अत् रह जाता है; यथा— भ॑वन्तः, भ॑वतः। इस के विपरीत पा० के अनुसार, सामान्य प्रत्यय अत् है, परन्तु सर्वनामस्थान विभक्तियों से पूर्व इसे न् (नुम्) का आगम होता है[2]। इस नियम

के अपवादस्वरूप जु० के धातुओं तथा कतिपय अन्य अभ्यस्तसंज्ञक धातुओं से परे शतृ के अत् को नुमागम नहीं होता है[१]; यथा— जुह्वत्, जाग्रत्। यदि धातुओं के लट् प्र० पु० ब० के रूप का अन्तिम इ हटा दिया जाए, तो शत्रन्त का वह अङ्ग प्राप्त हो जाता है जो सर्वनामस्थान की विभक्तियों से पूर्व बनता है। शत्रन्त प्रातिपदिकों की रूप-रचना के लिये दे० अनु० १२५।

(ग) **शानजन्त रूप**—आ० में लट् के अङ्ग से परे आन (पा० शानच्) प्रत्यय आने पर, अकारान्त अङ्ग के अन्तिम अ से परे म् (पा० मुक्) आगम आता है[४]; यथा— यज से यजमानः (यज+म्+आनः)। परन्तु जिस अङ्ग के अन्त में अ नहीं है उस से परे केवल आन आता है; यथा— दुह् अङ्ग से दुहानः, ब्रू से ब्रुवाणः, जुह्व से जुह्वानः, रुन्ध् (√रुध्) से रुन्धानः, कृणु (√कृ) से कृण्वानः, पुना (√पू) से पुनानः।

विशेष—√आस् 'बैठना' से परे आन के आ को ई आदेश हो जाता है[५]; यथा— आसीनः। √दुह् से दुहानः के अतिरिक्त दुघानः रूप भी बनता है। शानच् प्रत्यय से पूर्व कतिपय धातुओं के स्वर को गुण हो जाता है; यथा— √ऊह् से ओहानः, √युध् से योधानः, √शी से शयानः, √स्तु से स्तवानः।

(घ) **कर्मवाच्य में आन (पा० शानच्)**—कर्मवाच्य के अङ्ग से परे आन (पा० शानच्) प्रत्यय जोड़ा जाता है और अङ्ग के अ से परे म् (पा० मुक्) का आगम होता है; यथा— क्रिय (√कृ) से क्रियमाणः "किया जाता हुआ", इज्य (√यज्) से इज्यमानः, √ह्वे से हूयमानः, √तन् से तायमानः। कर्मवाच्य के रूपों में य प्रत्यय पर उदात्त रहता है।

विशेष—प्राचीन वैदिकभाषा में कर्मवाच्य के कुछ ऐसे रूप भी मिलते हैं जिन में य प्रत्यय के बिना धातुमात्र अङ्ग से परे आन प्रत्यय आता है; यथा— √पू से पुनानः (ऋ० ९,८७,१;९६,१५;९७,४७ इत्यादि)

"पवित्र किया जाता हुआ", √स्तु से स्तुवाना (ऋ० ७,९६,३) "स्तुति की जाती हुई (स्तूयमाना)"। कतिपय कर्मवाच्य रूपों में धातु से परे गण का विकरण भी आता है और उस से परे आन प्रत्यय जुड़ता है; यथा— √गृ से गृणाना (ऋ० ७,९६,३) "स्तुति की जाती हुई (स्तूयमाना)"।

३३१. **लृट् के अङ्ग से शतृ तथा शानच् प्रत्यय**— लट् के अङ्ग की भांति लृट् के अङ्ग से भी शतृ तथा शानच् प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं[६]; यथा— करिष्य (√कृ) से करिष्यन् "कर रहा होगा", यक्ष्य (√यज्) से यक्ष्यमाणः "यज्ञ कर रहा होगा"।

३३२. (क) **लिट् के अङ्ग से वस् (पा० क्वसु) प्रत्यय**—परस्मैपद में लिट् के अङ्ग से परे वस् (पा० क्वसु) प्रत्यय प्रयुक्त होता है[७]। और वैदिकभाषा में लगभग ५० से अधिक ऐसे अङ्गों से बने हुए रूप उपलब्ध होते है; यथा—चकृवस् (√कृ), चिकित्वस् (√कित् "जानना"), जगन्वस् (√गम्), जगृभ्विस् (√ग्रभ्), जिगीवस् (√जि), जघन्वस् (√हन्), तस्थिवस् (√स्था), ददृश्वस् (√दृश्), दद्वस् (√दा), बिभीवस् (√भी), बभूवस् (√भू), रिरिक्वस् (√रिच्), रुरुक्वस् (√रुच्), ववृत्वस् (√वृत्), वावृध्वस् (√वृध्), विविक्वस् (√विच्), सासह्वस् (√सह्) इत्यादि। कुछेक रूपों में वस् प्रत्यय को इडागम भी होता है; यथा—ईयिवस् (√इ "जाना"), ऊषिवस् (√वस् "रहना"), ओकिवस् (√उच् "तुष्ट होना"), पप्तिवस् (√पत्), तेनिवस् (√तन्), पपिवस् (√पा "पीना"), सश्चिवस् (√सच्), जक्षिवस् (√घस्), ददिवस् (अ०, √दा), ददृशिवस् (√दृश्), जज्ञिवस् (√ज्ञा), चिच्छिदिवस् (√छिद्), ययिवस् (√या), ररिवस् (√रा), विविशिवस् (√विश्)। मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 363) के मतानुसार, उपर्युक्त ददिवस्, पपिवस्, ययिवस्, ररिवस् तथा जज्ञिवस् में धातु के आ को इ हुआ है, जबकि पा० के अनुसार ऐसे रूपों में इडागम से पूर्व धातु के आ का लोप हो जाता है[८]।

नवमोऽध्यायः

सम्प्रसारण होता है (पा० ६,१,१५-१६ इत्यादि), उन्हें क्त प्रत्यय से पूर्व भी सम्प्रसारण हो जाता है; यथा—इष्ट (√यज्), उक्त (√वच्), उदित (√वद्), उत (√वे), उप्त (√वप्), उष्ट (√वस्), ऊढ (√वह्), गृहीत (√ग्रह्), पृष्ट (√प्रच्छ्), भृष्ट (√भ्रस्ज्), विद्ध (√व्यध्), हूत (√ह्वे)। सम्प्रसारण द्वारा √ज्या, √व्ये तथा √श्यै के क्तान्त रूप क्रमशः जीत (अ०), वीत तथा शीत बनते हैं।

(घ) **धातुओं के आ को विकार**— क्त प्रत्यय से पूर्व निम्नलिखित धातुओं के आ को विकार होता है:— √गा (√गै "गाना"), √धा (√धे "स्तन से दूध पीना"), √पा "पीना", के आ का ई हो जाता है (दे० ७वें अध्याय की टि० ४०४); यथा— गीत, धीत, पीत। √दा (√दो 'बान्धना"), √धा "रखना", √मा "मापना", √शा (√शो "तेज करना"), √छा (√छो 'काटना"), √सा (√सो "बान्धना"), तथा √स्था के आ को इ आदेश हो जाता है[13]; यथा— छित (श० ब्रा०), दित, धित, मित, शित, सित, स्थित। अधिकतर रूपों में √धा "रखना" को हि आदेश हो कर हित बनता है[14]। त्वादात (ऋ०) "तुम्हारे द्वारा दिये गये" समास को छोड़ कर, √दा "देना" को क्त से पूर्व दद् आदेश हो जाता है[15]; यथा— दत्त। अजन्त उपसर्गों से परे तथा देवत्त "देवों द्वारा दिया गया" समास में √दा "देना" के आ का लोप हो कर केवल त् शेष रहता है[16]; यथा— व्यात्त "खोला हुआ"। इकारान्त उपसर्ग के इ को दीर्घ हो जाता है[17]; यथा— परीत्त (वा० सं०) "दिया गया", नीत्त, सूत्त। √दा (√दो "अवखण्डित करना") को भी उपसर्ग से परे यही विकार होता है; यथा— अवत्त "अवखण्डित किया गया"।

√शास् के आ को इ आदेश हो जाता है[18]; यथा— शिष्ट "शासन किया गया"।

(ङ) **धातु के अन्तिम व् के स्थान पर ऊ—** क्त प्रत्यय परे रहते √दिव् तथा √सिव् के अन्तिम व् के स्थान पर ऊ (पा० ऊठ्) आदेश हो जाता है[१९]; यथा— द्यूत (अ०), स्यूत।

(च) **नकारान्त तथा मकारान्त धातुओं में विकार—** क्त प्रत्यय से पूर्व धातुओं के अन्तिम अनुनासिक व्यञ्जन का लोप हो जाता है (पा० ६, ४,३७); यथा— क्षत (√क्षण्), गत (√गम्), तत (√तन्)। परन्तु क्त प्रत्यय से पूर्व √खन्, √जन्, √वन् तथा √सन् के अन्तिम न् का लोप और अ का आ हो जाता है (७वें अध्याय की टि० ३५६); यथा— खात, जात, वात, सात।

क्त प्रत्यय से पूर्व √क्रम्, √तम्, √दम्, √ध्वन्, √शम् तथा √श्रम् की उपधा के अ का आ और अन्तिम म् का न् हो जाता है[२०]; यथा— क्रान्त (अ०), तान्त (ब्रा०), दान्त (ब्रा०), ध्वान्त (ब्रा०), शान्त (ब्रा०), श्रान्त (वे०)।

(छ) **धातु की उपधा के अनुस्वार का लोप—** क्त-प्रत्यय परे रहते धातु की उपधा के अनुस्वार अथवा अनुनासिक व्यञ्जन का लोप हो जाता है (७वें अध्याय की टि० ४०६); यथा— अक्त (√अन्ज्), दष्ट (√दंश्), बद्ध (√बन्ध्), शुद्ध (√शुन्ध्)।

(ज) √घस् "खाना" की उपधा के अ तथा अन्तिम स् का लोप हो कर क्तान्त रूप ग्ध माना जाता है; यथा— तै० सं० ३,३,८,२ में अग्धाद् "अभुक्त को खाने वाला"[२१]। इसी धातु के द्वित्व से बने जक्ष् का क्तान्त रूप जग्ध बनता है जिसे पा० (२,४,३६) √अद् का क्तान्त रूप मानता है।

२३४. **त (क्त) का न—** निम्नलिखित धातुओं से परे त का न हो जाता है—

(क) धातु के अन्त में आने वाले द् तथा र् से परे त का न हो जाता है और धातु के द् का भी न् हो जाता है[२२]; यथा— छिन्न (√छिद्),

में सामान्यतः वैसा ही विकार होता है जैसा कि क्त प्रत्यय से पूर्व होता है; यथा— इष्ट्वा (√यज्), उक्त्वा (√वच्), गृहीत्वा (√ग्रह्), तीर्त्वी (√तॄ), पीत्वा (√पा), बुद्ध्वा (√बन्ध्), गत्वा (√गम्), हत्वा (√हन्), शयित्वा (√शी), वृष्ट्वा (√व्रश्च्, अ०)।

विशेष— √हा "छोड़ना" से परे त्वा प्रत्यय आने पर धातु के आ का इ हो जाता है[३२]; यथा— हित्वा (वे०)। वैदिकभाषा में त्वा से पूर्व √धा "रखना" को हि आदेश होने का उदाहरण नहीं मिलता है और धातु के आ का केवल इ हो जाता है; यथा— धित्वा (श० ब्रा०)।

(ख) **त्वाय प्रत्यय**— ऋ० के ८ उदाहरणों में और अन्य संहिताओं तथा ब्रा० के लगभग एक दर्जन उदाहरणों में त्वा प्रत्यय को य का आगम होता है[३३]; यथा— ऋ० में गत्वाय, जग्ध्वाय, दत्त्वाय, दृष्ट्वाय, भक्त्वाय, युक्त्वाय, हत्वाय, हित्वाय; कृत्वाय (वा० सं०, तै० सं०), तत्वाय (वा० सं०, √तन्), वृत्वाय (तै० सं०), स्पाशयित्वाय (श० ब्रा०)।

(ग) **त्वी प्रत्यय**— ऋ० के १५ उदाहरणों में त्वा के स्थान पर त्वी प्रत्यय मिलता है[३४]; यथा— कृत्वी, गत्वी, गूढ्वी (√गुह्), जनित्वी, जुष्ट्वी, पीत्वी (√पा "पीना"), पूत्वी, भूत्वी, विष्ट्वी, वृत्वी, वृक्त्वी, वृष्ट्वी, स्कभित्वी, हत्वी, हित्वी। अन्य संहिताओं में त्वी के प्रयोग के उदाहरण अतिविरल हैं; यथा खात्वी (तै० सं०, √खन्), स्नात्वी (मै० सं०, का० सं०)।

(घ) **त्वीनम् ?**— पा० ७,१,४८ "इष्ट्वीनमिति च" में त्वीनम् प्रत्यय का विधान भी मिलता है। और इसी सूत्र पर काशि० में "पीत्वीनमित्यपीष्यते" भी दिया गया है। परन्तु अब तक इष्ट्वीनम् तथा पीत्वीनम् रूपों का कोई वैदिक प्रयोग नहीं मिला है। क्या ये उदाहरण वेद की किसी उत्सन्न शाखा से लिये गये थे ?

(ङ) य (पा० ल्यप्) प्रत्यय— नञ्समास को छोड़ कर अन्य समास में धातु से परे त्वा के स्थान पर य (पा० ल्यप्) प्रत्यय आता है[३५]; यथा— अतिदीव्य, अनुदीव्य, अभिक्रम्य, अवसाय (अव+√सो), आदाय, आरभ्य, उत्थाय (उद्+√स्था), कर्णगृह्य, संभूय, हस्तगृह्य।

विशेष— १. वैदिकसंहिताओं में विशेषतः ऋ० में अनेक ल्यवन्त रूपों के अन्तिम अ का दीर्घ हो जाता है (पृ० ९९); यथा— अल्खलीकृत्या, अभिगूर्या (√गॄ), अभिचक्ष्या, आच्या (आ+√अञ्च्), आवृत्या, निरुध्या, निषद्या।

२. जिन धातुओं के अन्त में ह्रस्व स्वर आता है उन से परे य प्रत्यय आने पर ह्रस्व स्वर को त् (पा० तुक्) का आगम होता है[३६]; यथा— अभिजित्य, आदृत्य, आभृत्य, उपश्रुत्य, उपस्तुत्य, नमस्कृत्य।

३. जिन नकारान्त या मकारान्त धातुओं के अन्तिम व्यञ्जन का लोप होता है उन की उपधा के अ से परे त् का आगम होता है; यथा— आगत्या (ऋ०), विहत्या, (ऋ०), उद्यत्य (अ०)।

अपवाद— १. कुछेक वैदिक रूपों मे समास होने पर भी त्वा प्रत्यय ही मिलता है[३७]; यथा— परिधापयित्वा (का० सं०), प्रत्यर्पयित्वा (अ०), वीरोचयित्वा (तै० आ०), समीरयित्वा (मै० सं०)।

२. कुछेक रूपों में समास न होने पर भी धातु से परे य (पा० ल्यप्) प्रत्यय मिलता है; यथा— प्रोथ्य (आश्व० गृ० सू०), स्थाप्य (श्वे० उप०)। महाभारत तथा रामायण में इस प्रकार के बहुत से प्रयोग मिलते हैं।

(च) अम् (पा० णमुल्) प्रत्यय— संहिताओं के कुछेक रूपों में और ब्रा० तथा सूत्रों के बहुत से रूपों में अम् (पा० णमुल्) प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[३८]। अम् के प्रयोग को पूर्णतया त्वा के समान तो नहीं माना जा सकता, तथापि दोनों के प्रयोग में सादृश्य अवश्य है। त्वा प्रत्यय प्रायेण पूर्वकालिक क्रिया की पूर्ण सम्पन्नता को प्रकट करता है,

यम्य (श्रौ०, गृ०, √यम्), रम्य (ब्रा०), रम्य (ब्रा०), लभ्य (उप०), अवद्य (√वद्) "न कहने योग्य अर्थात् निन्दनीय", वह्य (अ०) "वहन करने का साधन (रथ आदि)", ब्रह्मवद्य (कौषी० ब्रा० २७, ४), √वृष् "बरसना" से वृष्य (ऋ०) तथा वर्ष्य (तै० सं, वा० सं०, मै० सं०)।

ण्यत्-प्रत्यय— ऋकारान्त, ॠकारान्त तथा हलन्त धातुओं से परे सामान्यतया ण्यत् प्रत्यय आता है[४५], जिस से धातु के स्वर को वृद्धि हो जाती है; यथा — कार्य (√कृ), वार्य (ऋ०, √वृ), आद्य (√अद्), आश्य (√अश् "खाना"), खान्य (ला० श्रौ० सू०) ग्राह्य (√ग्रह्), आचार्य (अ०), तार्य (अ०, √तॄ), पाक्य (उप०, √पच्), वाद्य (अ०, √वद्)। कतिपय उकारान्त तथा ऊकारान्त धातुओं से परे भी ण्यत् प्रत्यय आता है[४६]; यथा— भाव्य (√भू) "होने वाला (भाग्य)", स्ताव्य (सू०, √स्तु)। पा० ३,१,१२३ पर महाभाष्य के अनुसार, निष्टर्क्य (तै० सं०, का० सं०, सू०) "मोचन योग्य" शब्द में निस्+√कृत् "काटना" से परे ण्यत् प्रत्यय आया है, जब कि मोनियर-विलियम्स (MWD., *s.v.*) इस में √तर्क् मानता है।

क्यप् प्रत्यय— जिन य-प्रत्ययान्त रूपों में धातु के स्वर को गुण या वृद्धि नहीं होती है उन रूपों में पाणिनि क्यप् प्रत्यय मानता है[४७]। धातु के अन्त में आने वाले ह्रस्व स्वर को, क्यप् प्रत्यय परे रहते, त् (पा० तुक्) का आगम होता है (टि० ३६); यथा—इत्य (√इ "जाना"), कृत्य (√कृ "करना"), चर्कृत्य (√कृ "स्तुति करना"), "स्तुति करने योग्य", चित्य (√चि "चुनना"), भृत्य (अ०, √भृ), श्रुत्य, सृत्य (अ०)। क्यप् प्रत्यय परे रहते, धातु की उपधा के स्वर तथा अन्तिम स्वर में गुण, वृद्धि आदि कोई विकार नहीं होता है, परन्तु संप्रसारण-योग्य वर्णों को संप्रसारण हो जाता है; यथा— प्रणीयः (मै० सं० ३, ९,१, √नी) "आगे ले जाने योग्य", गुह्य (√गुह्) "छुपाने योग्य", दृश्य, प्रतिगृह्य (तै० सं०, √ग्रह्) "स्वीकार करने योग्य", आपृच्छ्यः

(ऋ० १,६०,२ √प्रच्छ्) "पूछने योग्य", शिष्य (षड्विंश ब्रा०, √शास्) "उपदेश देने योग्य" ।

(ख) **आय्य प्रत्यय**— लगभग एक दर्जन वैदिक रूपों में आय्य प्रत्यय का प्रयोग मिलता है और ऐसे रूप प्रायेण ऋ० में मिलते हैं[४८]। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि केवल एक प्रयोग को छोड़ कर शेष सब प्रयोगों में आय्य का उच्चारण आयिअ होना चाहिए[४९]। इस के निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है— त्रयाय्य (ऋ० √त्रै) "रक्षा करने योग्य", दक्षाय्य (ऋ०, √दक्ष्) "दक्षता से संतुष्ट करने योग्य", दिधिषाय्य (ऋ०, √धा+सन्) "धारण करने योग्य", पनयाय्य (ऋ०, √पन्+णि) "स्तुति करवाने के योग्य" (विस्मयोत्पादक), पनाय्य (ऋ०, √पन्) "स्तुत्य", वितन्तसाय्य (ऋ०, √वि+√तंस) "गति देने योग्य या हिलाने योग्य", विदाय्य (ऋ०, √विद् "पाना") "पाने योग्य", श्रवाय्य (ऋ०) "श्रवणीय, प्रशस्य", स्पृहयाय्य (ऋ०) "स्पृहा करने योग्य", अ-ह्नवाय्य (ऋ०, अ+√ह्नु) "इन्कार न करने योग्य"[५०]।

(ग) **सेय्य प्रत्यय**— स्तुषेय्यम् (ऋ० १०,१२०,६, √स्तु) "स्तुति करने योग्य (निरुक्त ११,२१)" में उणादिसूत्र ३,९९ के अनुसार क्सेय्य प्रत्यय है। ग्रुगमैन (K. G., 809) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 407) तुमर्थक स्तुषे "स्तुति करना" से इस रूप की व्युत्पत्ति मानते हैं। दे० WZR., *s.v.*

(घ) **एन्य प्रत्यय**— वैदिकभाषा में एक दर्जन से अधिक कृदन्त रूप एन्य प्रत्यय से बनते हैं[५१], और ह्विटने (Skt. Gr , p. 347) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 407; Ved. Gr. Stu , p. 186) के मतानुसार इस का उच्चारण एनिअ होना चाहिए; यथा— ईक्षेण्य (ऋ०, √ईक्ष्) "देखने योग्य", ईळेन्य (√ईड्) "स्तुति करने योग्य", संचरेण्य (ऋ०, सम्+√चर्) "चलने वाला (संचारि)", दृशेन्य (ऋ०) "देखने योग्य", अद्विषेण्य (ऋ०, का० सं०) "द्वेष न करने

योग्य", आभूषेण्य (ऋ०, आ+√भूष्) "स्तुति करने योग्य", युधेन्य (ऋ०, अ०) "युद्ध करने योग्य", वरेण्य "वरने योग्य"।

अन्य अङ्गों से बने रूप— मैक्डानल (Ved. Gr., p. 407; Ved. Gr. Stu., p. 187) के मतानुसार, अभ्यायंसेन्या (ऋ० १,३४,१) "सब ओर से समीप लाये जाने योग्य" में √यम् के लुङ् के अङ्ग यंस् से परे एन्य प्रत्यय आया है, परन्तु सायण इस में √यम् से परे उणादि का सेन्य प्रत्यय मानता है। बेनफी (Vollständige Grammatik, 904,860), रोट (SPW. *s v.*), ग्रासमैन (WZR., *s.v.*), ह्विटने (Roots, p. 102), मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.*) तथा मैक्डानल (Ved. Gr , p. 407) प्रभृति विद्वान् पपृक्षेण्यम् (ऋ० ५,३३,६) में √प्रच्छ् के लुङ् के अङ्ग से परे एन्य प्रत्यय मानते हैं, जब कि सायण इस में √पृच् के द्वित्वयुक्त अङ्ग से परे एन्य प्रत्यय मानता है। दिदृक्षेण्य (ऋ०, का० सं, तै० ब्रा०) "देखने योग्य" तथा शुश्रूषेण्य (तै० सं०, तै० आ०, शां० श्रौ० सू०) 'सुनने योग्य" में क्रमशः √दृश् तथा √श्रु के सन्नन्त अङ्ग से परे एन्य प्रत्यय माना जाता है। मर्मृजेन्य (ऋ०) "शोभायुक्त करने योग्य" तथा वावृधेन्य (ऋ०, अ०) "वर्धनीय" में क्रमशः √मृज् तथा √वृध् के यङ्लुगन्त अङ्ग से परे एन्य प्रत्यय माना जाता है। सपर्येण्य (ऋ०, मै० सं०, का० सं०) "पूज्य" में सपर्य नामधातु के अङ्ग से परे एन्य प्रत्यय माना जाता है।

(ङ) **त्व प्रत्यय**— लगभग एक दर्जन से अधिक वैदिक कृदन्त रूपों में त्व (पा० त्वन्) प्रत्यय आता है (टि० ५१)। ह्विटने (Skt. Gr., p. 346) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 407) के मतानुसार, ऐसे रूपों में त्व का उच्चारण तुअ होना चाहिए। उदाहरण— कर्त्व (ऋ०, अ०) "करने योग्य", जनित्व तथा जन्त्व (√जन्) "जो उत्पन्न होना है", जेत्व "जीतने योग्य", नन्त्व (√नम्) "झुकाने योग्य", भवीत्व (ऋ०) "होने वाला" (भविष्य), वक्त्व (ऋ०,

√वच्) "कहने योग्य", सनित्व (ऋ०, √सन्) "जीतने योग्य", सोत्वं (√सु) "रस निकालने योग्य", स्नात्वं (ऋ०) "स्नान करने योग्य", हन्त्वं (√हन्) "मारने योग्य", हेत्वं (ऋ०, √हि) "हांकने योग्य"।

(च) तव्यं प्रत्यय— ऋ० में तव्य-प्रत्ययान्त किसी रूप का उदाहरण नही मिलता है। अ० में इस के दो उदाहरण मिलते हे—जनितव्यं (अ० ४,२३,७) तथा हिंसितव्यं (अ० ५,१८,६)। य० की संहिताओं के ब्राह्मणभागों, ब्रा० तथा सूत्रों में इस प्रत्यय के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते है और इस का प्रयोग उत्तरोत्तर वढ़ता गया है; यथा— कर्तव्यं (तै० सं०, का० सं०) तथा कर्तव्यं (श० ब्रा०), भवितव्यं (मै० सं०, का० सं०) तथा भवितव्यं (श० ब्रा०), गमयितव्य (जै० ब्रा०)। पा० ३,१,९६ (टि० ३९) में तव्यं तथा तव्यन् इन दो प्रत्ययों का विधान किया गया है। जिन रूपों के अन्त में स्वतन्त्र स्वरित है उन में तित् तव्यत् प्रत्यय माना जाता है (दे० पा० ६,१,१८५), परन्तु जिन रूपों में तव्यं के त पर उदात्त है उन में तव्यं प्रत्यय माना जाता है।

(छ) अनीयं (पा० अनीयर्, टि० ३९) प्रत्यय— ऋ० में इस प्रत्यय के प्रयोग का कोई उदाहरण नही मिलता है, परन्तु अ० में इस के दो उदाहरण मिलते है— उपजीवनीयं (अ० ८,१०,२२) तथा आमन्त्रणीयं (अ० ८,१०,७)। य० की संहिताओं के ब्राह्मणभाग में, ब्राह्मणों में तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों में इस के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं; यथा— उक्षणीय (जै० ब्रा०), करणीय (ऐ० आ०, शां० आ०), दर्शनीयं (का० सं०, तै० ब्रा०, जै० ब्रा०), पदनीयं (श० ब्रा०), अभिचरणीयं (श० ब्रा०), आहवनीयं (ऐ० ब्रा०)।

३३८. कृत्य प्रत्ययों का अर्थ तथा प्रयोग— "आवश्यकता" "वाञ्छनीयता", "योग्यता" तथा "सम्भावना" को प्रकट करना ही कृत्य प्रत्ययों का मुख्य अर्थ है; यथा—

य प्रत्यय— सुद्यो जज्ञानो हव्यो बभूव (ऋ० ८, ९६,२१) "वह इन्द्र उत्पन्न होता हुआ आह्वान किये जाने के योग्य हुआ"; सखा सखिभ्य ईड्यः (ऋ० १,७५,४) "(हे अग्ने !) तू मित्र मित्रों के द्वारा स्तुति करने के योग्य है"।

त्व प्रत्यय— रिपवो हन्त्वासः (ऋ० ३,३०,१५) "मारने के योग्य शत्रु"; यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसा ऋ० २, २४,२) "जिस ब्राह्मणस्पति ने झुकाने योग्य वस्तुओं को अपने बल से झुकाया"; स्नात्वमुदकम् (श० ब्रा०) "स्नान करने योग्य जल"।

आय्य प्रत्यय— पनाय्यमोजः (ऋ० १,१६०,५) "स्तुति के योग्य बल"; दक्षाय्यो नृभिः (ऋ० १, १२९, २) "मनुष्यों के द्वारा दक्षता से संतुष्ट करने योग्य"।

एन्य प्रत्यय— अग्निरीळेन्यो गिरा (ऋ० १,७९,५) "वाणी के द्वारा स्तुति किये जाने योग्य अग्नि"; दृशेन्यो यो महिना समिद्धः (ऋ० १०,८८,७) 'जो प्रदीप्त अग्नि अपनी महिमा से देखने योग्य है"; वाचमुद्यासं शुश्रूषेण्याम् (तै० सं० ३,३,२,२) "मैं सुनने योग्य वाणी को बोलूं"।

तव्य प्रत्यय— न ब्राह्मणो हिंसितव्यः (अ० ५,१८,६) "ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिए"; पुत्रो याजयितव्यः (मै० सं० २,४,५) "पुत्र को यज्ञ करवाना चाहिए"; अग्निचितः पक्षिणो नाशितव्यम् (मै० सं० ३,४,८) "अग्नि का चयन करने वाले को पक्षी के मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए"।

अनीय प्रत्यय— यह प्रत्यय प्रायेण 'योग्यता" या "सम्भावना" को प्रकट करता है; यथा— उपजीवनीयो भवति य एवं वेद (अ० ८,१०,२२) "जो इस प्रकार जानता है वह दूसरों का आश्रय बनने के योग्य होता है"; दर्शनीय "देखने योग्य", आहवनीय (ऐ० ब्रा०) "बुलाये जाने योग्य"।

तुमर्थक प्रत्यय (Infinitives)

३३९. **तुमर्थक प्रत्यय**— लौकिक संस्कृत मे जिस अर्थ में तुम् (पा० तुमुन्) प्रत्यय आता है, उसी अर्थ में वैदिकभाषा में अनेक प्रत्ययो का प्रयोग होता है। पाणिनीय पद्धति का अनुसरण करने वाले पाठकों की सुविधा के लिये हम ने इस ग्रन्थ में इन सव प्रत्ययों के लिये "तुमर्थक प्रत्यय" सामान्य संज्ञा का व्यवहार किया है। इस सम्वन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में तुमर्थक प्रत्ययों के लगभग ७०० प्रयोग उपलब्ध होते है और केवल पांच उदाहरणों में तुम् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। अ० के ८ उदाहरणों में तुम् प्रत्यय का प्रयोग उपलब्ध होता है। य० की संहिताओं, ब्रा० तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों में तुम् का प्रयोग वढ़ता गया है और अन्य तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग घटता गया है। लौकिक संस्कृत में केवल तुम् प्रत्यय का प्रयोग अवशिष्ट रह गया और प्राचीन वैदिकभाषा में प्रचलित अन्य तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग लुप्त हो गया।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि जिन कृदन्त रूपों में तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है ये रूप मूलतः कृदन्त प्रातिपदिकों के विभक्त्यन्त रूप थे, परन्तु एक ही प्रकार के अपरिवर्तनशील रूपों मे निरन्तर प्रयुक्त होने के कारण कालान्तर मे ये अव्यय वन गये। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इन तुमर्थक प्रत्ययों को, मूल विभक्तियों के आधार पर, निम्नलिखित पांच वर्गो में विभक्त किया जा सकता है[५२]—

(१) द्वितीया-मूलक तुमर्थक प्रत्यय (Accusative Infinitive).

(२) चतुर्थी-मूलक तुमर्थक प्रत्यय (Dative Infinitive).

(३) पञ्चमी-मूलक तुमर्थक प्रत्यय (Ablative Infinitive).

(४) षष्ठी-मूलक तुमर्थक प्रत्यय (Genitive Infinitive).

(५) सप्तमी-मूलक तुमर्थक प्रत्यय (Locative Infinitive).

वैदिक भाषा में चतुर्थीमूलक और द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग सव से अधिक है। ऋ० में चतुर्थीमूलक प्रत्ययों का प्रयोग

द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्ययों के प्रयोग की तुलना में १२ गुना से भी अधिक है और अ० में इसका प्रयोग द्वितीयामूलक प्रत्ययों के प्रयोग की तुलना में ३ गुना है। ब्रा० में द्वितीयामूलक प्रत्ययों का प्रयोग बढ़ गया है और चतुर्थीमूलक प्रत्ययों का प्रयोग इन की तुलना में कम हो गया है।

पाणिनि ने पांच सूत्रों (३,४,९-१३) में तुम् से भिन्न तुमर्थक प्रत्ययों का वर्णन किया है। यद्यपि पा० ने विभक्तियों के आधार पर इन प्रत्ययों का वर्गीकरण नहीं किया है, तथापि रूपों की समानता के आधार पर भिन्न-भिन्न सूत्रों में इन प्रत्ययों का वर्णन किया है। पा० ने तीन सूत्रों (३,४,९-११) में तथाकथित चतुर्थी-मूलक तुमर्थक प्रत्ययों का, एक सूत्र (३,४,१२) में तुम् से भिन्न तथाकथित द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्ययों का, और एक सूत्र (३,४,१३) में तथाकथित पञ्चमीमूलक तथा षष्ठीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों का वर्णन किया है। परन्तु तथाकथित सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय के सदृश किसी तुमर्थक प्रत्यय का वर्णन पा० में नही किया गया है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय के प्रयोग को सन्दिग्ध मानते हैं। पा० ने कुछ तुमर्थक प्रत्ययों को कृत्य प्रत्ययों में सम्मिलित किया है (३,४,१४—१७), जिन का विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा।

रूप-रचना—धातुओं से परे भिन्न-भिन्न तुमर्थक प्रत्यय जोड़ने से जो रूप बनते है उन का वर्णन पाश्चात्य विद्वानों ने परिकल्पित मूलविभक्तियों के आधार पर किये गये वर्गीकरण के आधार पर किया है। यद्यपि हम पाश्चात्य विद्वानों के इस मत को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते हैं, तथापि उन विद्वानों के मत के स्पष्टीकरण की दृष्टि से हम ने मूल विभक्तियों के आधार पर किये गये वर्गीकरण के अनुसार तुमर्थक प्रत्ययों से बने रूपों की रचना का वर्णन किया है।

३४०. द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्यय (Accusative Infinitive)—द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्ययों से बने कृदन्त रूप द्वितीयान्त नामिक रूपों

के सदृश होते हैं। ये रूप दो प्रकार के होते है— (१) तुम्-प्रत्ययान्त और (२) अम्-प्रत्ययान्त।

(क) **तुम् प्रत्यय**— जिन कृदन्त रूपों के अन्त में तुम् मिलता है उन के अन्त में पा० (३,३,१०) के अनुसार तुम् (अनुबन्ध-सहित तुमुन्) प्रत्यय आता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऐसे रूप तु अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के द्वितीयान्त है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, ऋ० में तुम्-प्रत्ययान्त रूप केवल पांच और अ० में केवल आठ मिलते है; यथा— ऋ० में दातुम् "देना", प्रष्टुम् (√प्रच्छ्), प्रभर्तुम् (प्र+√भृ "भेंट करना", अनुप्रवोढुम् (अनु+प्र+√वह्) "आगे बढाना"; अ० में अत्तुम् (√अद्), कर्तुम् (√कृ), द्रष्टुम् (√दृश्)। तुम् प्रत्यय परे रहते धातु के स्वर को गुण हो जाता है और कुछेक धातुओं से परे इडागम भी होता है; यथा— याचितुम् (√याच्), स्पर्धितुम् (√स्पृध्), खनितुम् (√खन्)। य० की संहिताओं के ब्राह्मणभागों में तथा ब्रा० मे तुम्- प्रत्यय का प्रयोग बहुत बढ़ गया है।

(ख) **अम् प्रत्यय** - जिन तुमर्थक-प्रत्ययान्त रूपों के अन्त में अम् मिलता है वे रूप पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार द्वितीयान्तमूलक है, परन्तु पा० के अनुसार उन के अन्त में णमुल् या कमुल् प्रत्यय आता है[५३] और √शक् का कोई रूप उपपद में प्रयुक्त होता है। इस प्रत्यय के प्रयोग के एक दर्जन से अधिक उदाहरण ऋ० में और बहुत से उदाहरण अ०, य० तथा ब्रा० में मिलते है; यथा— सुमिधम् (ऋ०, सम्+√इन्ध्) "प्रज्वलित करना", संपृच्छम् (ऋ०, सम्+√प्रच्छ्) "पूछना", यमम् (ऋ०) "नियन्त्रित करना", आरभम् (ऋ०, आ+√रभ्) "ग्रहण करना", आरुहम् (ऋ०) "चढ़ना", आविशम् (ऋ०) "प्रविष्ट होना", आसदम् (ऋ०) "बैठना", प्रतिधाम् (अ०, प्रति+√धा) "रखना", विभाजम् (मै० सं०, का० सं०, वि+√भज्) "विभक्त करना", अपलुम्पम् (मै० सं० १,६,५, अप+√लुप्)

(ङ) **असे**— लगभग दो दर्जन से अधिक वैदिक रूपों के अन्त में असे प्रत्यय मिलता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, -अस् अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों से परे चतुर्थी ए० का प्रत्यय ए जोड़ने से ऐसे रूप बनते हैं। पाणिनि अनुबन्ध-भेद से असे, असेन् तथा कसेन् ये तीन प्रत्यय मानता है (टि० ५८)। आद्युदात्त रूपों में नित् (असेन्) प्रत्यय, धातु के अच् में गुणाभाव वाले रूपों में किन् (कसेन्) प्रत्यय, और शेष रूपों में असे प्रत्यय माना जाता है; यथा— १. **असे-प्रत्ययान्त रूप**— अर्हसे 'योग्य होना", चरसे "चलना", जीवसे "जीना", दोहसे "दूध निकालना", भोजसे "उपभोग करना", शोभसे "चमकना", हरसे "हरना"; २. **असेन्-प्रत्ययान्त रूप**— अयसे (ऋ० १,५७,३, √इ) "जाना", चक्षसे "देखना", भरसे "धारण करना"; ३. **कसेन्-प्रत्ययान्त रूप**— ऋचसे "स्तुति करना", भियसे (ऋ०, √भी) "डरना", वृधसे 'बढाना", श्रियसे (√श्रि) "आश्रय लेना"।

(च) **अये**— ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति आधुनिक विद्वान् -अये अन्त वाले (लगभग आधा दर्जन) रूपों को चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्यय से बने हुए समझते हैं। और इन विद्वानों के मतानुसार, ऐसे पद इकारान्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप हैं; यथा— इषये (ऋ० ६,५२,१५) "ताजा करना", तुजये (ऋ० ५,४६,७) "सन्तानोत्पत्ति करना", दृशये "देखना", महये "प्रसन्न होना", युधये "लड़ना", सनये "जीतना", चितये (वा० सं०) "समझना"। परन्तु भारतीय विद्वानों के मतानुसार, ऐसे रूपों में तुमर्थक प्रत्यय नहीं है, अपितु ये नामिक रूप नामों के अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। मैं इस विषय पर भारतीय विद्वानों से सहमत हूं।

(छ) **तये**— ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, -तये अन्त वाले पांच-छः वैदिक रूप तुमर्थ में प्रयुक्त होते है और इन विद्वानों का मत है कि ऐसे पद ति- प्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिकों के च० ए० के रूप हैं; यथा— इष्टये (√इष्+ति) "ताज़ा करना",

ऊतयें (√अव् + ति) "सहायता करना", पीतयें (√पा+ति) "पीना", वीतयें 'उपभोग करना', सातयें (√सन्+ति) "जीतना"। परन्तु भारतीय मत के अनुसार, ये सब रूप तुमर्थ में नहीं अपितु नामों के अर्थ में प्रयुक्त होते है, और यही मत साधीयस् है।

(ज) **तवे**— ३० से अधिक वैदिक रूपों मे तुमर्थक तवे प्रत्यय मिलता है। पा० के मतानुसार (टि० ५८), अनुबन्ध-भेद से तवेन् तथा तवेङ् ये दो प्रत्यय प्रयुक्त होते है। जिन रूपों में धातु के स्वर को गुण नही होता है और य् व् र् को सम्प्रसारण होता है उन में तवेङ् प्रत्यय माना जाता है; यथा— √सू से सूतवे "उत्पन्न करना", आ+√वे से ओतवे "बुनना"। अन्य आद्युदात्त रूपों में तवेन् प्रत्यय माना जाता है; यथा— अत्तवे "खाना", अष्टवे (√अश्) "प्राप्त करना", एतवे (√इ) "जाना", कर्तवे "करना", गन्तवे तथा गातवे "जाना", दातवे "देना", प्रतिधातवे "रखना", धातवे (√धे) "स्तन से दूध पीना", पातवे "पीना", भर्तवे "ले जाना", मन्तवे "मनन करना", यष्टवे "यज्ञ करना", यातवे "जाना", योतवे (√यु) "दूर करना", वक्तवे "बोलना", वस्तवे (√वस्) "चमकना", वातवे (अ०, √वे) "बुनना", वोळ्हवे (√वह्) "ले जाना", स्तोतवे "स्तुति करना", हन्तवे "मारना", सर्तवे (√सृ) "बहना"। कुछेक रूपों में प्रत्यय को इडागम भी होता है; यथा— अवितवे (√अव्) "रक्षा करना", चरितवे "चलना", सवितवे (√सू) "उत्पन्न करना", हवितवे (√ह्वे) "बुलाना"।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, -तु अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों से ऐसे रूप च० ए० मे बने है। परन्तु ऐसी कल्पना के लिये कोई ठोस आधार नहीं है क्योंकि इन सब रूपों के -तु अन्त वाले प्रातिपदिक के रूप नहीं मिलते है। मैक्डानल जीवातवे को √जीव् से बना तुमर्थक रूप मानता है। परन्तु उणादि सूत्र १,७९ के अनुसार, √जीव् के साथ आतु प्रत्यय जोड़ने से जीवातु प्रातिपदिक बनता

है, जिस का च० ए० जीवातवे होगा। मोनियर विलियम्स (MWD., s.v.) प्रभृति विद्वान् इसी मत को स्वीकार करते हैं।

(झ) तवै— लगभग एक दर्जन से अधिक रूपों के अन्त में तवै प्रत्यय मिलता है। ऐसे रूपों में पाणिनि तवै प्रत्यय मानता है (टि० ५८), परन्तु मैक्डानल के मतानुसार कृदन्त प्रातिपदिक के अङ्ग के अन्तिम तवा से परे च० ए० के ए प्रत्यय की सन्धि से तवै बनता है। इस प्रत्यय की विशेषता यह है कि तवै- प्रत्ययान्त रूप में धातु तथा प्रत्यय दोनों पर उदात्त रहता है; यथा— एतवै (√इ) "जाना", ओतवै (आ+√वे) "बुनना", गन्तवै "जाना", दातवै "देना", परिधातवै (परि+√धा, अ०) "घेरना", पातवै "पीना", अपभर्तवै "दूर ले जाना", मन्तवै "मनन करना", यमितवै "नियन्त्रित करना", सर्तवै "बहना", सूतवै (अ०) "उत्पन्न करना", हन्तवै "मारना"।

ब्रा० में भी तवै प्रत्यय के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं; यथा— एतवै, यातवै (√या), कर्तवै, दोग्धवै (√दुह्), मन्तवै, मन्थितवै, अतिचरितवै, आनेतवै, संहयितवै।

पा० ३,४,१४ (टि० ५१) के अनुसार, कुछ ऐसे रूपों में तवै प्रत्यय तव्य (कृत्य) प्रत्यय के अर्थ में प्रयुक्त होता है (दे० अनु० ३४६ ग); यथा— कर्तवै (मै० सं० १,६,५)।

(ञ) अध्यै— लगभग ४० रूपों में अध्यै प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। ह्विटने (Skt. Gr., p. 349) इस प्रत्यय के ध्यै को –धि अन्त वाले प्रातिपदिकों के च० ए० का रूप मानता है और आगे चल कर (p. 351) कहता है कि ध्यै से पूर्व सदा अ का आगम होता है। मैक्डानल –ध्या अन्त वाले कृदन्त अङ्ग के साथ च० ए० के प्रत्यय ए की सन्धि द्वारा ध्यै की सिद्धि दिखला कर उस से पूर्व अ का आगम मानता है[५९]।

पाणिनि ने ऐसे रूपों में अनुबन्ध-भेद से निम्नलिखित ६ प्रत्यय

माने हैं (टि० ५८)— अध्यै, अ॒ध्यै॑न्, कध्यै, क्रु॒ध्यै॑न्, शध्यै, श॒ध्यै॑न्। इन अनुबन्धों की विशेषता यह है कि जो प्रत्यय नित् (अध्यैन्, कध्यैन्, शध्यैन्) है उन से बने रूपों में आदि अक्षर पर उदात्त रहता है, कित् प्रत्ययों (कध्यै, कध्यैन्) से बने रूपों मे धातु के स्वर को गुण नहीं होता है, और शित् प्रत्ययों (शध्यै, शध्यैन्) से बने रूपों में धातु का लट् का अङ्ग प्रयुक्त होता है। उदाहरण—(१) अध्यै-प्रत्ययान्त रूप— च॒रध्यै (√चर्) "चलना", ज॒रध्यै (√जॄ) "गाना", त॒रध्यै (√तॄ) "पार करना", ना॒शयध्यै (√नश्+णि) "नाश करना", म॒न्दध्यै "आनन्दित होना", म॒न्दयध्यै "आनन्दित करना", मा॒दयध्यै "मुदित होना", यजध्यै (ऋ०, तै० सं०, वा० सं०) "यज्ञ करना", व॒न्दध्यै "स्तुति करना", व॒र्तयध्यै "मुड़वाना", श॒यध्यै (√शी) "सोना", स॒चध्यै "संयुक्त होना", स्त॒वध्यै "स्तुति करना"; (२) अध्यैन्-प्रत्ययान्त रूप— क्षर॑ध्यै "बहना", गम॑ध्यै "जाना", भर॑ध्यै "ले जाना", यज॑ध्यै (ऋ० ३, १,१ इत्यादि), वह॑ध्यै "ले जाना", सह॑ध्यै "अभिभूत करना"; (३) कध्यै-प्रत्ययान्त रूप— इ॒यध्यै (√इ) "जाना", इ॒षध्यै "ताजा करना", दु॒हध्यै "दोहन करना", धि॒यध्यै (ऋ०)[६०], वृ॒जध्यै (ऋ०) "वर्जित करना", शु॒चध्यै "चमकना", हु॒वध्यै (√ह्वे) "बुलाना"; (४) शध्यै-प्रत्ययान्त रूप—गृणध्यै (ऐ० आ०, √गॄ) "स्तुति करना", पृ॒णध्यै (√पृ) "भरना"; (५) शध्यैन्-प्रत्ययान्त रूप— पिब॑ध्यै (√पा) "पीना"।

द्वित्वयुक्त रूप वा॒वृ॒धध्यै (ऋ०, पपा० व॒वृ॒धध्यै) में भी अध्यै प्रत्यय मिलता है। कध्यैन् प्रत्यय के प्रयोग का उदाहरण मृग्य है। पा० ३,४,९ पर काशि० में कध्यैन् प्रत्यय का प्रयोग दिखलाने के लिये श्रियध्यै उदाहरण दिया गया है, परन्तु इस का वैदिक प्रयोग नहीं मिला है।

नवमोऽध्यायः

(ट) इष्यै—कुछेक वैदिक रूपों में इष्यै प्रत्यय तुमर्थ में आता है (टि० ५५); यथा–√रुह् से रोहिष्यै (तै० सं०, का० सं०) "चढना", अव्यथिष्यै (का० सं०) "व्यथित न होना" । ह्विटने (Skt. Gr., p. 351) तथा मोनियर विलियम्स प्रभृति उपर्युक्त रूपों का प्रयोग तुमर्थ में मानते है। परन्तु मैक्डानल (Ved. Gr., p. 410, f.n. 1) रोहिष्यै को नामिक रूप समझता है। का० सं० के अव्यथिष्यै पद के स्थान पर मै० सं० में अव्यथिषे और वा० सं० में व्यथिषत् पाठ मिलता है।

(ठ) मने, वने—अवैरी, ग्रासमैन, ह्विटने, मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, -मने तथा -वने अन्त वाले निम्नलिखित वैदिक रूप तुमर्थ में प्रयुक्त होते हैं —(१) मने—त्रामणे (√त्रै) "रक्षा करना", दामने (√दा) "देना", धर्मणे (√धृ) "धारण करना", भर्मणे (√भृ) "भरण-पोषण करना", विद्मने "जानना"; (२) वने— तुर्वणे "पार करना", दावने "देना", धूर्वणे "चोट पहुंचाना"। भारतीय विद्वानों के मतानुसार ये सब पद कृदन्त प्रातिपदिकों के च० ए० के रूप हैं।

३४२. पञ्चमीमूलक (Ablative Infinitive) **तथा षष्ठीमूलक** (Genitive Infinitive) **तुमर्थक प्रत्यय**—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, तुमर्थ में प्रयुक्त होने वाले जिन वैदिक पदों के अन्त में अस् तथा तोस् आता है, वे पञ्चमीमूलक तथा षष्ठीमूलक तुमर्थक रूप है।

पा० (३,४,१६-१७) के मतानुसार, भावलक्षण में (जिस से भाव लक्षित होता है उस अर्थ में) विद्यमान कुछ धातुओं से परे तुमर्थ में तोसुन् (तोस्) तथा कसुन् (अस्) प्रत्यय आते हैं (दे० टि० ६१,६३)। मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 194) भी इस मत का समर्थन करता है कि इस प्रकार के रूप वास्तविक तुमर्थक न हो कर मुख्यत: भावात्मक नामों की श्रेणी के है। यही कारण है कि ऐसे वैदिक पदों का व्याख्यान मुख्यत: भावात्मक नामों के समान है और

अनेक भारतीय विद्वान् ऐसे -असु अन्त वाले पदों को क्विबन्त नामों के पं० ए० के रूप भी मानते हैं। परन्तु पा० ३,४,१३ में जिन तोसुन् तथा कसुन् प्रत्ययों का प्रयोग तुमर्थ में बताया गया है, उन से बने रूपों को वास्तविक तुमर्थक माना जा सकता है।

(क) असु— अनेक विद्वान् निम्नलिखित वैदिक पदों के अन्त में तुमर्थक असु प्रत्यय मानते हैं— आतृदः, अवपदः, सम्पृचः, अभिश्रिषः, अभिश्वसः, अतिष्कदः। मैक्डानल के मतानुसार उपर्युक्त छः रूप पञ्चमीमूलक हैं और केवल निमिषः षष्ठीमूलक है। पा० के अनुसार, आतृदः (ऋ०) तथा विसृपः (य०) में भावलक्षण में विद्यमान धातु से परे कसुन् (असु) प्रत्यय आया है[६१]। पा० कहता है कि उपपद में ईश्वर "समर्थ" शब्द आने पर धातु से परे तुमर्थ में तोसुन् तथा कसुन् (असु) प्रत्यय आते हैं[६२]; यथा— ता ईश्वरा एनं प्रदहः (तै० सं० ३,४,९,७) "वे इसे जलाने में समर्थ होती हैं"। ऐसे प्रयोग प्रायेण ब्रा० में मिलते है।

(ख) तोसु— मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, निम्नलिखित पदों के अन्त में तुमर्थ में तोसु प्रत्यय आया है और ये रूप पञ्चमीमूलक है— एतोः (√इ), गन्तोः (√गम्), जनितोः (√जन्), निधातोः (नि+√धा), शरीतोः (√शॄ), सोतोः (√सु "रस निकालना") हन्तोः (√हन्)। मैक्डानल प्रभृति विद्वानों के मतानुसार, निम्नलिखित तोसु-प्रत्ययान्त रूप षष्ठीमूलक है— कर्तोः (√कृ), दातोः (√दा "देना"), योतोः (√यु "पृथक् करना")। पा० के मतानुसार, भावलक्षण में विद्यमान धातुओं (√इ, √कृ, √चर्, √तम्, √वद्, √स्था, √हु) से परे तुमर्थ में तोसुन् (तोसु) प्रत्यय आता है[६३]; यथा— एतोः, कर्तोः, प्रचरितोः (का० सं०, गो० ब्रा०), जनितोः, तमितोः (ब्रा०, √तम् "हांपना"), वदितोः (तै० सं०), संस्थातोः (तै० सं०, का० सं०), होतोः (√हु "होम करना"।

पा० के अनुसार, ईश्वर "समर्थ" शब्द उपपद में होने पर,

धातु से परे तुमर्थ में तोसुन् (तोस्) प्रत्यय आता है (टि० ६२); यथा— ईश्वरः कुलं विक्षोब्धोः (श० ब्रा० १,१,२,२२) "कुल को विक्षुब्ध करने में समर्थ होता है"। ईश्वर शब्द उपपद वाले प्रयोग प्रायेण ब्रा० में मिलते हैं। ऐसे जिन रूपों के साथ √ईश् का कोई भी रूप मिलता है उन्हें वास्तविक तुमर्थक माना जा सकता है; यथा— ईशे योतोः (ऋ० ६,१८,११) "दूर करने में समर्थ होता है", ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः (ऋ० ७,४,६) "अच्छी वीरता वाला धन देने में समर्थ होता है"।

३४३. **सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय** (Locative Infinitive)— अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, लगभग एक दर्जन वैदिक पदों में सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय प्रयुक्त होता है[६४]। इन पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इस तुमर्थक प्रत्यय के निम्नलिखित उदाहरण ऋ० में मिलते हैं—

(क) **हलन्त अङ्ग से बने रूप**— व्युषि "उषा के समय", संचक्षि "देखने पर", दृशि तथा संदृशि 'देखने पर", बुधि "जागने पर"।

(ख) **-तृ अन्त वाले अङ्ग से बने रूप**— धर्तरि तथा विधर्तरि।

(ग) **-सन् अन्त वाले अङ्ग से बने रूप**— नेषणि (√नी), पर्षणि (√पृ "पार करना"), अभिभूषणि (√भू), शूषणि (√श्वि "फूलना"), सक्षणि (√सच्), तरीषणि (√तॄ), गृणीषणि (√गॄ "गाना"), स्तृणीषणि (√स्तॄ)।

भारतीय वैयाकरणों तथा भाष्यकारों के मतानुसार ऐसे रूपों में तुमर्थक प्रत्यय नहीं है और ये कृदन्त प्रातिपदिकों से बने हुए नामिक रूप हैं। ऋ० ४,३७,७ के भाष्य में सायण ने तरीषणि का व्याख्यान "तरीतुम्" अवश्य किया है, परन्तु दूसरे स्थल (ऋ० ५,१०,६ के भाष्य) पर इसी पद का व्याख्यान "तरणे" किया है।

तुम् तथा तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग

३४४. **तुम् तथा तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग**— पाणिनि के मतानुसार, तुम् (तुमुन्) प्रत्यय का प्रयोग मुख्यतया दो प्रकार से होता है — (१) जब किसी क्रिया के लिये दूसरी (क्रियार्था) क्रिया आती है, तब भविष्यत् के अर्थ मे धातु से परे तुम् प्रत्यय प्रयुक्त होता है[६५], यथा— द्रष्टुमा गच्छति (श० ब्रा०) "देखने को आता है"; (२) "इच्छा" अर्थ वाले तथा √अर्ह्, √अस् "होना", √ज्ञा, √धृष्, √शक्, √सह् इत्यादि धातुओं से बने क्रियापदों के उपपद होने पर और सामर्थ्यवाचक तथा कालवाचक शब्दों के उपपद होने पर, धातु से परे तुम् प्रत्यय प्रयुक्त होता है[६६]; यथा— उषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि (ऋ० ५,७९,१०) "हे उषः, तुम्हे और अधिक देना चाहिए"।

यह कहना अनावश्यक है कि जिस अर्थ में तुम् का प्रयोग होता है उसी अर्थ में अम्, तवे, तवै, अध्यै इत्यादि तुमर्थक प्रत्ययो का प्रयोग होता है। अब हम विभक्ति-क्रम के अनुसार इन सब प्रत्ययों के प्रयोग का विवेचन करेगे।

३४५. (क) **द्वितीयामूलक तुम्, अम्** — उपर्युक्त नियम के अनुसार, वाक्य में क्रियार्था क्रिया के आने पर और उपपद में इच्छार्थक तथा √अर्ह्, √शक्, √धृष् इत्यादि धातुओ के रूप का प्रयोग होने पर, धातुओं से परे तुम् प्रत्यय आता है; और तुमन्त धातु की क्रिया का कर्म प्रायेण द्वितीया विभक्ति मे आता है, यथा— को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत् (ऋ० १,१६४,४) "यह पूछने के लिये विद्वान् के पास कौन गया है"; अथ कथा दाक्षिणानि होतुमेति (तै० सं० ६,३,१,६) "तब दक्षिणा-सम्बन्धी पदार्थो का होम करने कैसे जाता है"; द्रष्टुमा गच्छति (श० ब्रा०) "देखने को आता है", न चकमे हन्तुम् (श० ब्रा०) "उस ने मारना नहीं चाहा", मनो वा इमां सद्यः पर्याप्तुमर्हति (तै० सं० ७,३,१,४) "मन इसे तुरन्त प्राप्त कर सकता है"।

नवमोऽध्यायः

(ख) **अम्**— तुमर्थक अम् प्रत्यय का प्रयोग निश्चय ही तुम् प्रत्यय की भांति होता है। परन्तु अम् प्रत्यय का अधिकतर प्रयोग √शक् के किसी रूप के उपपद होने पर होता है (टि० ५३); यथा— शकेम त्वा समिधम् (ऋ० १,९४,३) "हम तुम्हें प्रज्वलित कर सकें (हे अग्ने)", मा शकन्प्रतिधामिषुम् (अ० ८,८,२०) "वे बाण को धनुष पर न रख सकें", तमवरुधं नाशक्नुवन् (तै० सं० ५,४,१,२) "वे उसे न रोक सके"।

इस के अतिरिक्त क्रियार्था क्रिया के उपपद में होने पर और इच्छार्थक तथा √अर्ह्, √विद् इत्यादि धातुओं के रूपों के उपपद मे होने पर भी तुमर्थक अम् प्रत्यय का प्रयोग होता है; यथा— एमि चिकितुषो विपृच्छम् (ऋ० ७,८६,३) "मैं विद्वान् को पूछने जाता हूं", इयेथ बर्हिरासदम् (ऋ० ४,९,१) "तुम यज्ञ-सम्बन्धी कुशाओं पर बैठने गये हो", स वेद देव आनमं देवान् (ऋ० ४,८,३) "वह देव देवों को इधर झुकाना जानता है"।

३४६. **चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्यय**— जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों की संख्या अन्य तुमर्थक प्रत्ययों से बड़ी है, और तदनुसार इन के प्रयोग में कुछ भिन्नता अवश्य है। परन्तु इन तुमर्थक प्रत्ययों के प्रयोग की मुख्य विशेषता यह है कि इन का प्रयोग प्रायेण कर्ता की क्रिया के प्रयोजन को प्रकट करता है। ऐसे तुमर्थक-प्रत्ययान्त धातुओं की क्रिया का कर्म प्रायेण द्वितीया विभक्ति में आता है, परन्तु कहीं-कहीं चतुर्थी में भी मिलता है।

(क) ऐसे अधिकतर तुमर्थक प्रत्यय क्रियार्था क्रिया के उपपद होने पर प्रयुक्त होते हैं; यथा— विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती (ऋ० १,९२,९) "सारे जीवलोक को चलने के लिये जगाती हुई (उषा) आती है"; विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै (ऋ० ७,७७,१) "सारे जीवलोक को चलने के लिये प्रेरित करती हुई (उषा) चमकी है", देवासस्ताँ उप याता पिबध्यै (ऋ० ९,९७,२०) "हे देवो, उन (सोम-रसों) को पीने के लिये आओ",

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे (ऋ० ५,१८,१) "हे नृपति, देवों ने उसे तुझे खाने के लिये नहीं दिया है", अवर्धयन्नहये हन्तवा उ (ऋ० ५,३१,४) "वृत्र को मारने के लिये उन्होंने इन्द्र को (स्तुतियों से) बढाया", तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुम् (ऋ० १०,१४,१२) "सूर्य को देखने के लिये वे दोनों हमें पुनः प्राण प्रदान करें", शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे (ऋ० ५,२,९) "राक्षस को चीरने के लिये वह सींगों को तेज करता है"।

(ख) इच्छार्थक धातु या √विद् "जानना" इत्यादि के उपपद होने पर भी चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है; यथा— कवीँरिच्छामि संदृशे (ऋ० ३,३८,१) "मैं कवियों को देखना चाहता हूं", ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै (ऋ० १.१५४,६) "हम तुम दोनों के उन स्थानों को जाना चाहते है", ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे (ऋ० ८,१८,५) "वे अदिति के पुत्र द्वेषों को दूर हटाना जानते है"।

(ग) कहीं-कहीं तुमर्थक प्रत्यय का प्रयोग कर्मवाच्य में इस प्रकार किया जाता है कि इस से सम्बद्ध धातु के कर्म के साथ द्वितीया विभक्ति आती है और कर्ता के साथ तृतीया या षष्ठी विभक्ति आती है । विशेषतया ए, तवे तथा तवै प्रत्ययों का ऐसा प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्ध में पा० के मतानुसार (टि० ५१), ए (काशि० एश्), केन् (ए), तथा तवै प्रत्ययों का प्रयोग कृत्यों (तव्य इत्यादि) के अर्थ में भी होता है। उदाहरण— शतव्रजा रिपुणा नावचक्षे (ऋ० ४,५८,५) "सौ गतियों वाली (धाराएं) शत्रु के द्वारा देखने के लिये नहीं हैं", अभूदग्निः समिधे मानुषाणाम् (ऋ० ७,७७,१) "मनुष्यों द्वारा प्रज्वलित होने के लिये अग्नि प्रकट हुआ है", न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तत् (ऋ० ४, ५४,४) "दिव्य सविता का वह (तेज) हिंसित करने के लिये नहीं है", स्तुषे सा वां...रातिः (ऋ० १,१२२,७) 'तुम दोनों का वह दान स्तुति करने के लिये है", नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः (ऋ० ७,३३,८) "हे वसिष्ठो, तुम्हारा स्तुतिगान किसी अन्य के द्वारा अनुकरणीय नही है",

इन वर्गों के लिये भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का विधान किया है । परन्तु पाणिनि के कृत्प्रत्ययों के द्वारा सभी आवश्यक वैदिक कृदन्त प्रातिपदिकों का वर्णन नहीं होता है और उणादि प्रत्ययों के द्वारा बहुत से ऐसे वैदिक कृदन्तों का व्याख्यान होता है । वैदिक कृदन्तों के विश्लेपण से स्पष्ट है कि **समान** कृत्प्रत्यय से बनने वाले कुछ रूप कर्तृवाचक और अन्य भाववाचक है । केवल स्वर के भेद से ऐसे रूपों के कर्तृवाच्य या भाववाच्य का बोध होता है । उदाहरणार्थ— √बृह् से ब्रह्मन् नपुं० "मन्त्र" और ब्रह्मन् पुं० "मन्त्र का प्रयोग करने वाला" (ऋत्विज्) । हम अकारादि-क्रम से कृत्प्रत्ययों का वर्णन करेंगे और साथ-साथ उन से बनने वाले रूपों के अर्थ पर विचार करेंगे । यहां पर हम केवल उन कृदन्त प्रातिपदिकों का वर्णन करेंगे जो स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं । जो कृदन्त प्रातिपदिक समासों के उत्तरपद में ही प्रयुक्त होते हैं उन का वर्णन पहले **समास-प्रकरणम्** में किया जा चुका है ।

इन कृत्प्रत्ययों से पूर्व धातुओं में जो विकार होगा वह प्रत्ययों के अनुबन्ध से ज्ञात हो जायगा— अर्थात् कित् तथा ङित् प्रत्यय परे रहते धातु के स्वर को गुण या वृद्धि नही होती है, ञित् तथा णित् प्रत्यय परे रहते धातु के स्वर को वृद्धि होती है, और शेप प्रत्यय परे रहते धातु के स्वर को गुण होता है । अन्तःपदसन्धि के कारण धातुओं के स्वरों या व्यञ्जनों में जो विकार होता है उस का वर्णन अन्तःपद-सन्धि मे देखिये ।

३५१. **धातुमात्र कृदन्त**— वैदिक भापा में ऐसे बहुत से कृदन्त रूप मिलते है जिन में बिना किसी प्रत्यय के केवल धातु मिलता है । ऐसे कृदन्त प्रातिपदिकों में भाववाचक तथा कर्तृवाचक नामों और विशेपणों का समावेश है । इस प्रकार के प्रातिपदिकों में धातु के अन्तिम इ, उ तथा ऋ से परे त् (पा० तुक्) का आगम मिलता है (टि० ३६); यथा— √स्तु से स्तुत् "स्तुति" । इस विधि से बनने वाले जो कृदन्त प्रातिपदिक समासों के उत्तरपद में आते है उन का वर्णन समास-

प्रकरणम् में किया जा चुका है। यहां पर केवल उन कृदन्त प्रातिपदिकों का वर्णन करेंगे जो स्वतन्त्र पदों के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ऐसे रूपों में कोई प्रत्यय नहीं आता है। पाणिनि प्रक्रिया को दिखाने के लिये क्विन्, क्विप्, ण्वि, विच्, विट् इत्यादि प्रत्ययों का विधान करता है जिन का सम्पूर्ण लोप हो जाता है[१७]। ऐसे प्रत्ययों के अनुबन्धों (कित्, नित्, णित्, चित् इत्यादि) द्वारा धातुओं में होने वाले विकार तथा स्वर-स्थान का ज्ञान होता है।

ऐसे एकाच् प्रातिपदिक प्रायेण भाववाचक तथा स्त्रीलिङ्ग के है; यथा—द्युत् "चमक", नृत् "नृत्य", बुध् "जागृति"। परन्तु ऐसे कुछ प्रातिपदिक भाववाचक होने के साथ-साथ कर्तृवाचक भी हैं; यथा—द्रुह् "द्रोह" तथा "द्रोह करने वाला", द्विष् "द्वेष" तथा "द्वेष करने वाला", भुज् "भोग" तथा "भोग करने वाला"। समासों के उत्तरपद में आने वाले ऐसे रूप प्रायेण कर्तृवाचक तथा विशेषण है (दे० अनु० १८४)। द्वित्वयुक्त अङ्ग से बनने वाले ऐसे रूप प्रायेण कर्ता कारक या अन्य किसी कारक के वाचक है[१८]; यथा—√द्युत् से दि॒द्युत् "बिजली या वज्र", √हु से जु॒हू "होम करने का चम्मच", √गम् से जग॑त् "गमनशील प्राणिजात", √गु से जोगू॑ "गाता हुआ", √कित् से चि॒कित् "ज्ञानवान्"।

३५२. अ—धातु के साथ अ कृत्प्रत्यय जोड़ने से भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत से कृदन्त प्रातिपदिक बनते हैं। धातु के साथ अ प्रत्यय जुड़ने से कर्तृवाचक, भाववाचक तथा कर्ता से भिन्न कारकों के वाचक प्रातिपदिक भी बनते हैं। धातु के स्वर में होने वाले विकार और उदात्त के स्थान के अनुसार, इस प्रकार के कृदन्त प्रातिपदिको के अनेक भेद हो सकते हैं। हम ऐसे प्रातिपदिकों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) गुणयुक्त, (२) वृद्धियुक्त, तथा (३) गुण-वृद्धि-रहित कृदन्त प्रातिपदिक।

(क) **गुणयुक्त कृदन्त**— कर्तृवाचक तथा भाववाचक दोनों प्रकार के कृदन्त प्रातिपदिकों में धातु के स्वर को गुण मिलता है। जिन कर्तृवाचक कृदन्त प्रातिपदिकों में धातु के स्वर को गुण और प्रातिपदिक के अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है उन में पा० के अनुसार अच् प्रत्यय है[६९]; यथा— एष (√इष्) "शीघ्रगामी", चोद "प्रेरक", भोज "दानी", मेघ (√मिह्) "वर्षा करने वाला", योध "योधा", वर "वरने वाला", शास "शासक", शोक (√शुच्) "चमकने वाला", सर "बहने वाला"।

जिन भाववाचक या कर्ता से भिन्न कारक के वाचक कृदन्तों में धातु के स्वर को गुण और धातु पर उदात्त मिलता है, उन कृदन्तों में पा० के अनुसार अप् या घञ् प्रत्यय है[७०]; यथा— अय (√इ) "गति", एष (√इष्) "शीघ्रगति", क्रोध, ग्रभ तथा ग्रह "पकड़", चोद "कोड़ा", जोष "भोग", तर "तरण", भोग (√भुज्), वर "वरण", वेद "ज्ञान", शास "शासन", शोक (√शुच्) "चमक", हव "आह्वान"।

स्वर-विषयक अपवाद— अनेक वैदिक कृदन्तों में उपर्युक्त स्वरसम्बन्धी नियम का अपवाद मिलता है। अनेक भाववाचक तथा कर्ता से भिन्न कारक के वाचक कृदन्तों में अ प्रत्यय पर उदात्त मिलता है। ऐसे कृदन्तों के स्वर के समाधान के लिये पा० उन में अच् प्रत्यय मानता है[७१]; यथा— जय "जीत", जव "शीघ्रगति", भय नपुं० (√भी), वर्ष नपुं० (√वृष्), सव (√सु) "रस निकालना", स्मर "स्मरण"। अपवाद-स्वरूप कुछेक कर्तृवाचक कृदन्तों में धातु पर उदात्त मिलता है[७२]; यथा— वेद "ज्ञाता", जन "लोग" इत्यादि। पा० ६,१,२०२ (जयः करणम्) के अनुसार, आद्युदात्त जय कृदन्त करण कारक का वाचक है। काशि० में इस का उदाहरण "जयोऽश्वः" दिया गया है। परन्तु वास्तव में जय संज्ञा वाले मन्त्रों के लिये कृष्णयजुर्वेद की वैदिक संहिताओं में इस कृदन्त का प्रयोग मिलता है और पा० का संकेत उसी

ओर है। रोग (√रुज्) तथा वेश (√विश्) में पा० घञ् (३,३,१६) प्रत्यय मान कर आद्युदात्त का समाधान करता है।

(ख) **वृद्धियुक्त कृदन्त**— जिन कृदन्तों में धातु के अन्तिम स्वर या उपधा के अ को वृद्धि होती है उन में कर्तृवाचक, भाववाचक और कर्ता से भिन्न कारकों के वाचक प्रातिपदिक सम्मिलित है। भाववाचक और कर्ता से भिन्न कारकों के वाचक प्रातिपदिकों की सिद्धि के लिये पाणिनि प्रायेण घञ् प्रत्यय का विधान करता है[७३], और जिन घञन्त कृदन्तों की उपधा में आ है उन के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है[७४]; यथा— कार (√कृ) "स्तोत्र या विजय", भाग (√भज्), भार (√भृ)।

जिन कर्तृवाचक कृदन्तों में उपधा के अ को या धातु के अन्तिम स्वर को वृद्धि मिलती है और अन्तिम अक्षर पर उदात्त है उन में पा० ने ण प्रत्यय मान कर समाधान किया है[७५]; यथा— ग्राह "ग्रहण करने वाला", दाय "दाता", धायः "धाता", द्राव (√द्रु) "अग्नि", नाय (√नी) "नेता", व्याध (√व्यध्)। वार्तिककार ने जार (√जॄ) तथा दार (√दॄ) में घञ् प्रत्यय माना है[७६]।

(ग) **गुण-वृद्धि-रहित कृदन्त**— बहुत से ऐसे कृदन्त मिलते है जिन में धातु के स्वर को गुण या वृद्धि नही होती है और प्रत्यय पर उदात्त रहता है। ऐसे अधिकतर कृदन्त विशेषण हैं जिन में पा० कर्ता कारक में क प्रत्यय मानता है[७७]; यथा— कृश "पतला", गृह (√ग्रह्), ज्ञ (√ज्ञा, श०, ब्रा०) "ज्ञाता", तुद "पीड़ा देने वाला", प्रिय (√प्री), बुध "बुद्धिमान्", वृध "वर्धक", शुच "चमकता हुआ"। समासों के उत्तरपद में ऐसे बहुत से कृदन्त प्रयुक्त होते है[७८]।

(घ) **द्वित्वयुक्त अङ्ग से अ प्रत्यय**— धातुओं के द्वित्वयुक्त अङ्ग (यङ्-लुगन्त) से परे अ (उपर्युक्त पा० क इत्यादि) प्रत्यय जोड़ कर वैदिक-भाषा में बहुत से कृदन्त प्रातिपदिक बनाये जाते हैं; यथा— चचर "चलने वाला", चाक्षम "क्षमाशील", दधृष "बेधड़क", मलिम्लुच

(अ०) "अन्धेरे में घूमने वाला", मरीमृश (अ०) "टटोलता हुआ", रेरिह (अ०) "चाटता हुआ", रोरुद (अ०) "रोने वाला", वव्र (√वृ "ढांपना") "छिद्र", वरीवृत (अ०) "घूमता हुआ", वेविज (√विज्) "शीघ्र", शिशय (√शि) "दृढ़ करता हुआ", शिश्नथ (√श्नथ्) "छिद्र", सस्र (√सृ) "बहता हुआ", सरीसृप (√सृप्) "पेट के बल चलता हुआ"।

लिङ्ग— भय, युग, वर्ष इत्यादि कुछेक अपवादों को छोड़ कर उपर्युक्त अ-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक सामान्यतया पुं० हैं।

स्त्रीलिङ्ग (आकारान्त)— उपर्युक्त अकारान्त प्रातिपदिकों का स्त्री० प्रायेण आ प्रत्यय जोड़ने से बनता है और क्षपा इत्यादि कुछ आकारान्त स्त्री० प्रातिपदिक हलन्त स्त्री० प्रातिपदिकों से बनते है (दे० पृ० २८४, अनु० १३६)। इन के अतिरिक्त कुछ ऐसे भाववाचक कृदन्त भी हैं जो केवल स्त्री० के है; यथा— सन्नन्त, यङ्लुगन्त तथा नामधातु के अङ्ग से परे अ प्रत्यय आने से[७९]— जिगीषा (√जि) "जीतने की इच्छा", बीभत्सा, अश्वया "घोड़े की इच्छा", जीवनस्या (तै० सं०) "जीवन की इच्छा"; अन्य अङ्गों से परे अङ् प्रत्यय आने से[८०]— जरा (√जॄ), कृथा, उपदा, निन्दा।

३५३. अक— अक प्रत्यय के द्वारा कर्तृवाचक पुं० प्रातिपदिक बनते है; यथा (ण्वुल्)[८१]— पावक (√पू) "पवित्र करने वाला", (पाश्चात्य विद्वान् छन्दः के औचित्य की दृष्टि से इस का शुद्ध उच्चारण पवाक मानते है); (ष्वुन्)[८२]— गणक (वा० सं०) "ज्योतिषी"; (वुञ्)[८३]— अभिक्रोशक (वा० सं०) "बुराई करने वाला", पीयक (अ०, √पीय्) "गाली देने वाला"।

३५४. (क) अत (अतच्- उणादि ३,११०-१११)— यह प्रत्यय प्रायेण अनीय प्रत्यय के अर्थ में आता है; यथा— दर्शत "दर्शनीय", पचत "पका हुआ", पृषत (वा० सं०) "मृग", भरत "भरण करने योग्य", यजत "यजनीय", रजत (√रञ्ज्) "चांदी", हर्यत (√हर्य नामधातु) "वाञ्छनीय"।

(ख) अत् (अति- उणादि २,८४-८५)— शतृ प्रत्यय से बनने वाले पूर्वोक्त रूपों के अतिरिक्त, अत् (उणादि अति) प्रत्यय से भी कुछ वैदिक कृदन्त बनते हैं, जिन में प्रत्यय पर उदात्त रहता है; यथा— पृषत् "श्वेत धब्बों वाला", बृहत् "विशाल", महत् "बड़ा", वहत् (ऋ०) "नदी", वाघत् "ऋत्विज्, स्तोता या मेधावी"।

(ग) अति— अति प्रत्यय से निम्नलिखित कृदन्त प्रातिपदिक बनते हैं— (अति- उणादि ४,५९)— अमति (√अम्) "रूप, कान्ति", रमति (अ०) "रमणीय स्थान"; (अतिच्- उणादि ४,६०)— अरति (√ऋ) "शीघ्रगामी, अनुचर, अधिपति", दृशति "दर्शन", मिथति (√मिथ्) "संगम, विरोध", वसति "निवास-स्थान"; अंहति (√हन्, उणादि ४,६२) "संकट"; (अतिन्- उणादि ४,६३)— रमति (अ०, तै० सं०) "एक स्थान पर ठहरना पसन्द करने वाली", अमति (√अम्) "निर्धन"।

(घ) अतु (चतु- उणादि १,७७)— एधतु "समृद्धि", वहतु "विवाह, बारात, दहेज"।

(ङ) अत्र (अत्रन्- उणादि ३,१०५)— अमत्र (√अम्) "दृढ़, महान्, पात्र", नक्षत्र (√नक्ष् "पास पहुंचना"), पतत्र "पांख", यजत्र "यजनीय", वधत्र "वध करने का अस्त्र"; (अत्रच्- उणादि ३, १०७)— वरत्र तथा वरत्रा (√वृ) "चमड़े का तस्मा, इत्यादि"; (कत्र- उणादि ३,१०८-१०९)— सुविदत्र तथा सुविदत्रा (√विद् "पाना") "अच्छा धन देने वाला", कृन्तत्र (√कृत्) "खण्ड, अरण्य, पर्वतरन्ध्र"।

(च) अत्रि (उणादि ४,६९)— अर्चत्रि "स्तुति-गान करता हुआ"।

(छ) अथ (उणादि ३,११३-११६)— अयथ (ऋ०) "पांव?", चरथ "गमनशील, गति", त्वेषथ (ऋ०, √त्विष्) "तेज, उग्रता", प्राणथ (य०, प्र+√अन्) "श्वास", प्रोथथ (ऋ०, √प्रुथ्) "हिनहिनाहट", यजथ "यजन", रवथ (ऋ०, √रु) "रव, गर्जन", वक्षथ (ऋ०,

√वक्ष्) "वृद्धि", शपथ (√शप्), शयथ (√शी) "गुहा, निवास, शयन", श्वसथ "श्वास, फूत्कार", सचथ "साहाय्य", स्तनथ "गर्जन", स्तवथ "स्तुति", स्रवथ "बहाव"; (अथच्– उणादि ३, ११४.११६)— भरथ (पै० सं०) "भरण करने वाला", आवसथ (अ०) "निवास-स्थान", प्रवसथ "प्रवास, अभाव"; (अथङ्– उणादि ३, ११५)— रुवथ (मै० सं०, का० सं०, √रु) "सांड की आवाज", विदथ "ज्ञान, उपदेश, आदेश, सभा इत्यादि"।

(ज) अथु (पा० ३,३,८९ चित् अथुच् पाठ अग्राह्य है; केवल अथु उपयुक्त है)— एजथु (अ०) "कम्पन", नन्दथु (तै० सं०) "आनन्द", वेपथु "कम्पन", स्तनथु "गर्जन"।

३५५. अन् (कनिन्– उणादि १,१५६–१५९)— चक्षन् (अ०) "आंख", तक्षन् "बढ़ई", पूषन् "पुष्टिकारक देवता", प्रतिदीवन् (√दिव्) "जुआरी", राजन् "नृप", परन्तु राजन् (ऋ० १०,४९,४) "राज्य, समृद्धि", वृषन् "वर्षक"।

३५६. **अन**— अन प्रत्यय से कई प्रकार के कृदन्त बनते है जिन में कुछ कर्तृवाचक और कुछ भाववाचक तथा कर्ता से भिन्न कारकों के वाचक हैं।

(क) **कर्ता कारक में अन**— (ल्यु– पा० ३,१,१३५)— चेतन "ज्ञान कराने वाला", चोदन (य०) "प्रेरक", तपन "जलाने वाला", दमन "दमन करने वाला", दूषण (अ०) "दूषित करने वाला", वर्धन "बढाने वाला", विमोचन "मुक्त करने वाला", संगमन "एकत्र करने वाला"; (युच्– पा० ३,२,१४८–१५१) अन्तोदात्त— करण (ऋ०) "कर्मशील", क्रोशन "चिल्लाने वाला", जागरण "जागने वाला", ज्वलन "जलने वाला", स्वपन (वा० सं०) "स्वप्नशील", त्वरण "शीघ्रता करने वाला", रोचन "चमकने वाला"; (क्यु– उणादि २, ८२, आद्युदात्त प्रत्यय)— किरण (√कॄ) "धूलि, रश्मि", तुरण "शीघ्र गति वाला"; (युु– आद्युदात्त प्रत्यय)— दोहन "दूध निकालने वाला"।

(ख) **समासों के उत्तरपद में**— बहुत से समासों के उत्तरपद में अन-प्रत्ययान्त कृदन्त विशेषणों के रूप में मिलते हैं (पा० ३,२,६५–६६); यथा— कव्यवाहन "पितरों के लिये अन्न को पहुंचाने वाला (अग्नि)", हव्यवाहन "देवों के लिये हवि को पहुंचाने वाला (अग्नि)"।

(ग) **भाव में तथा कर्ता से भिन्न कारकों में अन**— (ल्युट्– पा० ३,३, ११५–११७)—करण, चयन, दान, दोहन, निधान, भोजन, रक्षण, वर्धन, सदन, हवन (√ह्वे) "आह्वान"; (क्यु– उणादि २,८१-८२, आद्युदात्त प्रत्यय)— कृपण "दैन्य, कार्पण्य"।

(घ) **अन-प्रत्ययान्त कृदन्तों से स्त्री० के रूप**— (अन्तोदात्त युच्– पा० ३,३, १०७ तथा इस पर वार्तिक)— अशना "भूख", असना "अस्त्र", जरणा (ऋ०) "बुढापा", द्योतना "द्युति", मनना "भक्ति", रोधना "रुकावट", वेदना "पीड़ा", श्वेतना "उषा", हसना "हंसी"; (युः– आद्युदात्त अन के रूप)— अर्हणा "योग्यता", जरणा (ऋ०) "स्तुति या जीर्णकाष्ठ", तुरणा "शीघ्रता करने वाली", बर्हणा "शक्ति", मन्दना "कान्ति", मंहना "महत्ता, दान इत्यादि", मेहना "प्राचुर्य", वक्षणा "पार्श्व, नदी", वधना "हत्या", वनना "इच्छा"। कतिपय संज्ञावाचक तथा अन्य अन-प्रत्ययान्त कृदन्तों का स्त्री० ई प्रत्यय से बनता है; यथा— अभिषवणी (अ०) "सोम-रस निकालने का पात्र", निर्दहनी (अ०) "जलाने वाली", प्रोक्षणी "पवित्र करने के जल, या इन जलों का पात्र", प्रज्ञानी (अ०) "प्रदीप्ता (दिशा)", विधरणी "धारण करने वाली (समिधा)", संगमनी "एकत्र करने वाली (वाणी या रात्री)", संग्रहणी (अ०) "संगृहीत करने वाली (द्यावा पृथिवी)", स्परणी "रक्षा करने वाली"।

३५७. (क) अनि— (अनि- उणादि २, १०२)— अरणि (√ऋ) "सूखी लकड़ी", अवनि (√अव्) "मार्ग, धारा, भूमि", अशनि (√अश्) "वज्र", चक्षणि "प्रकाशक (सूर्य)", चरणि "गमनशील", तरणि (√तॄ) "शीघ्र", धमनि (√ध्मा) "बजाना, बाजा, नाड़ी", वक्षणि

(ऋ०) "वर्धक", शुरणि (√शॄ) "चोट, अपराध"; सन्नन्त अङ्ग से- रुरुक्षणि (√रुज्) "तोड़ने का इच्छुक", आशुशुक्षणि (ऋ०, य०) "चमकता हुआ", (सायण तथा आधुनिक विद्वान् आ+√शुच् से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं। परन्तु उणादि २,१०३ के अनुसार, यह आ+√शुप् से बना है), सिषासनि (√सन्, ऋ०) "प्राप्त करने का इच्छुक"; (अनिच्- उणादि २,१०६)— द्योतनि "दीप्ति", वर्तनि "मार्ग"; (कनिच्- उणादि २,१०७)— क्षिपणि "शीघ्र गति, सरपट चाल"।

(ख) अनु (कनुच्- उणादि ३,५२)— क्रन्दनु "क्रन्दन करने वाला", क्षिपणु "व्याध", नदनु "गर्जन या गर्जता हुआ"।

३५८. (क) अस् (असुन्- उणादि ४, १८८-२२०)— अस्- प्रत्ययान्त जो कृदन्त प्रातिपदिक नपुं० के हैं और जिन के आदि अक्षर पर उदात्त है उन में औणादिक असुन् प्रत्यय माना जाता है; यथा— अपस् (√आप्) "कर्म", अवस् "अनुग्रह", चेतस् "चेतना", करस् (√कृ) "कर्म", चक्षस् "प्रकाश, आँख", दोहस् "दोहन", प्रयस् (√प्री) आनन्द", महस् "महत्ता", वनस् "इच्छा, प्रियवस्तु", हरस् "क्रोध"।

(ख) अस् (असि- उणादि ४, २२२-२३७)— अन्तोदात्त विशेषण— जो कृदन्त प्रातिपदिक विशेषण है उनके अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है और उन में कर्ता कारक मे अस् (औणादिक असि) प्रत्यय माना जाता है; यथा— अपस् (√आप्) "कर्मशील", महस् "महान्", यजस् "यजनशील", वेधस् (√विध्) "पूजा करने वाला"।

विशेष— ऐसे कुछ अन्तोदात्त रूप भाववाचक हैं; यथा— जरस् पुं० "बुढ़ापा", भियस् पुं० "डर", हुवस् पुं० "आह्वान"।

(ग) अस (असच्- उणादि ३, ११७-१२१)— अतस (√अत्) "सूखा घास", अवस "स्फूर्तिप्रद अन्न", वचस "वाग्मी", मनस "मननशील"।

(घ) असान (असानच्- उणादि २,८६)— शवसान (ऋ०) "बलवान्"; (कसानच्- उणादि २,८७)— मन्दसान, वृधसान, सहसान।

(ङ) असि (असिच्- उणादि ४,१०७)— अतसि (ऋ०, √अत्) "घूमने वाला", धर्णसि (√धृ) "धारण करने वाला" (बल इत्यादि), सानसि (√सन्) "जीतने वाला"।

३५९. (क) आतु (उणादि १,७९)— जीवातु "जीवन"।

(ख) आरु (पा० ३,२,१७३)— वन्दारु "वन्दनशील", शरारु (√शॄ) "हिंसक"।

३६०. इ— कर्ता कारक में, भाव में तथा कर्ता से भिन्न कारकों में इ प्रत्यय आता है। गुण, वृद्धि तथा स्वर आदि की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय विद्वानों ने अनुबन्ध-भेद से इ प्रत्यय के अनेक भेद माने हैं। यहा पर उन सबका पृथक् वर्णन किया गया है।

(क) **समासों के उत्तरपद में कर्ता कारक में इ** (इन्- पा० ३, २,२७)— हविर्मथि (ऋ०) "हवि को नष्ट करने वाला", पथि-रक्षि (ऋ०) "पथ का रक्षक", क्षत्र-वनि (य०) "क्षत्रियों को जीतने वाला", ब्रह्म-वनि (य०) "ब्राह्मणों को जीतने वाला"।

(ख) **लिङ्ग से परे कर्ता कारक में इ** (कि- पा० ३,२,१७१ तथा वार्तिक) अन्तोदात्त— दुदि (√दा) "देता हुआ", तूतुजि (ऋ०) "प्रेरक", पपि (√पा) "पीता हुआ", बभ्रि (√भृ) "ले जाता हुआ", ययि (√या) "गमनशील", वव्रि (√वृ) "ढांपता हुआ", सेदि (√सद्) "थकावट"; आद्युदात्त (किन्- पा० ३, २, १७१ तथा वार्तिक)— चिकित्ति (√कित्) "ज्ञान", चक्रि (√कृ) "कर्मशील", जग्मि (√गम्) "गमनशील", जघ्नि (√हन्) "मारने वाला", जज्ञि (√जन्) "उत्पन्न होता हुआ (बीज)", तर्तुरि[८४] (√तॄ) "विजयी, पार करने वाला", √पॄ या √पृ से पर्पुरि तथा पप्रि (टि० ८४) "दानशील", युयुधि "युद्धप्रिय", सस्नि (√स्नु) "शीघ्र-

गामी", सस्नि (√सन्) "जीतता हुआ", सुष्वि (√सु) "रस निकालता हुआ"; दीर्घ अभ्यास वाले अङ्ग से परे इ (किन् पा०)— तातृपि "तृप्त करने वाला", तूतुजि, यूयुवि "दूर करता हुआ", यूयुधि "युद्धप्रिय", वावहि (√वह्) "अच्छी प्रकार ले जाने वाला"।

(ग) **समास के उत्तरपद में भाव तथा कर्ता से भिन्न कारक में इ** (कि- पा० ३,३,९२-९३)— आदि (ब्रा०, आ+√दा) "प्रारम्भ", अन्तर्धि (अ०) "लोप", निधि "खजाना", परिधि "घेरा", प्रतिष्ठि (ऋ०) "प्रतिष्ठाश्रय (सायण), विरोध (MWD)"।

(घ) इ (इन्- उणादि ४, ११७-११८)— आद्युदात्त- जनि (√जन्) "जाया", दूषि (अ०) "दूषित करने वाला", महि "महान्", यति (√यत्), रोपि (अ०, √रुप्) "पीड़ा", पति (√पत् "स्वामी होना"), वेदि (√विद् "पाना") "यज्ञ-स्थान", हरि (√हृ) "हरण-शील" (रश्मि, अश्व, इत्यादि)।

(ङ) इ (किन्- उणादि ४,११९-१२३)— रुचि "चमक", त्विषि "कान्ति", गृभि (अ०) "ग्रहण करने वाला", भृमि (√भ्रम्) "भ्रमणशील, भ्रामक, इत्यादि", शुचि "चमकता हुआ"।

(च) इ (इञ्- उणादि ४ १२४-१२८)— कार्षि (वा० सं०, √कृष्) "कर्षण", ग्राहि "ग्रहण", ध्राजि (√ध्रज्) "गति", नाभि (√नह्), कारि (वा० सं०) "उपहास या स्तुति करने वाला"।

(छ) इ (इण्- उणादि ४,१२९-१३७)— आजि (√अज्) "दौड़, संग्राम", आति (√अत्) "पक्षिविशेष", पाणि (√पण्) "हाथ"। पा० ३, ३,१०८ पर वार्तिक में आजि, आति, आदि में इञ् प्रत्यय माना गया है।

(ज) इ (उणादि ४,१३८-१४०)— अरि (√ऋ) "शत्रु", अर्चि (√ऋच्) "किरण", कृषि, क्रीडि "खेल", खनि (अ०) "खोदने वाला", ध्वनि, वनि (अ०) "इच्छा", शोचि (अ०) "गर्मी", सनि "प्राप्ति"।

(झ) इ (इक्- उणादि ४, १४१-१४२; पा० ३, ३, १०८ पर वा०)— नृति "नर्तन", भुजि "भोग या भोक्ता", भूमि (ऋ०) "क्षिप्रकारिता या भ्रमणशील"।

३६१. (क) इत् (इति- उणादि १,९७-९८)— य़ोषित् (√युप्? √यु ?) "युवति", रोहित् (√रुह्) "रक्त वर्ण का हिरण या घोड़ा" (निघण्टु १,१३— "नदियां"), सरित् "नदी", हरित् (√हृ) "हरण-शील, हरित-वर्ण"।

(ख) णिजन्त अङ्ग से इत्नु (इत्नुच्- उणादि ३,२९)— पोषयित्नु "पुष्टिकारक", स्तनयित्नु "गर्जता हुआ (मेघ)", मादयित्नु "मस्त करता हुआ"।

(ग) इत्र (पा० ३,२,१८४-१८६; उणादि ४,१७०-१७३)— यह प्रत्यय प्रायेण करण कारक में और कतिपय उदाहरणों में कर्ता कारक में आता है। वास्तव में यह इडागम सहित त्र प्रत्यय का ही भेद है; यथा— अशित्र (√अश्) "भोजन", खनित्र "कुदाल", पवित्र (√पू) "शुद्ध करने का साधन (छलनी, दर्भ का तिनका)"।

(घ) इन्— तद्धित इन् प्रत्यय का प्रयोग अधिक मिलता है, परन्तु कृत् इन् प्रत्यय के प्रयोग के भी कुछ उदाहरण वैदिक भाषा में मिलते हैं। कृत् इन् प्रत्यय के प्रयोग के अधिकतर उदाहरण उन कृदन्तों में मिलते हैं जो समासों के उत्तरपद में आते है।

इन् (णिनि- पा० ३,१,१३४;३,२,७८-८६; घिनुण्- पा० ३,२,१४१-१४५; इनि- पा० ३,२,९३.१५७)— अर्चिन् "चमकता हुआ", मदिन् "मस्त करने वाला", केवलादिन् (ऋ०) "अकेला खाने वाला", भद्रवादिन् "भला बोलने वाला", नितोदिन् "चुभने वाला", अनामिन् (√नम्) "न झुकने वाला", सोमविक्रयिन् "सोम-विक्रेता"।

(ङ) इमन् (इमनिच्- उणादि ४,१४७)— जरिमन् (√जृ) "बुढापा", प्रथिमन् "विशालता", महिमन् "महिमा", वरिमन् "विशालता",

"शत्रुता करने वाला", चरण्यु "चलने वाला", अस्मयु "हमें चाहने वाला", देवयु 'देवों को चाहने वाला", मनस्यु "इच्छुक", वसूयु "धन का इच्छुक"।

३६३. (क) उक (उकञ्- पा० ३,२,१५४)— घातुक (अ०) "घातक"; ब्रा० में— क्षोधुक "भूखा", नाशुक "नाशवान्", वादुक (√वद्), हारुक (√हृ)।

(ख) उन (उनन्- उणादि ३,५३-५४)— तरुण (√तॄ) "युवा", धरुण (√धृ) "धारण करने वाला", वरुण (√वृ "ढांपना")।

(ग) उस् (उसि- उणादि २,११५-११६) अन्तोदात्त— जनुस् "जन्म", जयुस् "विजयी", वनुस् 'उत्सुक, हिंसक", विदुस् "सावधान"; (उसिन्- उणादि २,११७-१२०) आद्युदात्त— अरुस् "घाव", आयुस् (√इ) "जीवन", चक्षुस् "आंख", तपुस् "गर्मी", तरुस् "युद्ध", धनुस् "धनुष", यजुस् "यजन का मन्त्र, यजन", वपुस् "आश्चर्य, आश्चर्यमय", शासुस् "शासन", मनुस् "मन"।

३६४. (क) त (क्त) प्रत्यय से भी भाववाचक नपुं० प्रातिपदिक बनते हैं; यथा— घृत "घी", जीवित "जीवन"।

(ख) त (तन्- उणादि ३,८६) आद्युदात्त— मर्त "मनुष्य", गर्त "गढा", वात "वायु", हस्त "हाथ"; (क्त- उणादि ३,९०)— दूत (√दु या √दिव् ?), सूत (√सू ?) "कोचवान"; (इतन्- उणादि ३,९३-९४)— असित "काला", रोहित तथा लोहित "लाल", हरित "हरा"; (कित- उणादि ३,९५)— पिशित "आभूषित, मांस-खण्ड"।

(ग) ति (क्तिन्–पा० ३,३,९४-९५) आद्युदात्त भाववाचक स्त्री० कृदन्त— इष्टि "यज्ञ", गति, गुप्ति, वृद्धि, उक्ति, शान्ति (√शम्), भूति; (क्ति- पा० ३,३,९६-९७) अन्तोदात्त— इष्टि (√इष्) "इच्छा", ऊति (√अव्) "रक्षा, अनुग्रह", कीर्ति (√कॄ "स्तुति करना") "स्तुति", जूति "शीघ्रता, प्रेरणा", पीति "पान", पूर्ति (√पॄ) "पुरस्कार, पूर्णता", भक्ति "विभाजन", मति (√मन्)

"विचार", भूति (ऋ०) "ऐश्वर्य", राति "दान", साति (√सन्) "लाभ"।

(घ) तु (तुन्- उणादि १,६९-७१.७६)—पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रकल्पित चतुर्थीमूलक तुमर्थक तु- प्रत्ययान्त रूपों के आधार ये कृदन्त हैं। उदाहरण— गन्तु "गमन", ओतु (√वे) "वाना बुनना", क्रतु (√कृ) "सामर्थ्य", तन्तु (√तन्), दातु "दान", दातु (√दो) "विभाजन", धातु (√धे) "पेय", धातु (√धा) "तत्त्व", मन्तु "विचार देने वाला", वस्तु (√वस् "चमकना") "प्रातः काल", वास्तु (√वस् "रहना") "घर", सेतु (√सो "बांधना") "बांध"।

(ङ) तु (क्तु- उणादि १,७२-७५)— अप्तु (√आप् या *√अप्) "ह्रस्व, व्याप्त होने वाला", अक्तु (√अञ्ज्) "किरण", गातु "मार्ग", जन्तु "प्राणी", हेतु (√हि) "प्रेरक", ऋतु (√ऋ)।

३६५. तृ (तृच्- पा० ३,१,१३३) कर्ता कारक में— कर्तृ, दातृ "देने वाला", नेतृ "नेता", भेत्तृ "भेदन करने वाला"; (तृन्- पा० ३, २,१३५ तथा वार्तिक) आद्युदात्त— जेतृ "जीतता हुआ", दातृ "देता हुआ", श्रोतृ "सुनता हुआ"।

विशेष— तृच्- प्रत्ययान्त कृदन्त का कर्म षष्ठी में और तृन्- प्रत्ययान्त का कर्म द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त होता है।

३६६. (क) त्नु (क्त्नु- उणादि ३,३०-३१)— कृत्नु "कर्मशील", हत्नु "घातक", जिगत्नु "शीघ्रगामी", जिघत्नु (√हन्) "मारता हुआ"।

(ख) त्र (ष्ट्रन्- पा० ३,२,१८१-१८३; उणादि ४,१५८-१६२.१६७-१७०) आद्युदात्त— क्षेत्र (√क्षि "रहना") "खेत", गात्र "शरीरावयव", ज्ञात्र (य०, √ज्ञा) "विज्ञान-सामर्थ्य", कत्र (अ०) "सिद्धिकारक मन्त्र", अत्र (ऋ०, √अद्) "भोजन", जैत्र (√जि) "विजयी", मन्त्र "मनन का साधन", श्रोत्र "कान"; स्त्री० कृदन्त आद्युदात्त (त्रन्- उणादि ४,१६७)— मात्रा (√मा), अष्ट्रा (√अज् या √अश्?) "सांटा", होत्रा (√हु) "यज्ञ"; अन्तोदात्त कृदन्त (क्त्र

विशेष (रुलाने वाला)", उस्र (√वस् "चमकना") 'चमकता हुआ (सूर्य)", शुक्र "बलवान्", शुक्र (√शुच्) "चमकता हुआ", हिंस्र "हिंसक"; (क्रन्- उणादि २,२४-२६; रन्- २,२७-२८) आद्युदात्त— अज्र "खेत", इन्द्र "देव-विशेष", गृध्र "लोभी", धीर "बुद्धिमान्", रन्ध्र "थोथा, छिद्र", वप्र "प्रेरणा-युक्त", शूर (√श्वि) "बलवान्"।

(ख) रि (क्रि- उणादि ४,६४)—सूरि (√सू) "प्रेरक, स्तोता, इत्यादि"; (क्रिन्- उणादि ४,६५-६६) आद्युदात्त— उस्रि (√वस् 'चमकना") "उषा", भूरि "अधिक", वध्रि "क्लीव, निष्फल", शुभ्रि "शोभायमान"।

(ग) रु (पा० ३,२,१५९; उणादि ४,१०१-१०२; क्रु- पा० ३,२,१७४)— धारु (√धे) "स्तन का दूध पीने वाला", पेरु (√पी) "फूलाने वाला", भीरु "डरपोक"; (क्रुन्- उणादि ४,१०३) आद्युदात्त— अश्रु "आंसू", शत्रु "मारने वाला"।

३७२. (क) व (उणादि १,१५१-१५२)— ऋक्व (√ऋच्) "स्तुति करता हुआ", ऋष्व (√ऋष् ?) 'उच्च", तक्व (√तक्) "शीघ्रगामी, व्याप्तिमान्", पक्व (√पच्) "पका हुआ", यह्व (√यह्) "आशु", रण्व (√रण्) "रमणीय"; (क्वन्- उणादि १,१५१) आद्युदात्त— अश्व (√अश्) "घोड़ा", ऋभ्व (√ऋभ् या √रभ् ?) "दक्ष", पीव (√प्याय्) "मोटा", प्रुष्व (√प्रुष्) "वर्षक", विश्व (√विश्) "सब", सर्व (√सृ) 'सब"; (वन्- उणादि १,१५०) गुणयुक्त आद्युदात्त— एव (√इ) "गतिशील", शेव (√शी) "सुख-प्राप्ति"।

(ख) वन् (क्वनिप्- पा० ३,२,७४-७५.९४-९६; उणादि ४,११३-११६) आद्युदात्त—प्रातरित्वन् (√इ) "प्रातः जाने वाला", ऋक्वन् (√ऋच्) "स्तोता", कृत्वन् "कर्मशील", जित्वन् "विजयी", दृश्वन् "द्रष्टा", द्रुह्वन् "द्रोही", पीवन् (√प्याय्) "मोटा", युध्वन् "योद्धा", सृत्वन् "बहने वाला", संभृत्वन् (√भृ) "एकत्र करने वाला";

(ङ्वनिप्– पा० ३,२,१०३)— यज्वन् "यज्ञ करने वाला", –सुत्वन् (√सु) "रस निकालने वाला", (वनिप्– पा० ३,२,७४-७५; उणादि ४,११२)— विजावन् (√जन्) "उत्पन्न होने वाला (पुत्र)", अग्रेयावन् (√या) "आगे जाने वाला", पत्वन् (√पत्) "उड़ने वाला", भूरिदावन् (√दा) "बहुत देने वाला", घृतपावन् (√पा) "घी पीने वाला", रावन् (√रा) "देने वाला", शक्वन् "समर्थ", विवस्वन् (√वस्) "चमकता हुआ"।

(ग) **वनि**— तुर्वणि (√तुर्) "शीघ्रगामी", भुर्वणि (√भुर्) "द्रुत गति वाला"; द्वित्वयुक्त अङ्ग से— ऋ० में जुगुर्वणि (√गुर् या √जॄ?) "स्तुति करता हुआ", तुतुर्वणि (√तुर्) "शीघ्रता करता हुआ", दधृष्वणि (√धृष्) "प्रगल्भ", शुशुक्वनि (√शुच्) "चमकता हुआ", अर्हरिष्वणि (ऋ० १,५६,४; √हृष्+यङ्लुगन्त SPW.; √ऋ+√हृ+√स्वन् सायण) "अतिहृष्ट ?"

(घ) **वर** (वरच्– पा० ३,२,१७५)— इत्वर (√इ) "गमनशील", ईश्वर "समर्थ, स्वामी" निषद्वर (नि+√सद्, वा० सं०— उणादि २, १२३) "बैठा हुआ", भास्वर (ब्रा०) "चमकता हुआ", व्यध्वर (√व्यध्, अ०) "बींधने वाला (कीड़ा)", स्थावर (√स्था) "स्थिर"; यङ्लुगन्त अङ्ग से— यायावर (√या पा० ३,२,१७६) "घुमक्कड़"; (क्वरप्- पा० ३,२,१६३) आद्युदात्त— इत्वर (√इ) "गमनशील", पीवर (√प्याय्) "मोटा", सृत्वरी (ऋ०, स्त्री०) "बहती हुई"; (वरन्–) आद्युदात्त— कर्वर (√कृ उणादि २,१२२) "कर्म", गह्वर (√गह्, उणादि ३,१) "गहरा", फर्वर (ऋ०, √फर् ?) "बोने वाला या बखेरने वाला"।

(ङ) **वि** (क्विन्– उणादि ४,५४-५६) आद्युदात्त— घृष्वि (√घृष्) "प्रसन्न, गमनशील", जिर्वि (√जॄ) "जीर्ण"; द्वित्वयुक्त अङ्ग से— जागृवि (√गृ) "जागता हुआ, सावधान", दाधृवि (√धृ) "धारण करने वाला", दीदिवि (√दिव्) "चमकता हुआ"।

नवमोऽध्यायः

३७३. (क) सनि— पुर्षणि (√पॄ, ऋ० १,१३१,२) "पार करने वाला", सक्षणि (√सह्) "अभिभूत करने वाला"; (सनिच्) अन्तोदात्त— पुर्पणि "गमनशील" (मनुष्य, इत्यादि)।

(ख) सर (सरन्- उणादि ३,७०)— वत्सर (√वस्) "वर्ष"; (सरच्- उणादि ३,७२) अन्तोदात्त— मत्सर (√मद्) "मस्त करने वाला"।

(ग) स्न (क्स्न- उणादि ३,१६-१९)— कृत्स्न (√कृ ? या √कृत् ?) "समग्र", तीक्ष्ण (√तिज्) "तेज", देष्ण (√दा) "दान", गेष्ण (ऐ० आ०, √गै) "गवैया"।

(घ) स्नु (क्स्नु- पा० ३,२,१३९ तथा वार्तिक)— जिष्णु "विजयी", दंक्ष्णु (वा० सं०, √दंश्) "डंक मारने वाला", निपत्स्नु (√नि+√सद्) "बैठा हुआ", भूष्णु (का० सं०, ब्रा०) "समृद्ध होता हुआ"।

टिप्पणियां

१. पा० ३,२,१२४— लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे।

२. पा० ७,१,७०— उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः। दे० पृ० २५९, अनु० १२५।

३. पा० ७,१,७८— नाभ्यस्ताच्छतुः। दे० पृ० २६१।

४. पा० ७,२,८२— आने मुक्।

५. पा० ७,२,८३— ईदासः।

६. पा० ३,३,१४— लृटः सद्वा।

७. पा० ३,२,१०७— क्वसुश्च।

८. पा० ६,४,६४— आतो लोप इटि च।

९. पा०६,१,१२—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च।

१०. पा० ३,२,१०६—लिटः कानज्वा।

११. पा० ३,२,१०२—निष्ठा। ३,४,७०—तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः।

१२. पा० ३,४,७१-७२—आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च। गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च॥

१३. पा० ७,४,४०—द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति; ४१—शाछोरन्यतरस्याम्; ४५—सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च।

१४. पा० ७,४,४२—दधातेर्हि।

१५. पा० ७,४,४६—दो दद् घोः।

१६. पा० ७,४,४७—अच उपसर्गात्तः।

१७. पा० ६,३,१२४—दस्ति।

१८. पा० ६,४,३४—शास इदङ्हलोः।

१९. पा० ६,४,१९-२०—च्छ्वोः शूडनुनासिके च। ज्वरत्वरश्रिव्यविमवामुपधायाश्च।

२०. पा० ७,२,१८.२७।

२१. दे० MWD., *s.v.*; वै० प० को०।

२२. पा० ८,२,४२—रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः।

२३. पा० ८,२,५६-५८.६१।

२४. पा० ८,२,४३—संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः।

२५. पा० ८,२,४७—श्योऽस्पर्शे।

२६. पा० ८,२,४४-४५ - ल्वादिभ्यः। ओदितश्च।।

२७. पा० ८,२,४८—अञ्चोऽनपादाने।

२८. पा० ८,२,४६—क्षियो दीर्घात्।

२९. पा० ८,२,६०—ऋणमाधमर्ण्ये।

३०. पा० ३,४,६७—कर्तरि कृत्।

३१. पा० ३,४,२१—समानकर्तृकयोः पूर्वकाले।

नवमोऽध्यायः

३२. पा० ७,४,४३-४४— जहातेश्च क्त्वि । विभाषा छन्दसि ॥

३३. पा० ७,१,४७— क्त्वो यक् ।

३४. पा० ७,१,४९— स्नात्व्यादयश्च ।

३५. पा० ७,१,३७— समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ।

३६. पा० ६,१,७१— ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ।

३७. पा० ७,१,३८— क्त्वापि छन्दसि ।

३८. पा० ३,४,२२-६४ ।

३९. पा० ३,१,९५-९७— कृत्याः प्राङ् ण्वुलः । तव्यत्तव्यानीयरः । अचो यत् ॥ ३,३,१६९— अर्हे कृत्यतृचश्च; १७१—कृत्याश्च; १७२— शकि लिङ् च ॥

४०. Skt. Gr., p. 345; Ved. Gr., p. 406; Ved. Gr. Stu., p. 186; Skt. Lg., p. 370; Gr. Lg. Ved , p. 308.

४१. पा० ६,१,७९-८०— वान्तो यि प्रत्यये । धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥

४२. पा० ६,१,८१-८३— क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । क्रय्यस्तदर्थे । भय्यप्रवय्ये च छन्दसि ॥

४३. पा० ३,१,९८-१०५— पोरदुपधात् । शकिसहोश्च । गदमदचरयमश्चानुपसर्गे । अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु । वह्यं करणम् । अर्यः स्वामिवैश्ययोः । उपसर्या काल्या प्रजने । अजर्यं संगतम् ॥ पा० ३,१, ९७ पर वार्तिक (काशि०)— तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम् । पा० ३,१,१२३ ।

४४. पा० ३,१,१०३ पर वार्तिक (काशि०)— यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम् ।

४५. पा० ३,१,१२४— ऋहलोर्ण्यत् ।

४६. पा० ३,१,१२५-१२६— ओरावश्यके । आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च ॥

४७. पा० ३,१,१०६-१३३ ।

४८. पा० ३,१,१२७-१३१।

४९. Skt. Gr., p. 347; Ved. Gr., p. 406.

५०. ह्विटने (Skt. Gr., p. 347) तथा मैक्डानल (Ved. Gr., p. 407) इस में आय्य प्रत्यय मानते है, जबकि वै० प० को० के अनुसार इस में √ह्वि+ण्यत् है।

५१. पा० ३,४,१४-१५— कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः। अवचक्षे च॥ उणादि सूत्र ३,९८।

५२. Skt. Gr., pp. 347 ff.; Ved. Gr., pp. 407 ff.; Ved. Gr. Stu., pp. 109 ff.; Skt. Lg., p. 364; Gr. Lg. Ved., pp. 309 ff.

५३. पा० ३,४,१२— शकि णमुल्कमुलौ।

५४. पा० ३,४,११—दृशे विख्ये च। इस पर काशि०—"दृशेः के प्रत्ययः"।

५५. पा० ३,४,१०— प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै।

५६. Ved. Gr., p. 410; Ved. Gr. Stu., p. 193.

५७. वै० प० को० में पा० ३,४,९ के आधार पर साढ्यै में ध्यैन् प्रत्यय माना गया है। परन्तु पा० ३,४,९ में किसी ध्यैन् प्रत्यय का विधान नहीं है। पा० ६,१,११३ पर काशि० इस में क्त्वा के स्थान पर ध्यैन् प्रत्यय मानती है और सि० कौ० पर मनोरमाटीका में भी काशि० के मत का समर्थन मिलता है। ह्विटने (Roots, p. 185) साढि प्रातिपदिक से और मैक्डानल (Ved. Gr., p. 410 f.n. 1) भी √सह्+ति के द्वारा बने प्रातिपदिक से साढ्यै की सिद्धि मानते हैं। Ved. Gr. Stu., p. 193 में मैक्डानल इस रूप में √सह्+ध्यै प्रत्यय मानता है। और ह्विटने ने अन्यत्र (Skt Gr., p. 351) इस में त्यै प्रत्यय माना है। वैदिक व्याकरण के प्रथम भाग (पृ० १३७, १८२, टि० १७५ क) मे मैंने भी पूर्वाचार्यों के मतानुसार इस में ध्यै प्रत्यय माना था। परन्तु अब मै √सह्+त्यै प्रत्यय मानने वाले मत को साधीयस् समझता हूं।

नवमोऽध्यायः

५८. पा० ३,४,९— तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ।

५९. Ved. Gr., p. 410; Ved. Gr., Stu., p. 193.

६०. ग्रासमैन, ह्विटने, मोनियर विलियम्स तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इस रूप में √धा "रखना" मानते हैं, परन्तु वै० प० को० के मतानुसार इस में √धी है ।

६१. पा० ३,४,१७—सृपितृदोः कसुन् ।

६२. पा० ३,४,१३—ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ।

६३. पा० ३,४,१६—भावलक्षणे स्थेण्कृञ्-वदि-चरि-हु-तमि-जनिभ्यस्तोसुन् ।

६४. Avery, p. 276; Skt. Gr., pp. 351, 354; WZR.; Ved. Gr., p. 411; Ved. Gr. Stu., p. 195.

६५. पा० ३,३,१०— तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ।

६६. पा० ३,३,१५८;३,३,१६७;३,४,६५-६६ ।

६७. पा० ३,२,५८-६२; १७७-१७९; उणादि २,५८-६३

६८. पा० ३,२,१७८ पर वार्तिक ।

६९. पा० ३,१,१३४— नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ।

७०. पा० ३,३,५७-८७ अप् ; ३,३,१२०-१२१ घञ् ।

७१. पा० ३,३,५६— एरच् ।

७२. पा० ६,१,२०३— वृषादीनां च ।

७३. पा० ३,३,१८-४२;४५-५५;१२०-१२५ ।

७४. पा० ६,१,१५९— कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ।

७५. पा० ३,१,१३९— १४३ ।

७६. पा० ३,३,२० पर वार्तिक (काशि०) "दारजारौ कर्तरि णिलुक् च" ।

७७. पा० ३,१,१३५.१४४ ।

७८. पा० ३,१,१३६; ३,२,३-७.७७ ।

७९. पा० ३,३,१०२-१०३ ।

८०. पा० ३,३,१०४-१०६ ।

८१. पा० ३,१,१३३— ण्वुल्तृचौ ।

८२. पा० ३,१,१४५— शिल्पिनि ष्वुन् ।

८३. पा० ३,२,१४६-१४७ ।

८४. पा० ७,१,१०३— बहुलं छन्दसि ।

नवमोऽध्यायः

न निपात के प्रयोग की यह विशेषता है कि वेदों में यह निपात निषेध तथा उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब यह निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो यह जिस का निषेध करता है उस से पहले प्रयुक्त होता है; यथा— नेन्द्रं देवममंसत (ऋ० १०,८६,१) "इन्द्र को देवता नहीं माना"। जब न निपात उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब यह उपमान के पश्चात् आता है; यथा—पक्वा शाखा न (ऋ० १,८,८) "पकी हुई (पके फलों से युक्त) शाखा की भांति"।

विभक्तियों का प्रयोग

३७७. नामों के साथ आने वाली विभक्तियों का प्रयोग मुख्यतया दो प्रकार से होता है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण इन छः कारकों में जिन विभक्तियों का प्रयोग होता है उन्हें कारक-विभक्ति कहते हैं। इन के अतिरिक्त कतिपय अव्ययों के उपपद में आने पर जो विभक्तियां प्रयुक्त होती है उन्हें उपपदविभक्ति कहते हैं। इन के अतिरिक्त भी विभक्तियों के कुछ प्रयोग मिलते हैं जिन का यथास्थान वर्णन किया जायगा। कारकविभक्तियों के प्रयोग के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्म आदि कारकों में विभक्ति का प्रयोग तभी अपेक्षित होता है जब तिङ्, कृत्, तद्धित, समास में से किसी एक के द्वारा उस कारक का अभिधान न किया गया हो। इन में से तिङ् तथा कृत् के द्वारा कारक के अभिधान के उदाहरण वैदिक भाषा में सब से अधिक मिलते हैं और तद्धित के द्वारा अभिधान के उदाहरण सब से कम है। जब तिङ् तथा कृत् कर्तृवाच्य में प्रयुक्त होते हैं तब वे कर्ता कारक का अभिधान करते है, और कर्मवाच्य में कर्मकारक का; यथा— कर्तृवाच्य में— यदग्ने यासि दूत्यम् (ऋ० १,१२,४) "हे अग्ने, जब तुम दूतकार्य के लिये जाते हो", कर्मवाच्य में— त्वम् ...उच्यसे पिता (ऋ० १,३१, १४) "तुम पिता कहलाते हो"। इस प्रकार तिङ्, कृत् इत्यादि के द्वारा कारक का अभिधान होने पर कारकविभक्ति का प्रयोग नही होता है।

प्रथमा विभक्ति

३७८. प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किसी भी कारक के लिये नहीं होता है। शब्द के द्वारा अभिधेय नियत अर्थ को या सत्ता को अभिव्यक्त करने के लिये प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है (टि० ४); यथा— सहस्रशीर्षा पुरुषः (ऋ० १०,९०,१) "पुरुष सौ सिरों वाला है", अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः (ऋ० १,१,२) "अग्नि पुरातन ऋषियों के द्वारा भी स्तुत्य (था)"। मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 298) प्रभृति विद्वानों का यह कथन ग्राह्य नही है कि प्रथमान्त रूप वाक्य में कर्ता (subject) के रूप में प्रयुक्त होता है। उपर्युक्त उदाहरण में प्रथमान्त पद अग्निः कर्ता नहीं अपितु कर्म है। कृत् के द्वारा कर्म कारक का अभिधान होने के कारण प्रथमा विभक्ति अग्नि शब्द के अभिधेय नियत अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त की गई है। इस के अतिरिक्त सम्बोधन में भी प्रथमा का प्रयोग होता है (दे० टि० ४); यथा—यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः (ऋ० २,१२,१३) "हे मनुष्यो, वह इन्द्र है जिस के हाथ में वज्र है"। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथमा एकवचन में सम्बोधन का रूप कुछ भिन्न होता है और स्वर की दृष्टि से भी सम्बोधन का प्रथमान्त रूप सामान्य प्रथमान्त से भिन्न होता है (दे० अनु० ४१२)।

द्वितीया विभक्ति

३७९. **द्वितीया विभक्ति**—जब तिङ् या कृत् आदि से कर्म कारक का अभिधान न किया गया हो, तब कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है[५]। पाणिनीय व्याकरण में कर्म कारक के निम्नलिखित लक्षण दिये गये हैं जो वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में समान रूप से लागू होते हैं—

(क) **कर्ता की क्रिया से आप्त कर्म**—कर्म कारक का सब से प्रधान लक्षण यह है कि कर्ता जिसे अपनी क्रिया से आप्त करना सब से अधिक इष्ट (ईप्सिततम) समझते हुए क्रिया से युक्त करता है, या कर्ता का

इष्ट न (अनीप्सित) होते हुए भी कर्ता की क्रिया से जो युक्त होता है उसे कर्म कारक कहते हैं[६]; यथा— ईप्सिततम— अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् (ऋ० १,१,१) "मैं सामने सत्कारपूर्वक स्थापित अग्नि की स्तुति करता हूं", स दे॒वाँ एह व॑क्षति (ऋ० १,१,२) "वह देवताओं को यहां लाए"; अनीप्सित— अपस्वप्नं पश्यति (मा० गृ० सू० २,१४,७) "बुरा स्वप्न देखता है"। गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया प्रयुक्त होती है; यथा— य॒मं ह॑ य॒ज्ञो ग॑च्छति (ऋ० १०,१४,१३) "यज्ञ यम को प्राप्त होता है", स॒भामे॑ति कित॒वः (ऋ० १०,३४,६) "जुआरी सभा (द्यूतस्थान) को जाता है"।

(ख) **द्विकर्मक धातु**— √चि, √जि, √दुह्, √धू, √नी, √पच्, √प्रच्छ्, √ब्रू, √मथ्, √मुष्, √यज्, √याच्, √रुध्, √वह्, √शास् तथा √हृ— इन धातुओं और इन के समानार्थक धातुओं के योग में दो कर्म प्रयुक्त होते हैं— प्रधान कर्म तथा गौण कर्म (अकथित कर्म)[७]। यद्यपि अकथित कर्म, कतिपय विद्वानों के मतानुसार, अपादान आदि कारकों में भी विवक्षा के अनुसार प्रयुक्त किया जा सकता है, तथापि प्रयोग प्रायेण कर्म कारक का ही समर्थन करता है। उदाहरण— दे॒वानसु॑रा य॒ज्ञम॑जयन् (मै० सं०) "असुरों ने देवों से यज्ञ जीता", इ॒मामे॒व सर्वा॑न् कामा॑न् दुहे (श० ब्रा०) "इस से ही मैं सब इच्छाओं का दोहन करता हूं", वृ॒क्षं प॒क्वं फल॑म॒ङ्कीव धूनुहि (ऋ० ३,४५,४) "हे इन्द्र, अङ्क (अंकुश या आंकड़ा) धारण किये हुए पुरुष की भांति, वृक्ष से पका हुआ फल धुनो", पृ॒च्छामि॑ त्वा॒ पर॒मन्तं॑ पृथि॒व्याः (ऋ० १,१६४,३४) "मैं तुम्हारे से पृथिवी का अन्तिम छोर पूछता हूं", अमु॑ष्णीतं प॒णिं गाः (ऋ० १,९३,४) "तुम ने पणि से गायों को लूटा", यजा॑ दे॒वाँ ऋ॒तं बृ॒हत् (ऋ० १,७५,५) "देवताओं के लिये बड़ा यज्ञ करो", अ॒पो या॑चामि भेष॒जम् (ऋ० १०,९,५) "मैं जलों से स्वास्थ्यप्रद (भेषज) मांगता हूं", अ॒पो दिव॒मुद्व॑हन्ति (अ०) "जलों को द्युलोक में ले जाते है" इत्यादि।

(ग) **ण्यन्त धातुओं के योग में अण्यन्त धातुओं का कर्ता कर्म के रूप में**— गत्यर्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक, कथनार्थक तथा अकर्मक धातुओं का जो कर्ता प्रेरणार्थक णि प्रत्यय के अभाव में होता है, वह कर्ता प्रेरणार्थक णि प्रत्यय आने पर ऐसे धातुओं का कर्म बनता है[८]; यथा— यजमानं सुवर्गं लोकं गमयति (तै० सं०) "यजमान को स्वर्ग लोक में पहुंचाता है", उशन् देवाँ उशतः पायया हविः (ऋ० २,३७, ६) "तुम, स्वयं इच्छा करते हुए, इच्छुक देवताओं को सोम का पान कराओ", ता यजमानं वाचयति (तै० सं०) "वह यजमान को उन के नाम बुलवाता है"। परन्तु उपर्युक्त धातुओं से भिन्न धातुओं तथा इन के समानार्थक कतिपय धातुओं का अण्यन्त अवस्था का कर्ता कर्म के रूप में प्रयुक्त नहीं होता है और ण्यन्त धातु के योग में वह तृतीया में प्रयुक्त होता है (तु० पा० १,४,५३ तथा १,४,५२ पर वार्तिक); यथा— ता वरुणेनाग्राहयत् (मै० सं०) "वरुण को उन का ग्रहण करवाया"।

(घ) **कृदन्तों के योग में कर्म**— तिङन्त पदों की भांति, शतृ, शानच्, शानन्, अ, इ (पा० कि, किन्), इन्, उ (सन्नन्त से परे), उक, तृ (पा० तृन्), तुमर्थक, त्वा, त्वी, वन्, वस् (पा० क्वसु), कानच्, सनि, इष्णुच् तथा क्विप्— इन कृत्-प्रत्ययों वाले कृदन्तों का कर्म भी द्वितीया में प्रयुक्त होता है[९]; यथा— सोममेवैतत् पिबन्त आसते (तै० सं०) "वे सोम को इस प्रकार पीते रहते हैं", कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् (ऋ० १,७२,९) "अमरता के लिये मार्ग बनाते हुए", विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति (ऋ० २,४०,५) "दूसरा (पूषा) विश्व को भली प्रकार देखता हुआ जाता है", इन्द्रो दृळहा चिदारुजः (ऋ० ३,४५,२) "इन्द्र दृढ़ (अचल पर्वतादि) को तोड़ने वाला है", बभ्रिर्वज्रं पपिः सोमं ददिर्गाः (ऋ० ६,२३,४) "वज्र को धारण करता हुआ, सोम को पीता हुआ, और गायें (जल या किरणें) देता हुआ", कामी हि वीरः सदमस्य पीतिम् (ऋ० २,१४,१) "क्योंकि

वीर सदा इस के पान का इच्छुक है", वत्सांश्च घातुको वृकः (अ० १३,४,७) "भेड़िया बछड़ों को मारने वाला होता है", वेदुको वासो भवति (तै० सं०) "वह वस्त्र को पाने वाला होता है", हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः (ऋ० ४,१७,८) "अच्छे धन वाला इन्द्र वृत्र को मारने वाला, अन्न (या पुरस्कार) जीतने वाला, और धनों का देने वाला है", को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् (ऋ० १, १६४,४) "यह पूछने के लिये विद्वान् के पास कौन गया है?", यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् (ऋ० २,१२,३) "जिस ने अहि (वृत्र) को मार कर सात नदियों को चलाया", प्रातर्यावाणो अध्वरम् (ऋ० १,४४,१३) "प्रातः यज्ञ में जाने वाले", अध्वर्यवश्चकृवांसो मधूनि (ऋ० ५,४३,३) "हे अध्वर्यु लोगो, मधुर रस तैयार करते हुए", चक्राणश्चारुमध्वरम् (ऋ० ९,४४,४) "प्रिय यज्ञ को करता हुआ", स त्वं नो विश्वा अभिमातीः सक्षणिः (ऋ० ८,२४,२६) "ऐसे तुम हमारे सब विरोधियों को दबाते हो", शतं पुरो रुरुक्षणिम् (ऋ० ९, ४८,२) "सौ दुर्गों (या नगरों) का नाश करते हुए को", स्थिरा चिन्नमयिष्णवः (ऋ० ८,२०,१) "अचल (पर्वत आदि) को भी झुकाने वाले (हे मरुत् देवताओ)", देवाँस्त्वं परिभूरसि (ऋ० ५,१३,६) "(हे अग्ने) तुम देवताओं को मात करते हो"।

(ङ) **निरन्तरसंयोग में कालवाचक तथा अध्ववाचक शब्दों से द्वितीया**—जब क्रिया-गुण-द्रव्यों के साथ निरन्तर संयोग का अर्थ निकलता हो, तब काल-वाचक तथा अध्ववाचक शब्दों में द्वितीया का प्रयोग होता है[10]; यथा— शतं जीव शरदो वर्धमानः (ऋ० १०,१६१, ४) "सौ वर्ष तक बढते हुए जीवित रहो", तिस्रो रात्रीर्दीक्षितः स्यात् (तै० सं०) "तीन रात तक दीक्षित रहे", यदाशुभिः पतसि योजना पुरू (ऋ० २,१६,३) "जब तुम अपने तेज (घोड़ों) से बहुत योजनों तक उड़ते हो", सप्तदश प्रव्याधानाजिं धावन्ति (तै० ब्रा०) "सत्रह बाणों के फेंकने की दूरी तक दौड़ दौड़ते है"।

(च) **कर्मप्रवचनीयों के योग में द्वितीया**— अच्छ, अति, अनु, अभि, उप, परि, प्रति, तिरस् के योग में आने वाले नामों में द्वितीया आती है और पाणिनीय व्याकरण में (अच्छ तथा तिरस् को छोड़ कर) इन अति आदि निपातों के लिये कर्मप्रवचनीय संज्ञा का प्रयोग किया गया है[११]। उदाहरण— अच्छ "ओर"— प्र यातन सखीँरच्छा सखायः (ऋ० १,१६५,१३) "हे मित्रो, मित्रों की ओर जाओ"; अति "परे"— पूर्वीरति क्षपः (ऋ० १०,७७,२) "बहुत सी रातों में से", यो देवो मर्त्याँ अति (अ० २०,१२७,७) "जो देव मनुष्यों से परे है"; अनु "लक्ष्य बना कर, पश्चात्, अनुसार, साथ-साथ इत्यादि"— परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु (ऋ० १,२५,१६) "मेरी प्रार्थनाएं दूर जाती हैं जैसे गायें गोचरभूमि को लक्ष्य बना कर", पूर्वामनु प्रयतिम् (ऋ० १,१२६,५) "पूर्व प्रदान के पश्चात्", स्वमनु व्रतम् (ऋ० १,१२८,१) "अपने व्रत के अनुसार", उप प्र यन्ति धीतयः। ऋतस्य पथ्या३अनु (ऋ० ३,१२,७) "मेरी प्रार्थनाएं शाश्वत नियम के मार्गों के साथ-साथ जाती हैं"; अभि "ओर, प्रति, इत्यादि"— उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम् (ऋ० १०,१८,८) "हे स्त्री, तुम जीवित मनुष्यों के लोक की ओर उठो", विश्वा यश्चर्षणीरभि (ऋ० १,८६, ५) "जो मरुद्गण सब मनुष्यों पर है (अर्थात् अभिभूत करता है)", याः प्रदिशो अभि सूर्यो विचष्टे (अ०) "जिन दिशाओं के प्रति सूर्य चमकता है"; उप "समीप"— अग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः (ऋ० १,१२,१०) "हे अग्ने, देवताओं को यहां हमारे यज्ञ तथा हविः के पास लाओ"; परि "सब ओर"— परि द्यामन्यदीयते (ऋ० १,३०,१९) "दूसरा (चक्र) द्युलोक के सब ओर जाता है"; प्रति "विरुद्ध, ओर"— प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे (ऋ० १, १९,१) "प्रिय यज्ञ के प्रति सोमपान के लिये तुम बुलाये जाते हो"; तिरस् "पार"— नयन्ति दुरिता तिरः (ऋ० १,४१,३) "वे उसे संकटों से पार ले जाते हैं"।

दशमोऽध्यायः

(छ) **अव्ययों के योग में द्वितीया**—निम्नलिखित अव्ययों के योग में द्वितीया उपपदविभक्ति प्रयुक्त होती है[१२]— अन्तरा, अधः, अभितः, उपरि, उभयतः, परः, पुरः; उदाहरण—अन्तरा "बीच में"— अन्तरा द्यावापृथिवी "द्युलोक और पृथिवी के बीच"; अधः "नीचे"— तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु (ऋ० ७,१०४,११) "वह तीनों पृथिवियों के नीचे हो"; अभितः "सब ओर"— ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् (अ० १३,१,३५) "राष्ट्र को धारण करने वाले जो देव सूर्य के सब ओर घूमते है"; उपरि "ऊपर"—तिस्रः पृथिवीरुपरि (ऋ० १, ३४,८) "तीनों पृथिवियों के ऊपर"; उभयतः "दोनों ओर"— उत रात्रीमुभयतः परीयसे (ऋ० ५,८१,४) "तुम रात के दोनों ओर घूमते हो"; परः "परे"— नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः (ऋ० १, १९,२) "(हे अग्ने) न कोई देव और न कोई मनुष्य तुझ महान् के बल से परे (बढ़ कर) है"; इस के योग में तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी का प्रयोग भी मिलता है; पुरः "सामने"— असदन् मातरं पुरः (ऋ० १०,१८९,१) "वह माता के सामने बैठ गया"; इस के साथ पं० तथा स० का प्रयोग भी मिलता है।

ब्राह्मणों में अग्रेण "सामने", अन्तरेण "विना, बीच में", उत्तरेण "उत्तर में", दक्षिणेन "दक्षिण में", परेण "परे" तथा विना "बिना" के योग में द्वितीया का प्रयोग मिलता है। ऋते "विना" के योग में ऋ० में पं० का प्रयोग मिलता है, जबकि ब्रा० में द्वितीया का प्रयोग भी मिलता है।

तृतीया विभक्ति

३८०. (क) **कर्ता कारक में तृतीया**—जब वाक्य में कर्मवाच्य तिङन्त पद का प्रयोग होता है, तो कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति आती है[१३]; यथा— त्रिधातु मधु क्रियते सुकर्मभिः (ऋ० ६,७०,८) "अच्छे कर्मों वाले मनुष्यों के द्वारा तीन तत्वों वाला मधु (मधुर सोम रस) तैयार किया जाता है"। क्तान्त कृदन्तों के साथ कर्ता में तृतीया आती है; यथा—

यमेन दत्तः (ऋ०) "यम द्वारा दिया गया"। यत्, तव्य इत्यादि कृत्य प्रत्ययों वाले शब्दों के साथ कर्ता में विकल्प से तृतीया या षष्ठी का प्रयोग होता है[१४]; यथा— नृभिर्हव्यः (ऋ० ७,२२,७) "मनुष्यों द्वारा बुलाने योग्य", रिपुणा नावचक्षे (ऋ० ४,५८,५) "शत्रु द्वारा न देखा जाय"।

(ख) **करण कारक में तृतीया**— किसी क्रिया की सिद्धि में जो सब से अधिक साधक (सहायक) होता है उसे करण कारक कहते हैं[१५] और उस में तृतीया विभक्ति आती है (टि० १३); यथा — अहन् वृत्रमिन्द्रो वज्रेण (ऋ० १,३२,५) "इन्द्र ने वज्र से वृत्र को मारा"; भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम (ऋ० १,८९,८) "हम कानों से भला सुनें"।

(ग) **सह इत्यादि के योग में तृतीया**— सह "साथ" और इस के समानार्थक साकम्, सुमद्, स्मद् इत्यादि अव्ययों के योग में उस नाम में तृतीया आती है जो वाक्य में उस के साथ आने वाले नाम की अपेक्षा अप्रधान है[१६]; यथा— इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः (ऋ० १,२३,२४) "इन्द्र ऋषियों के साथ (मेरे इस कर्म को) जाने"। सह या इस के समानार्थक अव्यय के प्रयोग के विना भी यदि वाक्य में दो नामों के साहचर्य का अर्थ निकलता हो, तो अप्रधान में तृतीया आती है; यथा— देवो देवेभिरा गमत् (ऋ० १,१,५) "अग्नि देवता देवताओं के साथ आये"।

(घ) **सम, समान, मिश्र के योग में तृतीया**— सम, समान, सदृश्, मिश्र इत्यादि विशेषणों के योग में तृतीया का प्रयोग होता है[१७]; यथा— समं ज्योतिः सूर्येण (अ०) "सूर्य के समान ज्योति", असि समो देवैः (ऋ० ६,४८,१९) "तुम देवों के समान हो", इन्द्रो वै सदृङ् देवताभिरासीत् (तै० सं०) "इन्द्र अन्य देवताओं के सदृश था", आज्येन मिश्रः (श० ब्रा०) "आज्य से मिश्रित"।

(ङ) **हेतु में पञ्चमी**— हेतुवाचक शब्द से परे तृतीया आती है[१८]; यथा— स भीषा नि लिल्ये (श० ब्रा०) "वह डर के कारण से छुप गया"।

दशमोऽध्यायः

(च) **क्रियापरिसमाप्ति में कालवाचक और अध्ववाचक शब्दों से परे तृतीया**—जब क्रिया-परिसमाप्ति (पा० अपवर्ग) का अर्थ निकलता हो, तब कालवाचक तथा अध्ववाचक शब्दों से परे तृतीया आती है[१९]; यथा—पूर्वीभिर्हि ददाशिम शरद्भिः (ऋ० १,८६,६) "हम ने बहुत सी शरद् ऋतुओं में हवि प्रदान की है", अन्तरिक्षे पथिभिः पतन्तम् (ऋ० १०,८७,६) "अन्तरिक्ष में मार्गों से उड़ते हुए को"।

(छ) **जनुषा तथा जन्मना में और मूल्यवाचक शब्दों इत्यादि से परे तृतीया**—जनुषा तथा जन्मना में और मूल्यवाचक शब्दों तथा कतिपय अन्य शब्दों से परे तृतीया आती है[२०]; यथा—अशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि (ऋ० १,१०२,८) "हे इन्द्र, तुम जन्म से प्राचीन समय से शत्रुरहित हो", अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः (ऋ० ३,२६,७) "मैं जन्म से जातवेदाः अग्नि हूं", दशभिः क्रीणाति धेनुभिः (ऋ० ४,२४,१०) "(इस इन्द्र को) दस गायों से (कौन) खरीदता है ?"

चतुर्थी विभक्ति

३८१. चतुर्थी का प्रयोग— चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग मुख्यतया सम्प्रदान कारक में होता है और कतिपय अव्ययों के योग में भी यह विभक्ति आती है।

(क) **सम्प्रदान कारक में चतुर्थी**—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति आती है[२१]। पा० के अनुसार, सम्प्रदान कारक के निम्नलिखित भेद हैं—जिस के लिये दान-कर्म या अन्य क्रिया की जाय उस कारक को सम्प्रदान कहते हैं[२२], और उस में चतुर्थी आती है; यथा—दधाति रत्नं विधते (ऋ० ४,१२,३) "वह यजमान को रत्न देता है", यो न ददाति सख्ये (ऋ० १०,११७,४) "जो मित्र को नहीं देता है", यच्छा नः शर्म सप्रथः (ऋ० १,२२,१५) "हमें विशाल शरण प्रदान करो", अग्निभ्यः पशूना लभते (तै० सं०) "वह अग्नियों के लिये पशुओं का आलम्भन करता है", देवेभ्यो हव्यं वहन्ति (तै० सं०) "वे देवताओं के लिये

हवि ले जाते हैं", आविरेभ्यो अभवत्सूर्यः (ऋ० १,१४६,४) "इन के लिये सूर्य प्रकट हुआ", मातेव पुत्रेभ्यो मृड (अ०) "तुम दया करो जैसे माता पुत्रों के लिए"।

रुचि (प्रिय लगना) अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जिस को प्रिय लगे वह सम्प्रदान कारक होता है[२३] और सम्प्रदान कारक मे चतुर्थी आती है; यथा— स्वादुरिन्द्राय पवमान (ऋ० ९,७४,९) "हे पवमान सोम, तुम इन्द्र के लिये स्वादु बनो", उतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् (ऋ० १०,७३, ९) "और वह मधु उस के लिये प्रिय हो"।

√शप्, √स्था तथा √ह्नु धातुओं के प्रयोग में जिस को शाप आदि का बोध कराना अभिप्रेत हो वह सम्प्रदान-संज्ञक होता है[२४], और सम्प्रदान कारक में चतुर्थी आती है; यथा— यश्च द्विषञ्छपाति नः (अ० १,१९, ४) "जो द्वेष करता हुआ हमें शाप दे"; न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा (ऋ० १०,१०९,३) "दूत को प्रेरित करने के लिये यह नहीं उठी है (अर्थात् इस ने अपने आप को प्रकाशित नहीं किया है)", अथो गार्हपत्यायैव नि ह्नुते (तै० सं० १,५,८,३) "तब वह गार्हपत्य अग्नि के प्रति क्षमा-याचना करता है", तदु देवेभ्यो नि ह्नुते (श० ब्रा०) "इस प्रकार वह देवों के प्रति क्षमा-याचना करता है"।

√स्पृह् के प्रयोग में जिस की स्पृहा की जाती है वह सम्प्रदान-संज्ञक होता है[२५] और सम्प्रदान कारक में चतुर्थी आती है; यथा— न दुरुक्ताय स्पृहयेत् (ऋ० १,४१,९) "बुरे वचन की इच्छा न करे"।

क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या तथा असूया अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जिस के प्रति क्रोध आदि किया जाता है वह सम्प्रदान-संज्ञक होता है[२६] और सम्प्रदान कारक में चतुर्थी आती है; यथा— यो मह्यं क्रुध्यति (अ० ४,३६,१०) "जो मेरे प्रति क्रोध करता है", अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते (ऋ० ७,८६,३) "यह वरुण तुम्हारे प्रति क्रोध करता है", अद्रुह्यद्धि सा ब्रह्मणे (का० सं० २४,१) "उस ने ब्रह्म के प्रति द्रोह किया", यद् दुद्रोहिथ स्त्रियै पुंसे (अ०) "तुम ने स्त्री या पुरुष के

प्रति जो द्रोह किया है", सा हास्मा आरकादिवैवाग्रे आसूयत् (श० ब्रा० ३,२,१,१९) "उस ने पहले दूर से ही उस के प्रति असूया की"।

अपवाद— परन्तु जब √क्रुध् तथा √द्रुह् उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होते हैं, तो जिस के प्रति क्रोध या द्रोह होता है वह कर्मसंज्ञक होता है[२७] और कर्म कारक में द्वितीया आती है (टि० ५); यथा— यः समान्तमभिद्रुह्यति (मै० सं० २,१,४) "जो पड़ोसी के प्रति द्रोह करता है"।

(ख) √क्लृप् (पा० √कृप्) के प्रयोग में जो सम्पन्न होता है उस से परे चतुर्थी विभक्ति आती है[२८]; यथा— ततो वै प्रजाभ्योऽकल्पत (तै० सं० ७,२,४,१) "तब वह प्रजाओं के लिये समर्थ हुआ"।

(ग) **कतिपय चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों** के प्रयोग में उन के कर्म में चतुर्थी विभक्ति आती है; यथा— इन्द्रमर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ (ऋ० ५,३१,४) "उन्होंने वृत्र को मारने के लिये इन्द्र को स्तुतियों से बढाया", तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् (ऋ० १०,१४,१२) "सूर्य को देखने के लिये वे दोनों आज हमें यहां पुनः कल्याणकारी प्राण प्रदान करें"।

(घ) जब वाक्य मे एक क्रिया दूसरी क्रिया के लिये की जा रही हो (क्रियार्था क्रिया हो) और दूसरी उपपद क्रिया (तुमुनन्त इत्यादि) का प्रयोग न हुआ हो, तब दूसरी क्रिया के कर्म में चतुर्थी आती है[२९]; यथा— गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम् (ऋ० १०,८५,३६) "सौभाग्य (पाने) के लिये तेरे हाथ का ग्रहण करता हूं", राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे (अ० १,२९,४) "राष्ट्र (प्राप्ति) के लिये, मेरे शत्रुओं के पराभव के लिये (यह मणि) मेरे लिये बन्धे", स्वर्गाय लोकाय विष्णुक्रमाः क्रम्यन्ते (तै० सं०) "स्वर्ग लोक (पाने) के लिये विष्णु-क्रम (कदम) चले जाते है"।

(ङ) **तुमर्थक भाववाचक कृदन्तों** से परे चतुर्थी का प्रयोग होता है[३०]; यथा— कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय (ऋ० १,३६,१४) "हमें (लोक में) चलने के लिये उठाओ", इषुं कृण्वाना असनाय (अ०) "फेंकने के लिये

वाण वनाते हुए", अस्ति हि ष्मा मदाय वः (ऋ० १,३७,१५) "तुम्हारे मद (मस्ती) के लिये (यह) है"।

(च) चारु, शिव, हित इत्यादि विशेषणों के योग में चतुर्थी विभक्ति आती है[३१]; यथा— अतिथिश्चारुरायवे (ऋ० २,२,८) "मनुष्य के लिये प्रिय अतिथि", शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् (ऋ० १०,३४,२) "वह मित्रों के लिये और मेरे लिये कल्याणकारिणी थी", यद् वाव जीवेभ्यो हितं तत्पितृभ्यः (श० ब्रा०) "जो कुछ जीवित लोगों के लिये हितकारी है वही पितृगण के लिये हितकारी है"।

(छ) **अरम (अलम्), नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, वषट्, कम्, शम् के योग में चतुर्थी**— इन अव्ययों के योग में चतुर्थी विभक्ति आती है[३२]; यथा— तावाँ अयं पातवे सोमो अस्त्वरमिन्द्राग्नी मनसे युवभ्याम् (ऋ० १,१०८,२) "हे इन्द्र और अग्नि, यह इतना सोम तुम्हारे द्वारा पीने के लिये तुम्हारे मन के लिये पर्याप्त हो", ब्राह्मणों में तथा पीछे अरम् के र् का ल् हो कर अलम् वन गया यथा— नालमाहुत्या आस नालं भक्षाय (श० ब्रा०) "वह न यज्ञ के लिये पर्याप्त था, न भक्षण के लिये", नमो महद्भ्यः (ऋ० १,२७,१३) "बड़ों को नमस्कार हो", स्वस्ति न इन्द्रः (ऋ० १,८९,६) "इन्द्र हमारे लिये कल्याणकारी हो", स्वाहा देवेभ्यो हविः (ऋ० ५,५,११) "देवों के लिये यह हवि अच्छी प्रकार होम की हुई हो", स्वधा पितृभ्यः (तै० सं० १,१,११,१) "पितृगण के लिये तृप्ति (देने वाला अन्न) हो", यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे (ऋ० १,११४,१) "जिस से मनुष्यों (दोपायों) और पशुओं (चौपायों) के लिये कल्याण हो", आहुतयो ह्यग्नये कम् (श० ब्रा०) "अग्नि के लिये आहुतियां सुखकारी है"।

विशेष— √नम् के प्रयोग में जिस के प्रति नमन अभिप्रेत होता है उस में चतुर्थी आती है; यथा— मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋ० १०,१२८,१) "चारों प्रमुख दिशाएं मेरे प्रति झुकें"।

(ज) **षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी**— ब्रा० में कहीं-कहीं सम्बन्ध-षष्ठी के अर्थ

में चतुर्थी आती है[३३क]; यथा— अहल्यायै जार (श० ब्रा० ३,३,४,१८) "हे अहल्या के जार (जीर्ण करने वाले)"।

पञ्चमी विभक्ति

३८२. (क) **अपादान कारक में पञ्चमी**—पञ्चमी का प्रधान प्रयोग अपादान कारक में होता है[३३]। पा० के अनुसार अपादान कारक के प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं—विश्लेष (दूर होने के कार्य) में जिस को ध्रुव (स्थिर अर्थात् जिस से दूर होना) माना जाय, वह अपादान कारक कहलाता है[३४] और उस में पञ्चमी का प्रयोग होता है; यथा—भुज्युं समुद्रादूहथुः (ऋ० ६,६२,६) "तुम दोनों भुज्यु को समुद्र से लाये", एति वा एष यज्ञमुखात् (मै० सं०) "वह यज्ञ के मुख से जाता है" शुनश्चिच्छेपं यूपादमुञ्चः (ऋ० ५,२,७) "तुम ने शुनःशेप को यूप से मुक्त किया", स रथात् पपात (श० ब्रा०) "वह रथ से गिरा"।

'डरना' अर्थ वाले और "रक्षा करना, बचाना" अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जो 'डर' का हेतु होता है वह अपादानसंज्ञक होता है[३५] और अपादान में पञ्चमी आती है; यथा— इन्द्रस्य वज्रादबिभेत् (ऋ० १०,१३८,५) "वह इन्द्र के वज्र से डरी", तस्या जातायाः सर्वमबिभेत् (अ०) "उस के उत्पन्न होते ही उस से विश्व डरा", पातं नो वृकादघायोः (ऋ० १,१२०,७) "हे अश्विनौ, बुरा चाहने वाले भेड़िये से हमारी रक्षा करो", स नस्त्रासते दुरितात् (ऋ० १,१२८,५) "वह (अग्नि) बुराई से हमारी रक्षा करे"।

"छुपना" अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जिस से छुपना अभिप्रेत हो वह कारक अपादानसंज्ञक होता है और उस में पञ्चमी विभक्ति आती है[३६]; यथा—अग्निर्देवेभ्यो निलायत (तै० सं० ५,१,१,४) "अग्नि देवताओं से छुप गया"।

"उत्पन्न होना या निकलना" अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जिस से उत्पन्न होता या निकलता है उस कारक को अपादान कहते हैं[३७] और उस में पञ्चमी विभक्ति आती है; यथा—शुक्रा कृष्णादजनिष्ट

(ऋ० १,१२३,९) "श्वेत रंग वाली (उषा) काले रंग वाले (अन्धकार) से उत्पन्न हुई है", असतः सदजायत (ऋ० १०,७२,५) "असत् से सत् उत्पन्न हुआ", अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः (ऋ० १०,७५,३) "जैसे बादल में से वर्षा के जल गर्जते है"।

(ख) **तुलनावाचक तर (पा० तरप्) तथा ईयस् प्रत्यय के प्रयोग में पञ्चमी**— दो वस्तुओं या व्यक्तियों की तुलना में जिस का उत्कर्ष दिखलाया जाय उस के विशेषण के साथ तर या ईयस् प्रत्यय जोड़ा जाता है (दे० पृ० ४४६)। ऐसी तुलना में जिस की अपेक्षा दूसरे का उत्कर्ष दिखलाया जाता है उस में (अर्थात् निर्धारण की अवधि में) पञ्चमी विभक्ति आती है[३८]; यथा— विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋ० १०,८६,१) "इन्द्र सब से उच्चतर है", घृतात् स्वादीयः (ऋ० ८, २४,२०) "घी से अधिक स्वादु", पापीयानश्वाद् गर्दभः (तै० सं) "गधा घोड़े से अधिक बुरा है"।

(ग) अन्य-वाचक तथा दिशावाचक शब्द, पूर्व, पुरा इत्यादि कालवाचक शब्द, अञ्च् उत्तरपद वाले शब्द और ऋते इत्यादि के योग में पञ्चमी विभक्ति आती है[३९]; यथा— अन्यो वा अयमस्मद् भवति (ऐ० ब्रा०), "वह निश्चय ही हमारे से अन्य होता है", यस्ते स्व इतरो देवयानात् (ऋ० १०,१८,१) "देवयान से भिन्न जो तेरा अपना (मार्ग है)", एतस्माच् चात्वालादूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामन् (श० ब्रा०) "इस चात्वाल (यज्ञसम्बन्धी गढ़े) से ऊपर वे स्वर्ग लोक मे चढ गये", पूर्वा विश्वस्माद्भुवनादबोधि (ऋ० १,१२३,२) "उषा सब प्राणिजात से पहले जागी है", पुरा नु जरसः (ऋ० ८,६७,२०) "बुढापे से पहले", यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात् (श० ब्रा०) "जो कुछ भी आदित्य से नीचे है", न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चन (ऋ० १०,११२,९) "तुम्हारे बिना कुछ नहीं किया जाता है"। पुरः के योग में कहीं-कहीं पञ्चमी का प्रयोग मिलता है; यथा— पुरो दिवः (अ० ९,४,२१) "द्युलोक से परे", पुरो मूजवतोऽतीहि (वा० सं० ३,६१) "मूजवान् पर्वत से परे जाओ"।

बहिः के योग में पञ्चमी आती है; यथा— सर्वं ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् (अ० १६,४४,२) "आञ्जन तेरे सारे यक्ष्म रोग को अङ्गों से बाहिर निकाल डाले"।

(घ) **हेतु में पञ्चमी**— स्त्रीलिङ्गवर्जित हेतु से परे पञ्चमी विभक्ति आती है[४०]; यथा— मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः (ऋ० ७,८९,५) "हे देव, इस पाप के हेतु से हमें चोट न पहुंचने दो", अनृताद्धै ताः प्रजा वरुणोऽगृह्णात् (मै० सं०) "झूठ के हेतु से वरुण ने प्राणियों को पकड़ लिया"।

(ङ) **कर्मप्रवचनीयों के योग में पञ्चमी**— आ, परि और अधि इन कर्मप्रवचनीयों के योग मे पञ्चमी विभक्ति आती है[४१]; यथा— यती गिरिभ्य आ समुद्रात् (ऋ० ७,९५,२) "पर्वतों से समुद्र तक जाती हुई", चरन्तं परि तस्थुषः (ऋ० १,६,१) "अचल से परे सब ओर घूमते हुए को", जातो हिमवतस्परि (अ०) "हिमालय से उत्पन्न", आ गहि दिवो वा रोचनादधि (ऋ० १,६,६) "या चमकते हुए द्युलोक से आओ", समुद्रादधि जज्ञिषे (अ०) "समुद्र से तुम उत्पन्न हुए"।

षष्ठी विभक्ति

३८३. (क) **सम्बन्धमात्र में षष्ठी**— उपर्युक्त कारक और प्रातिपदिकार्थ को छोड़ कर जहाँ स्व, स्वामी आदि के सम्बन्ध का अभिधान करना हो वहां षष्ठी विभक्ति आती है[४२]; यथा— इन्द्रस्य वज्रः "इन्द्र का वज्र", यज्ञस्य देवम् (ऋ० १,१,१) "यज्ञ के देवता को"।

(ख) **कर्म कारक में षष्ठी**— √ईश् तथा √राज् के कर्म में प्रायेण षष्ठी विभक्ति आती है[४३]; यथा— त्वमीशिषे वसूनाम् (ऋ० ८,७१,८) "तू धनों पर शासन करता है", यथाऽहमेषां विराजानि (अ०) "जिस मे मैं इन पर शासन कर सकूं"।

कहीं-कहीं √स्मृ तथा इसी अर्थ वाले धातु (टि० ४३), और कतिपय अन्य धातुओं के कर्म में भी षष्ठी विभक्ति आती है;

जैसे— यथा मम स्मरादसौ (अ० ६,१३०,३) "जिस से वह मेरा स्मरण करे", पिब सुतस्य (अ०) "सोम-रस का पान करो", मध्वः पायय (ऋ० १,१४,७) "मधु का पान कराओ", ददात नो अमृतस्य प्रजायै (ऋ० ७,५७,६) "हमारी सन्तान को अमृत प्रदान करो", भगस्य नो धेहि (अ० १६,४,३) "हमें सौभाग्य प्रदान करो"।

कृत्-प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म में षष्ठी विभक्ति आती है[५४]; यथा— इन्द्रो रायो विश्ववारस्य दाता (ऋ० ६,२३,१०) "इन्द्र सब के द्वारा वरणीय धन का देने वाला है", पूषा पशूनां प्रजनयिता (मै० सं०) "पूषा पशुओं का बढाने वाला है", योगो वाजिनः रासभस्य (ऋ० १, ३४,६) "बलवान् रासभ (गर्दभ ?) का जोतना", पुरा वृत्रस्य वधात् (श० ब्रा०) "वृत्र के वध से पहले"।

(ग) **कर्ता कारक में षष्ठी**—कृत्-प्रत्ययों के प्रयोग में कर्ता कारक में षष्ठी विभक्ति आती है[५५]; यथा—उदिता सूर्यस्य (ऋ० १,१०८, १२) "सूर्य के उदय होने पर", उषसो व्युष्टौ (ऋ० १,११८,११) "उषा के चमकने पर", पत्युः क्रीता (मै० सं०) "पति द्वारा खरीदी हुई"।

कृत्य प्रत्ययों (यत्, तव्य इत्यादि) के प्रयोग में कर्ता कारक में षष्ठी (या तृतीया) विभक्ति आती है[५६]; यथा— हव्यश्चर्षणीनाम् (ऋ० ६,२२,१) "मनुष्यों द्वारा पुकारने योग्य (या यज्ञ से पूजा करने योग्य)", अन्यस्याद्यः (ऐ० ब्रा०) "दूसरे का भक्ष्य"।

(घ) **√यज् के करण कारक में षष्ठी**—√यज् के करण कारक में षष्ठी का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है[५७]; यथा— सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि (ऋ० ३,५३,२) "अच्छी प्रकार निकाले गये सोम-रस से तेरा यजन करूंगा", तस्मादाज्यस्यैव यजेत् (श० ब्रा०) "इस लिये आज्य से ही यज्ञ करना चाहिए"।

(ङ) **चुनाव के समुदाय में षष्ठी**— जब जाति, गुण, क्रिया से समुदाय में से एक को चुन कर उस का उत्कर्ष दिखलाया जाये, तब जिस

समुदाय में से चुनाव किया जाता है उस में षष्ठी (या सप्तमी) विभक्ति आती है[४८]; यथा— तुवस्तमस्तुवसाम् (ऋ० २,३३,३) "बलवानों में सब से अधिक बलवान्", इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः (ऋ० १,११३,१) "यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति", गर्दभः पशूनां भारभरितमः (तै० सं०) "पशुओं में गधा भार उठाने में श्रेष्ठ है", वसन्तमृतूनाम् (तै० सं० १,६,२,१) "ऋतुओं में वसन्त", वीरुधां वीर्यवती (अ०) "लताओं में सब से अधिक बलवान्", मित्रो वै शिवो देवानाम् (तै० सं०) "मित्र देवताओं में कल्याणकारी है"।

(च) अनुरूप "सदृश", अनुव्रत "आज्ञाकारी", ईश्वर "समर्थ या स्वामी", नवेदस् "ज्ञाता", प्रिय, पप्रि "भरने वाला" इत्यादि विशेषण शब्दों के योग मे षष्ठी (या सप्तमी) विभक्ति आती है[४९]; यथा— यो भूतः सर्वस्येश्वरः (अ० ११,६.१) "जो सब का स्वामी हुआ है", प्रियो नो अस्तु (ऋ० १,२६,७) 'हमारा प्रिय हो'।

(छ) भावे षष्ठी— जिस भाव (क्रिया) से अन्य क्रिया लक्षित होती हो, उस में षष्ठी (या सप्तमी) विभक्ति आती है[५०]; यथा— तस्यालब्धस्य सा वागप चक्राम (श० ब्रा० १,१,४,१५) "उस (वृषभ) का आलम्भन करने पर वह वाणी निकल कर चली गई", तेषां ह्युत्तिष्ठतामुवाच (ऐ० ब्रा०) "उन के उठने पर उस ने कहा"। भाव मे षष्ठी का ऐसा प्रयोग ब्रा० मे तथा उत्तरकालीन भाषा मे मिलता है, परन्तु मन्त्रभाग में अप्राप्य है। पा० के अनुसार, अनादराधिक्य में षष्ठी का ऐसा प्रयोग मिलता है (टि० ५०)।

(ज) अतसर्थ प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी—अतसर्थ (पा० अतसुच् अनु० २०२ घ, पृ० ४५५) प्रत्यय से युक्त अव्यय पदों— पुरस्तात्, अधस्तात्, अवस्तात्, परस्तात्, उपरिष्टात्, उत्तरतः, दक्षिणतः, अग्रतः इत्यादि— के योग में षष्ठी विभक्ति आती है[५१]; यथा— समिद्धस्य पुरस्तात् (ऋ० ३,८,२) "प्रज्वलित अग्नि के सामने", दक्षिणतो गृहाणाम् (ऋ० २,४२,३) "घर के दक्षिण मे"।

(झ) "बार" अर्थ के प्रत्ययों के प्रयोग में काल अधिकरण में षष्ठी—"बार" (पा० कृत्वसुच्, अनु० १६२क, पृ० ३३५) अर्थ वाले

प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाची अधिकरण में षष्ठी विभक्ति आती है[५२]; यथा—त्रिरा दिवः सवितर्वार्याणि दिवेदिव आ सुव त्रिर्नो अह्नः (ऋ० ३,५६,६) "हे सविता, वरणीय वस्तुओं को हमारे लिये प्रतिदिन दिन में तीन वार प्रेरित करो", त्रिश्चिदक्तोः (ऋ० ७,११,३) "रात में तीन वार"।

सप्तमी विभक्ति का प्रयोग

३८४. (क) **अधिकरण में सप्तमी**— कर्ता तथा कर्म की क्रिया के आधार कारक को अधिकरण कहते हैं और उस में सप्तमी विभक्ति आती है[५३]। इस में देश, काल, व्यक्ति, वस्तु तथा भाव इत्यादि सभी प्रकार के आधारों का समावेश है ; यथा—

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि ।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा ॥
(ऋ० १,५९,३)

"जैसे सूर्य में स्थिर किरणें हैं, वैसे वैश्वानर अग्नि में धन रक्खे हुए है। जो (धन) पर्वतों, ओषधियों तथा जलों में हैं और जो (धन) मनुष्यों में हैं, उस (सब) का तू राजा (स्वामी) है"। दशमे मासि (ऋ० १०,१८४,३) "दसवें मास में", उषसो व्युष्टौ (ऋ० १,११८, ११) "उषा के चमकने पर", वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम (ऋ० १,९८, १) "हम वैश्वानर की अच्छी मति में रहें", सर्वं तदिन्द्र ते वशे (ऋ० ८,९३,४) "हे इन्द्र, सब तेरे वश में है", मदे अहिमिन्द्रो जघान (ऋ० २,१५,१) "इन्द्र ने (सोम की) मस्ती में वृत्र को मारा"।

जिस निमित्त से या जिस विषय में क्रिया की प्रवृत्ति होती है उसे भी अधिकरणसंज्ञक माना जाता है और उस में सप्तमी विभक्ति आती है; यथा— अन्नेषु जागृधुः (ऋ० २,२३,१६) "उन्होंने अन्नों के विषय में लोभ किया है", अध्वा हि त्वा...हवामहे तनये गोष्वप्सु (ऋ० ६,१९,१२) "अब सन्तान, गायों तथा जलों के निमित्त हम तुम्हारा आह्वान करते हैं"।

(ख) प्रि॒य, चारु इत्यादि विशेषणों के प्रयोग में जिस के प्रति प्रियत्व, चारुत्व इत्यादि हो उस में सप्तमी विभक्ति आती है; यथा— प्रि॒यः सूर्यें प्रि॒यो अ॒ग्ना भ॑वाति (ऋ० ५,३७,५) "वह सूर्य तथा अग्नि के प्रति प्रिय होता है", चारु॑र्मि॒त्रे वरु॑णे च (ऋ० ९,६१,९) "मित्र तथा वरुण का प्रिय"।

(ग) **कर्मप्रवचनीयों के योग में सप्तमी**— अधि, अपि तथा उप कर्मप्रवचनीयों के योग में सप्तमी विभक्ति आती है[५४]; यथा— नि धे॑हि गोरधि॑ त्व॒चि (ऋ० १,२८,९) "गाय के चमड़े पर रक्खो", नहि वः शत्रु॑र्विवि॒दे अधि॒ द्यवि॑ (ऋ० १,३९,४) "द्युलोक पर तुम्हारा शत्रु नहीं मिला है", सर्वा॒ ता ते॒ अपि॑ दे॒वेष्व॑स्तु (ऋ० १,१६२,८) "तुम्हारी वे सब भी देवताओं में हों", या उप॒ सूर्यें (ऋ० १,२३,१७) "जो सूर्य के समीप है"।

(घ) अ॒न्तर् "मध्य" तथा स॒चा "साथ" अव्ययों के योग में सप्तमी विभक्ति आती है; यथा—अ॒प्स्व१॒॑न्तः (ऋ० १,११६,२४) "जलों के मध्य", नमु॑चावासु॒रे स॒चा (वा० सं० २०,६८) "आसुर नमुचि के साथ"।

(ङ) **भावे सप्तमी**—जिस भाव (क्रिया) से अन्य क्रिया लक्षित होती हो, उस में सप्तमी (और कहीं-कहीं षष्ठी, अनु० ३८३ छ) विभक्ति आती है[५५]। भाव के ऐसे उदाहरणों में प्रायेण शतृ, शानच्, क्त तथा क्तवतु प्रत्यय मिलते है; यथा—ता वा॒मद्य ताव॑प॒रं हु॑वेमो॒च्छन्त्या॑मु॒पसि॑ (ऋ० १,१८४,१) "उषा के चमकने पर, हम तुम दोनों का आज और भविष्य में आह्वान करें", सर॑स्वतीं दे॒वय॒न्तो॑ हवन्ते॒ सर॑स्वतीमध्व॒रे ता॒यमा॑ने (ऋ० १०,१७,७) "यज्ञ का विस्तार किये जाने पर, देवताओं के श्रद्धालु लोग सरस्वती का आह्वान करते हैं", क्री॒ते सोमे॑ मैत्रावरु॒णाय॑ द॒ण्डं प्र य॑च्छति (तै० सं) "सोमलता के खरीदे जाने पर, वह मैत्रावरुण ऋत्विक् को दण्ड देता है", अ॒शि॒ताव॒त्यति॑थावश्नीयात् (अ० ९,६,३८) "अतिथि के भोजन करने पर, वह भोजन करे"।

वाक्य में पदों का क्रम

३८५. छन्दोबद्ध रचनाओं में मुख्यतया छन्दः के विचार से पदों का क्रम निर्धारित किया जाता है। अत एव छन्दोबद्ध रचनाओं से इस बात का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता कि वैदिकभाषा में पदों के क्रम के क्या नियम थे। परन्तु गद्यात्मक ब्राह्मणों से पदों के क्रम के नियमों का आभास अवश्य मिलता है। इस सम्बन्ध में प्रधान नियम यह है कि प्रायेण विशेषण-रहित प्रथमान्त पद वाक्य के प्रारम्भ में, तिङन्त पद या मुख्य क्रियापद वाक्य के अन्त में, और अन्य पद इन पदों के मध्य में आते हैं; यथा— विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति (श० ब्रा०) "प्रजा शासक को कर देती है", स आहवनीयागारे वैतां रात्रिं शयीत (श० ब्रा० १,१,१,११) "या वह इस रात में आहवनीयागार में सोये"। किसी पद से सम्बद्ध विशेषण, सर्वनाम तथा षष्ठ्यन्त पद को प्रायेण उस से पूर्व रक्खा जाता है; यथा— तस्य भीतस्य स्वो महिमाऽपचक्राम (श० ब्रा० २,२,४,४) "उस डरे हुए का अपना महत्त्व चला गया", परन्तु जब प्रथमान्त पद विधेय के रूप में होता है, तब वह वाक्य के प्रारम्भ में न आकर, प्रायेण मुख्य क्रियापद से ठीक पूर्व आता है। ऐसा पद चाहे संज्ञा हो या विशेषण; यथा— सर्वे ह वै देवा अग्रे सदृशा आसुः (श० ब्रा०) "पहले सब देवता एक जैसे थे", त्वष्टुर्ह वै पुत्रः, त्रिशीर्षा षडक्ष आस (श० ब्रा० १६,३,१) "त्वष्टा का पुत्र निश्चय ही तीन सिरों वाला और छः आंखों वाला था"।

परन्तु जब किसी पद के अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है, तब ऐसे पद को वाक्य के प्रारम्भ में रक्खा जाता है, चाहे ऐसा पद विधेय, तिङन्त या अन्य किसी प्रकार का हो; यथा— यन्ति वा आप एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि (श० ब्रा०) "जल चलते हैं, आदित्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं", मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः (श० ब्रा०) "पहले देवता मरणधर्मा थे", संग्रामे हि क्रूरं क्रियते (श० ब्रा०) "क्योंकि संग्राम मे क्रूर कर्म किया जाता है"।

दशमोऽध्यायः

निपातों में से केवल अथ, अपि, उत तथा निषेधवाचक न वाक्य के प्रारम्भ में आते हैं। अन्य निपात तथा सर्वनामों के निघातादेश (अनु० १६४ग, पृ० ३४०) वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त नहीं होते हैं।

टिप्पणियां

१. पा० १,४,८०-८२—ते प्राग्धातोः। छन्दसि परेऽपि। व्यवहिताश्च।

२. निरुक्त १,४—अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति।

३. निरुक्त १,४—अपि पदपूरणाः। दे० पृ० ३६३ पर टि० २।

४. पा० २,३ ४६-४७—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा। सम्बोधने च।

५. पा० २,३,१-२—अनभिहिते। कर्मणि द्वितीया।

६. पा० १,४,४९-५०—कर्तुरीप्सिततमं कर्म। तथायुक्तं चानीप्सितम्।

७. पा० १,४,५१—अकथितं च। इस पर कारिका (सि० कौ०)—दुह्-याच्पच्दण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्। कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥

८. पा० १,४,५२— गतिबुद्धिप्रत्ययसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ।

९. पा० २,३,६९-७०—न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ।

१०. पा० २,३,५—कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।

११. पा० १,४,८३-९८(कर्मप्रवचनीयों की परिगणना) । पा० २,३,८—कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।

१२. पा० २,३,४—अन्तराऽन्तरेणयुक्ते । पा० २,३,२ पर वार्तिक—अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि (सि० कौ०); कारिका—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

१३. पा० १,४,५४—स्वतन्त्रः कर्ता । पा० २,३,१८—कर्तृकरणयोस्तृतीया ।

१४. पा० २,३,७१—कृत्यानां कर्तरि वा ।

१५. पा० १,४,४२—साधकतमं करणम् ।

१६. पा० २,३ १९—सहयुक्तेऽप्रधाने ।

१७. पा० २,३,७२—तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् । तु० पा० २,१,३१ ।

१८. पा० २,३,२३—हेतौ ।

१९. पा० २,३,६—अपवर्गे तृतीया ।

२०. पा० २,३,१८ पर वार्तिक (काशि०)—तृतीयाविधाने प्रकृत्यादीनामुपसंख्यानम् ।

२१ पा० २,३,१३—चतुर्थी सम्प्रदाने ।

२२. पा० १,४,३२—कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् । इस पर वार्तिक (सि० कौ०)—क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् ।

२३. पा० १,४,३३—रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ।

२४. पा० १,४,३४—श्लाघह्नुस्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।

२५. पा० १,४,३६—स्पृहेरीप्सितः ।

२६. पा० १,४,३७—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ।

दशमोऽध्यायः

एकादशोऽध्यायः

स्वर-प्रकरणम्

३८६. ऋ०, अ०, सा०, वा० सं०, तै० सं०, मै० सं०, का० सं० (कुछ भाग), तै० ब्रा० तथा श० ब्रा० में स्वरों के चिह्न अङ्कित मिलते हैं।

पाणिनि तथा प्रातिशाख्यों के अनुसार, मुख्य स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। पाणिनि तथा प्रातिशाख्यों ने इन स्वरों के स्वरूप पर भी विचार किया है। स्वरों के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित केवल अचों के गुण माने जाते है। वास्तव में स्वरों को अक्षरों (पृ० २२) का गुण मानना अधिक युक्तियुक्त होगा[१क]। इन में उदात्त ही मुख्य स्वर है।

३८७. उदात्त— 'उदात्त' का शाब्दिक अर्थ है— "ऊपर उठाया हुआ" (उद्+आ+√दा+क्त)। अनेक आचार्यों के मतानुसार, तालु आदि उच्चारण-स्थानों (पृ० १०) के ऊर्ध्वभाग तथा अधोभाग माने जा सकते है और भाग-युक्त उच्चारण-स्थानों के ऊर्ध्व-भाग में निष्पन्न होने वाला अच् (स्वर) उदात्त कहलाता है[१]। तै० प्रा० में दिये गये व्याख्यान के अनुसार, उदात्त अक्षर के उच्चारण में गात्रों का आयाम (निग्रह, दैर्घ्य, खिचाव), स्वर की रूक्षता (रूखापन), और कण्ठ-विवर का संकोच होता है[२]। उदाहरण— ये "जो", ते "वे" इत्यादि।

(१) सामान्यतया उदात्त ही प्रत्येक पद का मुख्य स्वर होता है परन्तु कहीं-कहीं स्वतन्त्र स्वरित भी पद के मुख्य स्वर का कार्य करता है, (इस का विवरण नीचे, अनु० ३८९ में देखिये)। मुख्य स्वर वाले अक्षर को छोड़ कर, पद के शेष अक्षरों का स्वर अनुदात्त होता है[१]। (दे०— इस सामान्य नियम के अपवाद, नीचे अनु० ३८८)। निम्नलिखित पदों

में सामान्य नियम के अपवादस्वरूप दो अक्षरों पर उदात्त स्वर होता है—

दो उदात्त वाले पद— तुमर्थक तवै-प्रत्ययान्त रूपों में धातु के अक्षर पर तथा तवै के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है[४]; यथा— एतवै "जाना"; पातवै "पीना" । दे० अनु० ३४०क। परन्तु जब किसी उपसर्ग का तवै-प्रत्ययान्त धातु से समास होता है, तब धातु पर उदात्त न रह कर उपसर्ग पर प्रकृति-भाव से उदात्त रहता है[५]; यथा— अन्वेतवै "अनुगमन करना", अपभर्तवै "दूर ले जाना" । ऋ० में प्रयुक्त वाव निपात के दोनों अक्षरों पर उदात्त होता है । देवताद्वन्द्व समास में (अनु० १८०क) तथा षष्ठीतत्पुरुष समास के कतिपय उदाहरणों में दोनों पदों पर प्रकृतिभाव से उदात्त रहता है, अर्थात् ऐसे समासों में दो अक्षरों पर उदात्त रहता है[६]; यथा— मित्रावरुणा , बृहस्पतिः , वनस्पतिः ।

आधुनिक मत— आधुनिक विद्वानों का मत है कि ऋ० की भाषा में मुख्य स्वर उदात्त का स्थान शब्दों के उसी अक्षर पर है जिस अक्षर पर इण्डो-योरोपीय मूल भाषा में था । इस मत के समर्थन में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है, जिस के अनुसार ऋ० में और ग्रीकभाषा में प्रायेण समान शब्दों के समान अक्षर पर उदात्त मिलता है; यथा— जानु "घुटना"=ग्रीक Gónu; ततः (√तन्+क्त) "फैलाया हुआ"=ग्रीक Tatós.

३८८. **अनुदात्त**— वास्तव में 'अनुदात्त' उदात्त का नञ्तत्पुरुष समास है और इस का शाब्दिक अर्थ है "ऊपर न उठाया हुआ" । अनेक आचार्यों के मतानुसार, तालु आदि उच्चारण-स्थानों (पृ० १०) के ऊर्ध्वभाग तथा अधोभाग माने जा सकते हैं, और भाग-युक्त उच्चारण-स्थानों के अधोभाग में निष्पन्न होने वाला अच् (स्वर) अनुदात्त कहलाता है[७] । तै० प्रा० में दिये गये व्याख्यान के अनुसार, अनुदात्त अक्षर के उच्चारण में गात्रों का ढ़ीलापन (अन्ववसर्गः), स्वर की मृदुता, और कण्ठविवर का फैलाव (उरुता) होता है[८] ।

सामान्यतया पदों के मुख्य स्वर (उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित) वाले अक्षर को छोड़ कर शेष सब अक्षरों का स्वर अनुदात्त होता है

(टि० ३)। परन्तु निम्नलिखित पदों के सभी अक्षर अनुदात्त (सर्वानुदात्त) होते है—

१. **अनुदात्त निपात**— च, वा, उ, इव, घ, ह, चित्, ईम्, सीम्, भल, समह, स्म, स्वित्[८क]।

२. **अनुदात्त सर्वनाम**— त्व, सम तथा अपूर्ण सर्वनाम एन (पृ० ३५०) के सब रूप अनुदात्त होते है।

३. अस्मद् तथा युष्मद् के निघातादेश वाले सब रूप पूर्णतया अनुदात्त होते है (पृ० ३३९-३४०)—मा, मे, नौ, नः; त्वा, ते, वाम्, वः।

४. अन्वादेश में इदम् सर्वनाम के तृतीयादि विभक्तियों के रूप पूर्णतया अनुदात्त होते हैं (पृ० ३५०); यथा—अस्मात्, अस्य। ऐसे सर्वानुदात्त रूप वाक्य या पाद के प्रारम्भ में नही आते है।

५. जब यथा अव्यय इव के अर्थ में पाद के अन्त में आता है, तब यह प्रायेण सर्वानुदात्त होता है (तु० फिट्सूत्र ८५—"यथेति पादान्ते"); यथा—तायवो यथा (ऋ० १,५०,२) "चोरों की तरह"।

६. नु, सु तथा हि निपात से परे आने वाला निपात कम् सर्वानुदात्त होता है।

७. पाद या वाक्य के प्रारम्भ में न आने वाला सम्बोधन-पद सर्वानुदात्त होता है।

८. पाद या वाक्य के प्रारम्भ मे न आने वाला तिङन्त पद, कुछ अपवादों को छोड़कर, सर्वानुदात्त होता है।

प्रचय, एकश्रुति— प्रा० के अनुसार, संहितापाठ में स्वरित से परे जो अनुदात्त आते है, उन में से परवर्ती उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित से ठीक पहले आने वाले अनुदात्त को छोड़ कर, शेष अनुदात्तों का प्रचय स्वर होता है और प्रचय स्वर की उदात्तश्रुति होती है[९]; यथा— इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋ० १०,७५,५) प्रचय स्वर को शिक्षा-ग्रन्थों में प्रचित भी कहते हैं। वा० प्रा० (टि० ६) उदात्तश्रुति के

स्थान पर उदात्तमय शब्द का प्रयोग करता है। प्रातिशाख्यों के मतानुसार, प्रचय या प्रचित स्वर का श्रवण उदात्त के सदृश होता है। पा० के मतानुसार, संहिता में स्वरित से परे आने वाले अनुदात्तों की एकश्रुति होती है[10]। काशिका के अनुसार, उदात्तादि स्वरों के भेद का अभाव एकश्रुति है[11]।

सन्नतर, अनुदात्ततर—स्वरित से परे जो अनुदात्त आते हैं उन में से जो अनुदात्त परवर्ती उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित से ठीक पहले आता है उसे प्रचय या प्रचित नही माना जाता है[12]; यथा उपर्युक्त उदाहरण में शुतुद्रि पद के आद्युदात्त से ठीक पूर्व आने वाले सरस्वति पद के ति के अनुदात्त को प्रचय या प्रचित नहीं मानते है। पाणिनि इस प्रकार के अनुदात्त का सन्नतर आदेश करता है और काशिका ने सन्नतर का व्याख्यान अनुदात्ततर किया है[13]।

३८९. **स्वरित**—पा० तथा तै० प्रा० के अनुसार, उदात्त और अनुदात्त का समाहार (मेल) स्वरित कहलाता है, अर्थात् स्वरित स्वर में उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों का मेल होता है[14]; यथा—क्व। ऋ० प्रा० तथा अ० प्रा० के अनुसार, आक्षेप (अर्थात् वायु के कारण गात्रों के तिर्यग्गमन—तिरछापन) से स्वरित का उच्चारण होता है[15]। पा० तथा प्रा० के अनुसार, उदात्त से परे आने वाले अनुदात्त का स्वरित बन जाता है यदि उस से परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो[16]; यथा—अग्निना, परन्तु—स देवान् (ऋ० १,१,२), अश्वाः क्व (ऋ० ५, ६१,२)। उदात्त तथा अनुदात्त के समाहार से बने स्वरित स्वर में उदात्त और अनुदात्त के स्थान तथा अनुपात के सम्बन्ध में वा० प्रा० तथा अ० प्रा० का मत है कि स्वरित स्वर के आदि का अर्धमात्र भाग उदात्त और शेष आधा भाग अनुदात्त होता है, अर्थात् स्वरित ह्रस्व स्वर के आदि भाग की आधी मात्रा और दीर्घ स्वर के आदि भाग की एक मात्रा उदात्त होती है[17]। इस सम्बन्ध में पाणिनि का मत है कि स्वरित स्वर के आदि भाग की अर्धह्रस्व मात्रा उदात्त होती

है; अर्थात् स्वरित ह्रस्व स्वर के आदि भाग की आधी मात्रा उदात्त और शेष आधी मात्रा अनुदात्त, दीर्घ स्वर के आदि भाग की आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है[१८]। ऋ० प्रा० के अनुसार, उदात्त से परे स्वरित के आदि की आधी मात्रा या आदि का आधा भाग उदात्ततर होता है और पर (परवर्ती) का शेप अनुदात्त होता है जिस की उदात्तश्रुति होती है[१९], अर्थात् उदात्त जैसा श्रवण होता है। तै० प्रा० ने इस विषय पर पूर्ण विचार किया है और अनेक विकल्प भी प्रस्तुत किये है। तै० प्रा० कहता है कि उदात्त से परे आने वाले स्वरित के आदि का उतना भाग उदात्ततर होता है जितना भाग ह्रस्व स्वर की आधी मात्रा के समान होता है[२०]। स्वरित के शेष भाग के सम्बन्ध मे तै० प्रा० ने निम्नलिखित विकल्प प्रस्तुत किये हैं— ह्रस्व की अर्धमात्रा से शेप भाग व्यञ्जन-सहित भी उदात्त के समान होता है, या अनुदात्ततर होता है, या अनुदात्त के समान होता है[२१]। तै० प्रा० में उद्धृत आचार्यों के मतानुसार, स्वरित के आदि का (अर्धह्रस्वकाल) भाग उदात्तसम होता है और शेप अनुदात्तसम होता है[२२]। आचार्यों का यह मत उपर्युक्त पाणिनीय मत के समान है। तै० प्रा० ने कुछ अन्य आचार्यो के मत का उल्लेख किया है जिस के अनुसार, सारा स्वरित (उदात्त के चढ़ाव अर्थात् स्वर के आरोह से) उतार या अवरोह (प्रवण) है[२३]।

स्वरित के भेद—आधुनिक विद्वानों के मतानुसार स्वरित के दो प्रधान भेद हैं—(१) आश्रित (enclitic or dependent) स्वरित और (२) स्वतन्त्र (independent) स्वरित। वास्तव में स्वरित एक आश्रित स्वर है जो उदात्त के आश्रय पर रहता है। परन्तु जब सन्धिविकार के कारण से आश्रयदाता उदात्त स्वर का नाश हो जाता है, तब आश्रित स्वर स्वरित भी स्वतन्त्र स्वर का रूप धारण कर लेता है। आश्रित स्वरित और स्वतन्त्र स्वरित का मुख्य अन्तर यह है कि आश्रित स्वरित पद के प्रधान स्वर उदात्त की छाया की भांति उस के पीछे रहता है, जब कि स्वतन्त्र स्वरित पद के प्रधान स्वर के रूप में रहता

है। आश्रित स्वरित से परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर वह अनुदात्त बन जाता है जब कि स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त आने पर भी वह स्वरित बना रहता है। अनेक ग्रन्थों में तथा परिस्थितियों में आश्रित स्वरित और स्वतन्त्र स्वरित को भिन्न-भिन्न प्रकार से अङ्कित किया जाता है (दे० नीचे अनु० ३९१-३९५)।

आश्रित स्वरित के प्रभेद—प्रातिशाख्यों ने आश्रित स्वरित के निम्नलिखित प्रभेद माने है—

(१) **तैरोव्यञ्जन स्वरित**—पूर्ववर्ती उदात्त और उस से परे आने वाले आश्रित स्वरित के मध्य व्यञ्जन का व्यवधान होने पर ऐसे स्वरित को तैरोव्यञ्जन कहते है[२४]; यथा—अ॒ग्निना॑। तै० प्रा० के अनुसार, जिस स्वरित से पूर्व उदात्त होता है वह तैरोव्यञ्जन कहलाता है; और त्रिभाष्यरत्न के व्याख्यान के अनुसार यह लक्षण उस स्वरित के लिये है जिस का आश्रयदाता उदात्त उसी एक पद मे हो[२५]; यथा—यु॒ञ्जन्ति॑। इस लक्षण के अनुसार, पूर्ववर्ती उदात्त और आश्रित स्वरित के मध्य व्यञ्जन का व्यवधान न होने पर भी स्वरित तैरोव्यञ्जन कहलाता है; यथा— प्रउ॑गम्।

(२) **तैरोविराम स्वरित**—पदपाठ में जब अवग्रह (दे० अनु० ९०, पृ० १९४-२००) से ठीक पूर्व उदात्त अक्षर हो और उस उदात्त पर आश्रित स्वरित अवग्रह से परे आता है, तो ऐसे स्वरित को तैरोविराम कहते है[२६]; य॒ज्ञऽप॑तिम्, प॒द्भिऽभि॑ः। वास्तव में तैरोविराम उस स्वरित को कहते हैं जो अपने आश्रयदाता स्वरित से विराम (अवग्रह) के द्वारा व्यवहित है और इस के उदाहरण प्रायेण समस्तपदों के पदपाठ में मिलते हैं। ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठ में तैरोविराम स्वरित मिलता है। परन्तु तै० सं० के पदपाठ में तैरोविराम स्वरित सम्भव नहीं है, क्योंकि इस में अवग्रह से पृथक् किये हुए खण्डों को, पूर्णविराम से पृथक् किये गये खण्डों की भाँति, स्वर की दृष्टि से पृथक् इकाई माना जाता है और अवग्रह से पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त का स्वरित नही बनता है; यथा—शु॒क्रऽव॑ती।

(३) **प्रातिहत स्वरित**—संहिता में पूर्वपद के अन्तिम अक्षर के उदात्त के कारण परवर्ती पद के आदि अक्षर के अनुदात्त का जो स्वरित बनता है, उस स्वरित के लिये तै० प्रा० में प्रातिहत संज्ञा का प्रयोग किया गया है[२७]; यथा— यस्त्वा (तै० सं० १,४,४६,१)।

(४) **पादवृत्त या वैवृत्त स्वरित**— ऋ० प्रा० के अनुसार, संहिता मे जहां पदान्तीय तथा पदादि स्वरों के बीच अन्तर (interval) रहता है और सन्धिज विकार नहीं होता है, उसे विवृत्ति कहते है[२८]। विवृत्ति में पूर्वपद के अन्तिम अच् के उदात्त के कारण परवर्ती पद के आदि अच् के अनुदात्त का जो स्वरित बनता है उसे वैवृत्त या पाद-वृत्त कहते है[२९]; यथा— ध्रुवा असदन् (वा० सं० २,६)।

स्वतन्त्र स्वरित के प्रभेद— प्रातिशाख्यों में स्वतन्त्र स्वरित के निम्न-लिखित प्रभेद गिनाये गये है—

(१) **जात्य या नित्य स्वरित**— एक पद में संयुक्तव्यञ्जनान्त यकार या वकार से परे आने वाले जिस स्वरित से पूर्व अनुदात्त हो या अनुदात्त भी न हो, उसे जात्य स्वरित या (तै० प्रा० के अनुसार) नित्य स्वरित कहते है[३०]; यथा— स्वः, क्वं, कुन्या। उवट ने ऋ० प्रा० के भाष्य में लिखा है कि उदात्त और अनुदात्त की संगति के बिना जाति से अर्थात् स्वरूप से ही जो स्वरित उत्पन्न हुआ है वह जात्य है[३१]। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, जात्य स्वरित तब उत्पन्न होता है जब अन्तःपदसन्धि (पृ० १३०) के कारण उदात्त इकार उकार का क्रमशः यकार वकार बनने से परवर्ती स्वरित स्वतन्त्र हो जाता है; यथा— कु+ अं =क्वं।

(२) **अभिनिहित स्वरित**— अभिनिहित (पा० पूर्वरूप) सन्धि (पृ० ८८) में पदान्तीय उदात्त ए ओ से परे आने वाले पदादि अनुदात्त अ का पूर्वरूप होने पर, पदान्तीय ए ओ पर जो स्वरित होता है उसे अभिनिहित स्वरित कहते है[३२]; यथा— सोऽब्रवीत् (तै० सं २,१,२, १), तेऽब्रुवन (तै० सं० २,५,१,३)।

(३) **क्षैप्र स्वरित**— क्षैप्र-सन्धि (पृ० ८५) में उदात्त इकार उकार का क्रमशः यकार वकार बनने पर, उत्पन्न होने वाला परवर्ती स्वतन्त्र स्वरित क्षैप्र कहलाता है[३३]; यथा— व्यानट् (वि+आनट्), न्विन्द्र (नु+इन्द्र)।

(४) **प्रश्लिष्ट स्वरित**— संहिता में पदान्तीय और पदादि स्वरों को सवर्ण-दीर्घ, गुण या वृद्धि एकादेश होना प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट सन्धि कहलाता है (दे० पृ०८२–८५)। सामान्यतया प्रश्लिष्ट सन्धि में एक उदात्त अच् होने पर, एकादेश का स्वर भी उदात्त होता है[३४]। परन्तु इस सामान्य नियम के अपवाद-स्वरूप निम्नलिखित परिस्थितियों में पदान्तीय अच् उदात्त और पदादि अच् अनुदात्त होने पर, प्रश्लिष्ट सन्धि में सवर्णदीर्घ एकादेश पर प्रश्लिष्ट नामक स्वतन्त्र स्वरित होता है—

क. ऋ०, अ०, वा० सं० तथा मै० सं० में यदि पदान्तीय ह्रस्व इकार उदात्त हो और उत्तरवर्ती पदादि ह्रस्व इकार अनुदात्त हो, तब सन्धि में सवर्णदीर्घ ई पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है[३५]; यथा— दिवि+इव= दिवीव (ऋ०, अ०): स्रुचि+इव=स्रुचीव (ऋ०, वा० सं०); अभि+ इन्धाम्=अभीन्धाम् (मै० सं०)। परन्तु तै० सं० में सामान्य नियम (टि० ३४) के अनुसार, ई एकादेश का स्वर उदात्त होता है; यथा— अभि+इन्धताम्=अभीन्धताम् (तै० सं० ४,१,६,२)।

ख. तै० सं० मे यदि पदान्तीय उकार उदात्त हो और परवर्ती पदादि उकार अनुदात्त हो, तब सन्धि मे सवर्णदीर्घ ऊ पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है[३६]; यथा— दिक्षु+उपदधाति=दिक्षूपदधाति (तै० सं० ५,५,५,४)। परन्तु ऋ०, अ० तथा वा० सं० मे सामान्य नियम (टि० ३४) के अनुसार, ऊ एकादेश का स्वर उदात्त होता है।

ग. ऋ० प्रा० में उद्धृत माण्डूकेय आचार्य के मत के अनुसार, यदि पूर्व-वर्ती पदान्तीय स्वर उदात्त और परवर्ती पदादि स्वर अनुदात्त हो, तो संहिता में एकादेश पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है[३७]। माण्डूकेय-शाखा

के नष्ट हो जाने से उस के प्रयोग का कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। परन्तु श० ब्रा० में इस नियम के अनुसार, प्रश्लिष्ट-सन्धि में जब पूर्ववर्ती पदान्तीय स्वर उदात्त और परवर्ती पदादि स्वर अनुदात्त हो, तो एकादेश के अच् पर सर्वत्र **प्रश्लिष्ट स्वरित** होता है।

३९०. **स्वरांकन की पद्धतियां**— स्वरांकन की कई भिन्न-भिन्न पद्धतियां प्रचलित हैं। ऋ०, अ०, वा० सं०, तै० सं० तथा तै० ब्रा० स्वरांकन की एक मुख्य पद्धति का अनुसरण करते हैं। मै० सं० तथा का० सं० की अपनी भिन्न स्वरांकन पद्धति है और श० ब्रा० की स्वरांकन पद्धति इन सब से भिन्न है। सा० में एक विशेष स्वरांकन पद्धति का अपनाया गया है। नीचे इन सब स्वरांकन पद्धतियों का पृथक् विवरण दिया गया है। वैदिक व्याकरण में ऋ० आदि ग्रन्थों की स्वरांकन पद्धति को अपनाया गया है।

३९१. **ऋ०, अ०, वा० सं०, तै० सं० तथा तै० ब्रा० की स्वरांकन-पद्धति**—इन ग्रन्थों में अपनाई गई स्वरांकन-पद्धति के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) उदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षर पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं लगाया जाता है; यथा—यः, वाव। अर्धर्च के प्रारम्भ में आने वाले सभी अनङ्कित-पदों को उदात्त समझना चाहिए; यथा—तावा यातम्, तवेत्तत्सत्यम्। प्रथम उदाहरण मे स्वरित से पूर्व और द्वितीय उदाहरण मे अनुदात्त से पूर्व के अनङ्कित अक्षर उदात्त है।

(२) उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित से पूर्ववर्ती प्रत्येक अनुदात्त को और सर्वानुदात्त पद के प्रत्येक अनुदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—अग्निः, वैश्वानरम्, कन्या, च, इव।

(३) प्रचय या प्रचित अनुदात्त (दे० अनु० ३८८) को प्रकट करने के लिये अक्षर पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं लगाया जाता है और उदात्त की भांति अनंकित छोड़ दिया जाता है, परन्तु सन्नतर अनुदात्त (टि० १२)

का चिह्न उपर्युक्त सामान्य नियम के अनुसार अक्षर के नीचे पड़ी रेखा के द्वारा अंकित किया जाता है; यथा—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋ० १०,७५;५)।

(४) आश्रित स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर पर सीधी खड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—अग्निना। जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके है (अनु० ३८९), पूर्ववर्ती उदात्त से परे आने वाले अनुदात्त का स्वरित बन जाता है, परन्तु उस से परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर अनुदात्त का स्वरित नहीं बनता है (टि० १६); यथा—स देवान् (ऋ०), अश्वाः क्व (ऋ०)।

(५) स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये ऋ०, तै० सं० तथा तै० ब्रा० और वा० सं० (काण्व) में, आश्रित स्वरित की भांति, अक्षर पर सीधी खड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—क्व, कन्या। अ० (शौनकीया) में इस के लिये, अक्षर के पश्चात् ʃ ऐसा चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—क्याʃके, कन्याʃ। वा० सं० (माध्यन्दिनी) में यदि स्वतन्त्र स्वरित अर्धर्च के आदि में हो और उस से पूर्व अनुदात्त न हो या उस से पूर्व उदात्त हो, तब उस को प्रकट करने के लिये अक्षर पर खड़ी रेखा का चिह्न (ऋ० की पद्धति के समान) अंकित किया जाता है; यथा—त्र्यम्बकं यजामहे (३,६०), व्यख्यत् (३,७), कृपा स्वः (४,२५), उर्व्या व्यद्यौत् (१२,१)। परन्तु जब स्वतन्त्र स्वरित से पूर्व अनुदात्त हो और उस से परे प्रचय, अनुदात्त या विराम हो, तब उसे प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे ⌊ ऐसी वक्ररेखा का चिह्न अङ्कित किया जाता है; यथा—वीर्याणि प्र वोचम् (५,१८), द्यौरसि पृथिव्यसि (१,२), दिवीव (६,५), वेदोऽसि (२,२१), वरूथ्यः (३,२५), राजस्वः (१०,६)।

(६) जब स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त आये, तब स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न पद्धतियों को अपनाया जाता है। अ० प्रा० के अनुसार, स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र,

प्रश्लिष्ट) से परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आने पर, पूर्ववर्ती स्वरित की ¼ मात्रा का निघात होता है जिसे विकम्पित कहते है[१८]। ऋ० प्रा० ३,६ के भाष्य में उवट ऐसे स्वरित के लिये कम्प संज्ञा का व्यवहार करता है। ऋ० तथा अ० में जब ऐसे स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त हो, तो स्वतन्त्र स्वरित के अक्षर के पश्चात् १ का अङ्क लिखा जाता है, यदि स्वरित का अक्षर ह्रस्व हो; और यदि दीर्घ हो, तो ३ का अङ्क लिखा जाता है। ऐसे १ तथा ३ के अङ्क के ऊपर स्वरित का चिह्न और नीचे अनुदात्त का चिह्न अंकित किया जाता है। १ के अङ्क से पूर्ववर्ती ह्रस्व अक्षर के नीचे अनुदात्त का चिह्न नहीं लगाया जाता है, परन्तु ३ के अङ्क से पूर्ववर्ती दीर्घ अक्षर के नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। उदाहरण— क्व १ त्री (ऋ० १,३४,९), तुन्वे३ ममे (ऋ० १,२३,२१), देव्यु १ पसः (अ० १०,८,३०), तुन्वे ३ शंकरम् (अ० १,३,१), भागो ३ पस्व १ न्तः (अ० १०,५,१५)।

(७) तै० सं० तथा तै० ब्रा० में स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त आने पर भी ऐसे स्वरित को अक्षर पर सीधी खड़ी रेखा के द्वारा अंकित किया जाता है और १ या ३ का अङ्क नही जोड़ा जाता है; यथा— अप्स्वन्तः (तै० सं० ४,२,२,१), राजन्यात्पुरुषाः (तै० सं० २,५,१०,१)। परन्तु जब स्वतन्त्र स्वरित से परे स्वतन्त्र स्वरित आये, तो पूर्ववर्ती स्वरित के पश्चात् १ का अङ्क लिखा जाता है और १ के नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है[१९]; यथा— ब्रहुदेवत्यो १ ह्येष (२,१,६,५), वीर्यं १ व्यभजन्त (तै० सं० ६,६,८,१)। कुछ पाण्डुलिपियों में कहीं-कही ऐसी स्थिति में २ तथा ३ अङ्क का प्रयोग भी मिलता है।

(८) वा० सं० (माध्यन्दिनी) में स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त आने पर, स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे ω ऐसा त्रिशूल-सदृश चिह्न अंकित किया जाता है; यथा— प्रसवेऽश्विनोः (१,१०), तुन्वो यत् (२,२४), कर्मण्यां मृदम् (११,५५)।

(९) वा० सं० (काण्व) में स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त आने पर स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे (अनुदात्त-चिह्न के

समान) सीधी पड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—
वी॒र्यं॑ मयि॑ (२१,१,८), प्र॒स॒वे॒ऽश्विनोः (१,३,६)।

(१०) छन्दोवद्ध वैदिक रचनाओं के संहितापाठ में अर्धर्च को स्वरांकन की दृष्टि से इकाई माना जाता है और उस में आने वाले पदों के स्वर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के स्वर से प्रभावित होते है; यथा—
विष्णो॒र्नु कं॑ वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं यः पार्थि॑वानि वि॒म॒मे रजां॑सि (ऋ० १, १५४,१)। तीन पादों के गायत्री छन्दः में पहले दो पादों का प्रथम अर्धर्च और तृतीय पाद का द्वितीय अर्धर्च होता है। चार पादों के छन्दों में पहले दो पादों का प्रथम अर्धर्च और तीसरे तथा चौथे पाद का द्वितीय अर्धर्च बनता है। पदपाठ में प्रत्येक पद का अपना स्वर ही अंकित किया जाता है और उदात्त की स्थिति के अनुसार अनुदात्त तथा स्वरित के चिह्न अंकित किये जाते है; यथा—

विष्णोः। नु। कम्। वीर्या॑णि। प्र। वो॒च॒म्। यः। पार्थि॑वानि। वि॒ऽम॒मे। रजां॑सि।

३९२. **का० सं० की स्वराङ्कन-पद्धति**—का० सं० की स्वराङ्कन-पद्धति उपर्युक्त ऋ० आदि की पद्धति से सर्वथा भिन्न है। का० सं० में उदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षर पर (ऋ० के स्वरित के समान) एक खड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—यँ आ, प्र। का० सं० की पाण्डुलिपियों में आश्रित स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे विन्दु का चिह्न अंकित किया जाता है और अनुदात्त के लिये अक्षर के नीचे पड़ी रेखा (ऋ० के अनुदात्त के समान) अंकित की जाती है[४०]; यथा—इ॒षे त्वा (१,१,१)। अन्य मत के अनुसार, का० सं० में अनुदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे खड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है[४१]; यथा—अ॒ग्निः। परन्तु सर्वश्री आदर तथा सातवलेकर द्वारा सम्पादित संस्करणों में अनुदात्त और आश्रित स्वरित के चिह्न नही लगाये गये हैं। केवल उदात्त और स्वतन्त्र स्वरित के चिह्न प्रयुक्त किये गये है। स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे

ꕖ ऐसा वक्र-चिह्न लगाया जाता है यदि उस से परे उदात्त न हो; यथा— क्व॒ , दि॒वीव। परन्तु श्री सातवलेकर द्वारा सम्पादित संस्करण में अक्षर के नीचे अर्धचन्द्र चिह्न लगाया जाता है; यथा— क्व॒, दि॒वीव। यदि स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त हो, तो ऐसे स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये श्री श्रादर द्वारा सम्पादित संस्करण में अक्षर के नीचे ∧ ऐसा चिह्न अंकित किया जाता है; यथा—वीर्यं॑ व्यां॑चष्टे, उर्व॒न्तरि॑क्षम्। परन्तु श्री सातवलेकर द्वारा सम्पादित संस्करण में ऐसे स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे ω ऐसा त्रिशूलसदृश चिह्न लगाया जाता है; यथा वीर्यं॑ व्यां॑चष्टे, उर्व॒न्तरि॑क्षम्। अन्य मत के अनुसार, का० सं में, वा० सं० (काण्व) की भांति (श्रनु० ३९१.९), उदात्त परे रहने पर स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे (ऋ० के अनुदात्त के समान) पड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है[४२]; यथा— प्रसवे॒ऽश्विनोः (२,९) । परन्तु जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है, मुद्रित संस्करणों में ऐसा चिह्न नहीं मिलता है।

३९३. **मै० सं० की स्वराङ्कन-पद्धति**— मै० सं० में उदात्त को प्रकट करने के लिये, का० सं० की भांति, अक्षर पर खड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा— यें, श्रां, प्रं। अनुदात्त के लिये मै० सं० में, ऋ० की भांति, अक्षर के नीचे पड़ी रेखा का चिह्न लगाया जाता है; यथा— इ॒षे॑, दे॒वः। आश्रित स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर को बीच में से काटने वाली पड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है यदि उस स्वरित से परे प्रचित अनुदात्त या विराम हो। परन्तु जब आश्रित स्वरित से परे अनुदात्ततर या सन्नतर अनुदात्त (अनु० ३८८) हो, तो स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर पर तीन खड़ी रेखाओं का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा— स॒वि॒तुः प्र॑स॒वे (१,१,२)। श्री श्रादर द्वारा सम्पादित संस्करण में अनुदात्त तथा आश्रित स्वर के चिह्न नहीं लगाये गये हैं और केवल उदात्त तथा स्वतन्त्र स्वरित के चिह्न प्रयुक्त किये गये हैं। श्री सातवलेकर द्वारा सम्पादित संस्करण में अनुदात्त के लिये, उपर्युक्त पद्धति के अनुसार,

अक्षर के नीचे पड़ी रेखा का चिह्न प्रयुक्त किया गया है और उपर्युक्त दो प्रकार के आश्रित स्वरितों के लिये निम्नलिखित चिह्नों का प्रयोग किया गया है—(१) जिस आश्रित स्वरित से परे प्रचित अनुदात्त या विराम हो उस के लिये ⌊ ऐसा वक्रचिह्न; यथा— धियः; (२) जिस आश्रित स्वरित से परे अनुदात्ततर हो उस के लिये ω ऐसा त्रिशूल-सदृश चिह्न; यथा— सवितुः प्रसवे।

स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे ⌊ ऐसा वक्रचिह्न लगाया जाता है यदि उस से परे उदात्त न हो; यथा—वीर्यम्, क्व। श्री सातवलेकर द्वारा सम्पादित संस्करण में उदात्त परे न रहने पर, स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे ◡ ऐसा अर्धचन्द्रबिन्दु जैसा चिह्न लगाया जाता है; यथा— वीर्यम्, क्व। जिस स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त हो, उस को प्रकट करने के लिये स्वरित अक्षर से पूर्व ३ का अङ्क लिखा जाता है और उस अक्षर के नीचे (ऋ० के अनुदात्त के समान) सीधी पड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा— अ३प्स्वन्तः (१,२,३९), तू३प्तोऽहम् (१, ४,३)।

३९४ सामवेद की स्वराङ्कन-पद्धति— (१) सामवेद (कौथुम) में उदात्त, आश्रित स्वरित और अनुदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षरों पर क्रमशः १, २ और ३ अङ्क लिखे जाते हैं; यथा— यज्ञस्य। (२) जब उदात्त से परे स्वरित न हो अर्थात् जब उदात्त से परे अर्धर्च का विराम या अनुदात्ततर हो, तब ऐसे उदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षर पर २ का अङ्क लिखा जाता है; यथा— वैयम् (१,१४), अस्य यज्ञस्य (१,३)। (३) यदि अर्धर्च के अन्त में विराम से पूर्व दो या अधिक उदात्त निरन्तर आते हों, तो उन में से केवल प्रथम उदात्त अक्षर पर २ का अङ्क लिखा जाता है और शेष उदात्तों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता; यथा— महो ◡ हि षः (२,९६)। (४) इस से अन्यत्र यदि दो या अधिक उदात्त निरन्तर आते हों, तो उन में से केवल प्रथम

उदात्त अक्षर पर १ का अङ्क लिखा जाता है और उन उदात्तों से परे आने वाले स्वरित अक्षर पर १२ अंकित किया जाता है ; यथा— नि होता१२ (१,१)। (५) यदि दो या अधिक निरन्तर आने वाले उदात्तों से परे स्वरित (जिसे २र से प्रकट किया जाता है) न आता हो और अनुदात्ततर आता है, तब उन उदात्तों मे से केवल प्रथम उदात्त अक्षर पर २उ का चिह्न अंकित किया जाता है और शेष उदात्त अक्षरों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है; यथा— वैनो२उ त्वं यन्मातृः (१,५३)। (६) यदि स्वतन्त्र स्वरित से परे विराम या अनुदात्ततर हो, उस स्वरित को प्रकट करने के लिये अक्षर पर २र अंकित किया जाता है और उस स्वरित से पूर्ववर्ती अनुदात्त अक्षर पर ३क लिखा जाता है; यथा— तन्वा, दूढ्यम्। (७) यदि स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त हो, स्वतन्त्र स्वरित के अक्षर पर २ का अङ्क लिखा जाता है और उस अक्षर को प्लुत बना कर प्लुति-सूचक ३ का अङ्क उस के सामने लिखा जाता है; यथा— दूत्यां ३ चरन्, प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती। (८) स्वरित से परे आने वाले प्रचय स्वर के लिये (ऋ० की भांति) कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है; यथा— आ तू न२र इन्द्र वृत्रहन्।

३९५. **श० ब्रा० की स्वराङ्कन-पद्धति**— (१) उदात्त को प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा का चिह्न (ऋ० के अनुदात्त के समान) अंकित किया जाता है; यथा अ॒थ, दे॒वाः। अनुदात्त तथा आश्रित स्वरित के लिये कोई चिह्न प्रयुक्त नहीं किया जाता है। (२) यदि दो या अधिक उदात्त निरन्तर आते हों, उन में से केवल अन्तिम उदात्त अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा का चिह्न अंकित किया जाता है और पूर्ववर्ती उदात्तों को किसी प्रकार के चिह्न के विना छोड़ दिया जाता है; यथा—अग्निर्हि वै धू॒र्थ (१,१,२,९)। (३) स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने के लिये, जिस अक्षर पर स्वतन्त्र स्वरित होता है उस से पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा का चिह्न लगाया जाता है; यथा—वी॒र्यम्। श्री वेवर द्वारा सम्पादित संस्करण में

इस प्रयोजन के लिये दोहरी पड़ी रेखा (=) का प्रयोग किया गया है। (४) यदि स्वतन्त्र स्वरित से पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त हो, तो उस उदात्त अक्षर के नीचे का चिह्न उस स्वरित और उदात्त दोनों का संकेत करता है; यथा—यज्ञो वै स्वः (१,१,२,२१) में वै के नीचे का चिह्न यज्ञः के अन्तिम उदात्त, वै के उदात्त और स्वः के स्वतन्त्र स्वरित का भी संकेत करता है। (५) यदि स्वतन्त्र स्वरित से परे उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित हो, तब भी ऐसे स्वरित को प्रकट करने के लिये पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे पड़ी रेखा का चिह्न लगाया जाता है और उत्तरवर्ती (द्वितीय) स्वतन्त्र स्वरित को प्रकट करने वाला रेखा-चिह्न पूर्ववर्ती स्वतन्त्र स्वरित के नीचे लगता है ; यथा— इति सैषैतम् (सा+एषा+एतम्, १,४,१,२६) में 'इ' के नीचे 'इति' के उदात्त का चिह्न, 'ति' के नीचे 'सै' के स्वतन्त्र (प्रश्लिष्ट) स्वरित का चिह्न, 'सै' के नीचे 'षै' के स्वतन्त्र (प्रश्लिष्ट) स्वरित का चिह्न, और 'त' के नीचे 'एतम्' के उदात्त का चिह्न है। (६) यदि विराम से पूर्ववर्ती अक्षर के अन्तिम अक्षर पर उदात्त हो या अन्तिम अक्षर से पहले अक्षर पर उदात्त हो और विराम के पश्चात् आने वाले प्रथम अक्षर पर उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित हो, तब विराम से पूर्ववर्ती अन्तिम उदात्त अक्षर या अन्तिम से पहले आने वाले उदात्त अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा की अपेक्षा तीन बिन्दुओं का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा— देवत्रा ॥ सः (५ १,४,७-८), इति ॥ अथ (४,४,५,३-४), प्रतिप्रस्थाता ॥ सोऽध्वर्युः (४,२,१,१३-१४), अन्तिम उदाहरण में सो पर अभिनिहित नामक स्वतन्त्र स्वरित है। यदि विराम के पश्चात् आने वाले प्रथम अक्षर पर स्वतन्त्र स्वरित हो, तब विराम से पूर्ववर्ती अन्तिम अनुदात्त अक्षर के नीचे भी तीन बिन्दुओं का चिह्न लगाया जाता है; यथा—इति ॥ तेऽविदुः (३,४,३,७-८)। यदि विराम से पूर्ववर्ती अन्तिम उदात्त अक्षर और विराम के पश्चात् आने वाले प्रथम अनुदात्त अक्षर की सन्धि से स्वतन्त्र स्वरित के उत्पन्न होने की

सम्भावना हो, तब विराम से पूर्ववर्ती अन्तिम उदात्त अक्षर से पहले आने वाले अक्षर के नीचे तीन विन्दुओं का चिह्न अंकित किया जाता है; यथा— एव । एतत् (३,४,२,१३), इस उदाहरण में एव के व और एतत् के ए की सन्धि से स्वतन्त्र स्वरित बन सकता है। अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय काशी द्वारा प्रकाशित संस्करण में नियम (६) में वर्णित स्वराङ्कन-पद्धति का पालन नहीं किया गया है . जिस उदात्त अक्षर के नीचे पड़ी रेखा या तीन बिन्दुओं का चिह्न अंकित किया जाता है उस पर आश्रित अनुस्वार चिह्न (ँ या ॅ) के नीचे भी सीधी पड़ी रेखा का चिह्न लगाया जाता है; यथा— सुँ स्थिते (१,१,१, ३),' यज्ञँ सम्भृत्य (१,९,२,२८)।

३९६. **सन्धि-स्वर**— (१) प्रश्लिष्ट सन्धि— प्रश्लिष्ट सन्धि (पृ ८२-८५) में, यदि पदान्तीय और पदादि स्वरों में से कोई एक या दोनों स्वर उदात्त हों, तो सवर्णदीर्घ, गुण या वृद्धि के एकादेश का स्वर भी उदात्त होता है (टि० ३४); यथा— इह+अस्ति= इहास्ति, तव+इत्= तवेत्, क्व+इत=क्वेत, आ+एनम्=ऐनम्, यत्र+ओषधीः= यत्रौषधीः, न+अन्तरः=नान्तरः।

विशेष— (क) ऋ०, अ०, वा० सं० तथा मै० सं० में यदि पदान्तीय ह्रस्व इकार उदात्त हो और उत्तरवर्ती पदादि ह्रस्व इकार अनुदात्त हो, तब उन के सवर्णदीर्घ एकादेश ई पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है (टि० ३५); यथा— दिवि+इव=दिवीव। परन्तु तै० सं० में सामान्य नियम के अनुसार ई एकादेश का स्वर उदात्त होता है; यथा— दिवीव।

(ख) तै० सं० में यदि पदान्तीय उकार उदात्त और परवर्ती पदादि उकार अनुदात्त हो, तब सवर्णदीर्घ एकादेश ऊ पर प्रश्लिष्ट स्वरित होता है (टि० ३६); यथा— द्रिक्षु+उपदधाति=द्रिक्षूपदधाति (तै० सं० ५, ५,५,४)।

(ग) श० ब्रा० में यदि पूर्ववर्ती पदान्तीय स्वर उदात्त और परवर्ती पदादि स्वर अनुदात्त हो, तो एकादेश के अच् पर सर्वत्र प्रश्लिष्ट नामक स्वतन्त्र

स्वरित होता है (टि० ३७) ; यथा— एव+अश्नीयात्=एवाश्नीयात् (१,१,१,१०), सः+अकामयत=सोऽकामयत (४,५,४,५) ।

(२) क्षैप्र-सन्धि— क्षैप्र-सन्धि (पृ० ८५) में जब उदात्त इकार उकार का क्रमशः य् व् बनने पर, परवर्ती अनुदात्त क्षैप्र नामक स्वतन्त्र स्वरित का रूप धारण करता है (टि० ३३); यथा— वि+आनद्=व्यानद्, नु+इन्द्र=न्विन्द्र ।

(३) अभिनिहित-सन्धि— अभिनिहित (पा० पूर्वरूप) सन्धि में पदान्तीय अनुदात्त (या आश्रित स्वरित) ए ओ से परे आने वाले पदादि उदात्त अ का पूर्वरूप बनने पर, अ का उदात्त ए ओ पर चला जाता है; यथा— सूनवे+अग्ने=सूनवेऽग्ने (ऋ० १,१,६), वः+अवसः=वोऽवसः (ऋ० ५,५७,७) ।

विशेष— यदि पदान्तीय ए ओ उदात्त और परवर्ती पदादि अ अनुदात्त हो, तब अ का पूर्वरूप बनने से ए ओ पर अभिनिहित नामक स्वतन्त्र स्वरित होता है (टि० ३२); यथा— सो+अब्रवीत्=सोऽब्रवीत् (तै० सं० २,१,२,१), ते+अब्रुवन्=तेऽब्रुवन् (तै० सं० २,५,१,३) ।

समास-स्वर

३९७. **सामान्य नियम**— समास-स्वर के सम्बन्ध में पाणिनीय व्याकरण का सामान्य नियम यह है कि साधारण समास के अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है; और बहुव्रीहि समास के पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है[४३] । वैदिक व्याकरण के प्रथम भाग (पञ्चम अध्याय) में समासों का जो वर्णन किया गया है उस के आधार पर हम यह सामान्य नियम निर्धारित कर सकते हैं कि बहुव्रीहि समास, शत्रन्तप्रधान समास और द्विरुक्त समास में पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है और द्वन्द्व-समास, तत्पुरुष समास, अव्ययीभावसमास तथा शेष समासों में अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहते हैं । सामान्य नियम के अनेक अपवाद हैं जिन का विवरण नीचे दिया गया है ।

३९८. द्वन्द्व, अव्ययीभाव, तत्पुरुष इत्यादि समासों का स्वर— जैसा कि हम ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं इन समासों में सामान्यतया अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है (टि० ४३)। इन में से प्रत्येक समास के स्वर का वर्णन अधोलिखित है।

(क) **द्वन्द्व-समास**—द्वन्द्व समास (पृ० ४०८-४१२) में सामान्यतया अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा— अजावयः, सत्यानृते, अहोरात्राणि, इष्टापूर्तम्।

अपवाद— १. देवताद्वन्द्व समासों (पृ० ४०८-४०९) में दोनों पदों पर उदात्त मिलता है[४४]; यथा— मित्रा-वरुणा, इन्द्रा-वरुणा, द्यावा-पृथिवी। परन्तु देवताद्वन्द्व के कतिपय उदाहरणों (पृ० ४०९) में सामान्य नियम के अनुसार केवल अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है[४५]; यथा— इन्द्रवायू, इन्द्राग्नी।

२. द्वन्द्वसमास में संख्यावाची पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है[४५क]; यथा— एकादश।

(ख) **अव्ययीभाव समास**— अव्ययीभाव समास (पृ० ४२८) में सामान्यतया अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा— अनुकामम्, अधियज्ञम्, यथास्थानम्।

अपवाद— परन्तु कतिपय उदाहरणों में पूर्वपद पर उदात्त मिलता है; यथा— अधिरथम् (ऋ०) 'रथ पर"।

(ग) **तत्पुरुष समास**— तत्पुरुष समास (पृ० ४१२-४२०) में सामान्यतया अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा – राजपुत्र "राजा का पुत्र", मधुमिश्र "मधु के साथ मिश्रित", अपराह्ण (तै० सं०) "दिन का पिछला भाग", वृत्रहन् "वृत्र को मारने वाला", महाग्राम "बड़ा समूह", त्रियुगम् "तीन युग", सुमतिः "अच्छी बुद्धि", अतिमात्रम् (अ०) "मात्रा से बढ़ कर"।

अपवाद— १. द्वितीया समास (पृ० ४१३) में पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है[४६]; यथा— संवत्सरभृतम् (श० ब्रा०)।

२. तृतीया समास (पृ० ४१३) में पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है (टि० ४६); यथा— अद्रिदुग्ध, इन्द्रप्रसूत, तिलमिश्र। परन्तु अग्नितप्त (ऋ०), अग्निदग्ध (ऋ०), मधुमिश्र (तै० सं०) में अन्तिम अक्षर पर उदात्त है।

३. चतुर्थी समास में पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है, यदि उत्तरपद क्तान्त या अर्थ हो[४७]; यथा— मनुर्हितम्।

४. षष्ठीसमास के उत्तरपद में पति आने पर उदात्त का स्थान भिन्न-भिन्न उदाहरणों में भिन्न है। ऋ० के २२ उदाहरणों में उत्तरपद में पति आने पर, पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है[४८]; यथा— गृहपति, गोपति, पशुपति। इसी प्रकार अन्य संहिताओं के कतिपय उदाहरणों में भी पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है; यथा— अतिथिपति (अ०), क्षत्रपति (वा० सं०), भुवनपति (तै० सं०, वा० सं०), भूपति (तै० सं०)। इसी प्रकार उत्तरपद में पत्नी आने पर, ऋ० के १० उदाहरणों में और अ० तथा वा० सं० आदि के कतिपय उदाहरणों में पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है; यथा— दासपत्नी, गृहपत्नी, देवपत्नी, वाजपत्नी, विष्णुपत्नी (तै० सं०, वा० सं०)। कुछेक उदाहरणों के उत्तरपद में पति पर प्रकृति से उदात्त रहता है[४९]; यथा— ऋ० में नृपति, रयिपति, विश्पति; वा० सं० में अहुपति, चित्पति, वाक्पति; अ० में ऋतुपति, पशुपति, पुष्टिपति, भूतपति, स्थपति। इसी प्रकार कुछेक उदाहरणों में उत्तरपद पत्नी के आदि अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा— वसुपत्नी, विश्पत्नी। उत्तरकालीन संहिताओं में— विशेषतः वा० सं० तथा मै० सं० में— कुछ ऐसे उदाहरण मिलते है जिन में उत्तरपद पति के अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है[५०]; यथा— अ० में अप्सरापति, व्राजपति (व्राजपति ऋ०); वा० सं० में अंहसस्पति, उपपति, एदिधिषुःपति, नदीपति; मै० सं० में अहपति, चित्पति, भुवनपति, भूपति, वाक्पति।

एकादशोऽध्यायः

"निष्कपट कर्मो वाला", तुविद्युम्न "विशाल कीर्ति वाला", शितिपादः (ऋ०) "श्वेत पांवों वाले"। परन्तु उत्तरकालीन संहिताओं के कुछ उदाहरणों में पूर्वपद पर उदात्त मिलता है; यथा— पुरु-णामन् (अ०) "बहुत से नामों वाला", शिति-ककुद् "श्वेत ककुद् वाला"।

(ख) **द्विरुक्त-समास—** द्विरुक्त-समास (पृ० ४३०) में केवल पूर्वपद पर उदात्त रहता है[५८]; यथा— अहरहः, दिवे-दिवे, पञ्च-पञ्च "पांच-पांच", पिब-पिब "बार-बार पीयो", प्र-प्र।

(ग) **शत्रन्त-प्रधान-समास**— शत्रन्त-प्रधान-समास (पृ० ४२९) में पूर्वपद पर उदात्त रहता है[५९]; यथा— यातयज्जन-, मन्दयत्सखम्, विदद्वसु।

सुप्-विभक्तियों का स्वर

४००. पाणिनीय व्याकरण के सामान्य नियम के अनुसार, सुप् तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं[६०]। परन्तु इस नियम के अपवाद-स्वरूप कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछेक सुप् प्रत्ययों पर उदात्त होता है। इस का विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है :—

४०१. **हलन्त प्रातिपदिकों से परे सुप् का स्वर**— (क) जिन अनेकाच् हलन्त प्रातिपदिकों में अन्तिम अक्षर से पूर्ववर्ती किसी भी अक्षर पर उदात्त है, उन से परे आने वाले सुप्-प्रत्यय पर कभी उदात्त नहीं होता है। जो प्रातिपदिक सप्तमी बहुवचन की विभक्ति सु से पूर्व एकाच् है, उस एकाच् प्रातिपदिक से परे तृ०, च०, पं०, ष० तथा स० विभक्ति पर उदात्त रहता है[६१]; यथा—वाच् (पृ० २२५) से—वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भिः, वाचे, वाग्भ्यः, वाचः, वाचि, वाचाम्। एकाच् प्रातिपदिकों में यह नियम लागू होता है। ऐसे प्रातिपदिकों के द्वितीया व० के कतिपय रूपों में भी विभक्ति पर उदात्त मिलता है; यथा— वाचः, पदः (पृ० २३४), इत्यादि। अप्, पुंस्, दिव् तथा पदादि (अपूर्ण प्रातिपदिकों पृ० २३४) से परे असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति पर उदात्त होता है[६१क] (दे० अनु० ११२,११५,११६,१३४)।

विशेष—श्वन् (पृ० २७१) के सभी रूपों में प्रातिपदिक पर उदात्त रहता है[६२]; यथा—शुना, शुनः, श्वभिः, श्वभ्यः।

(ख) शत्रन्त प्रातिपदिकों से परे आने वाली **असर्वनामस्थान** (शसादि) अजादि विभक्ति पर उदात्त आता है[६३]; यथा—अदत् (पृ० २५९-२६०) से—अदतः, अदता, अदते, अदतः, अदतोः, अदताम्, अदति। इसी प्रकार बृहत् तथा महत् से परे भी शसादि अजादि विभक्ति पर उदात्त रहता है (टि० ६३); यथा—बृहता, महता इत्यादि। ऐसे प्रातिपदिकों से स्त्रीवाचक प्रातिपदिक बनाते समय (अनु० १३७) भी इस नियम के अनुसार ई प्रत्यय पर उदात्त आता है यदि ई से पूर्व नुम् का आगम न होता हो (टि० ६३); यथा—अदती, बृहती, महती।

(ग) जिन प्रातिपदिकों के अन्त में -अञ्च् (पृ० २७८-२८१) आता है उन से परे आने वाली **असर्वनामस्थान** अजादि विभक्ति पर उदात्त होता है[६४]; यथा—प्राञ्च् से प्राचा, प्रत्यञ्च् से प्रतीचा। परन्तु यह नियम सर्वव्यापक नहीं है (दे पृ० २८०)।

(घ) **-अन्** या **-मन्** अन्त वाले जिन अन्तोदात्त प्रातिपदिकों की उपधा के अ का लोप होता है, उन की उपधा का लोप होने पर असर्वनाम स्थान अजादि विभक्ति पर उदात्त चला जाता है[६५] (पृ० २६९); यथा—वृत्र-हन् से वृत्रघ्नः, वृत्रघ्ना, इत्यादि, महिमन् से महिम्ना, भूमन् से भूम्ना इत्यादि।

४०२. अजन्त प्रातिपदिकों से परे सुप् का स्वर—(क) जिन अनेकाच् अजन्त प्रातिपदिकों में अन्तिम अक्षर से भिन्न किसी अक्षर पर उदात्त है उन से परे आने वाला सुप्-प्रत्यय अनुदात्त रहता है (टि० ६०)। अकारान्त तथा आकारान्त प्रातिपदिकों से परे आने वाला सुप्-प्रत्यय अनुदात्त रहता है और प्रातिपदिक पर ही उदात्त रहता है, उदात्त चाहे किसी भी अक्षर पर हो (दे० पृ० २८८-२९४)। यदि अजन्त प्रातिपदिक के अन्तिम अक्षर पर उदात्त हो और उस से परे आने वाले अनुदात्त अच् से उस की सन्धि होती हो, तब सन्धि-नियमों

(अनु० ३९६) के अनुसार स्वर होता है; यथा—प्रिय+औ=प्रियौ, प्रिय+अस्=प्रियाः।

(ख) अजादि असर्वनाम स्थान विभक्तियों से पूर्व जब धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों के उदात्त आ का लोप होता है (पृ० २९१), तब विभक्ति पर उदात्त होता है (टि० ६०); यथा—जा+ए=जे, कीलालपा+ए=कीलालपे।

(ग) अन्तोदात्त प्रातिपदिक के उदात्त अच् के स्थान पर क्षैप्र-सन्धि में जो यण् बनता है उस से ठीक पूर्व यदि हल् हो, तो उस से परे आने वाली अजादि असर्वनाम-स्थान-विभक्ति पर तथा स्त्री० ई प्रत्यय पर उदात्त होता है[66]; यथा— अग्नि+ओस्=अग्न्योः, देवी+आ=देव्या, धेनु+आ=धेन्वा, वधू+ऐ=वध्वै, पितृ+आ=पित्रा, चोदयितृ+ई=चोदयित्री। परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि वृकी-सदृश अन्तोदात्त ईकारान्त प्रातिपदिकों (पृ० ३०६), स्त्री० ऊ (पा० ऊङ्) प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों तथा धातु के अच् को हल्पूर्व यण् होने पर परवर्ती अजादि असर्वनामस्थानविभक्ति पर उदात्त नहीं होता है और क्षैप्र स्वरित (अनु० ३९६) बनता है[67]; यथा— वृकी+ए=वृक्यै, रथी+आ=रथ्या, तनू+आ=तन्वा, सुभ्रू+ए=सुभ्र्वै। अजादि सर्वनामस्थान विभक्तियों के अच् पर भी इसी प्रकार क्षैप्र स्वरित होता है; यथा— नदी+अम्=नद्यम्, वृकी+अस्=वृक्यः, घृतपू+अस्=घृतप्वः।

(घ) एकाच् प्रातिपदिकों से परे तृतीयादि विभक्ति पर उदात्त चला जाता है (टि० ६१); यथा— धिया, धीभिः, भुवा, भूभ्याम्, भुवोः, राया, रायः, राभ्याम्, नावा, नौभिः, ग्लौभिः। परन्तु आकारान्त एकाच् प्रातिपदिक, गो द्यो (और द्यु, पृ० २४२), वि, स्तृ तथा नृ का उदात्त विभक्ति पर नहीं जाता है (टि० ६२); यथा—जाभिः, गवा, गोभिः, द्यवि, द्युभिः, विभिः, स्तृभिः, नरे, नृभ्यः, नृषु।

(ङ) अन्तोदात्त इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त प्रातिपदिकों का

उदात्त षष्ठी ब० की विभक्ति नाम् पर प्रायेण चला जाता है[६८]; यथा—अ॒ग्नी॒नाम् , धे॒नू॒नाम् , दा॒तॄ॒णाम् । अनेक स्त्री० ईकारान्त प्रातिपदिकों के षष्ठी ब० के रूपों में विभक्ति पर उदात्त मिलता है[६९]; यथा—ब॒ह्वी॒नाम् , अ॒भि॒भ॒ञ्ज॒ती॒नाम् , परन्तु इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं (पृ० ३८२, टि० २००)।

४०३. संख्यावाचक प्रातिपदिकों से परे सुप् का स्वर—संख्यावाचक प्रातिपदिकों से परे सुप् के स्वर के सामान्य नियम वही हैं जो ऊपर बताये जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में विशेष अपवाद निम्नलिखित हैं।

(क) ति॒सृ से परे प्रथमा तथा द्वितीया ब० की विभक्ति पर उदात्त रहता है[७०]; यथा—ति॒स्रः।

(ख) द्वितीया ब० की विभक्ति से पूर्व च॒तुर् पुं० के अन्तिम अक्षर (उ) पर उदात्त होता है[७१]; यथा— च॒तुरः॑।

(ग) जिन रूपों में अ॒ष्टन् की उपधा के अकार का दीर्घ होता है उन रूपों में असर्वनामस्थान-विभक्ति पर उदात्त चला जाता है[७२]; यथा—अ॒ष्टा॒भिः, अ॒ष्टा॒भ्यः, अ॒ष्टा॒नाम्; परन्तु अ॒ष्टसु॑।

(घ) त्रि तथा षष् से परे आने वाली सभी हलादि विभक्तियों पर और च॒तुर्, ति॒सृ, चत॑सृ, पञ्च॑न्, स॒प्तन्, नव॑न् तथा दश॑न् से परे ष० ब० की विभक्ति नाम् पर उदात्त चला जाता है[७३]; यथा—त्रि॒भिः, त्रि॒भ्यः, त्री॒णाम्, त्रि॒षु, त्र॒या॒णाम्[७४], ष॒ड्भिः, ष॒ण्णाम्, ति॒सॄ॒णाम्, च॒तु॒र्णाम्, च॒त॒सॄ॒णाम्, प॒ञ्चा॒नाम्, स॒प्ता॒नाम्, न॒वा॒नाम्, द॒शा॒नाम् (दे० पृ० ३२८-३२९)। त्रिभिः (ऋ०, मै० सं०) के तीन उदाहरणों में भिस् की अपेक्षा त्रि पर उदात्त है। ब० की भिस्, भ्यस् तथा सु विभक्ति से पूर्व पञ्च॑न्, नव॑न्, दश॑न् तथा -दश॑न् अन्त वाले एका॑दशन् इत्यादि समासों में प्रातिपदिक के अन्तिम अक्षर पर (अर्थात् विभक्ति से ठीक पूर्व आने वाले अक्षर पर) उदात्त रहता है[७५]; यथा—प॒ञ्च॒भिः॑, प॒ञ्च॒भ्यः॑, प॒ञ्च॒सु॑, न॒व॒भिः॑, न॒व॒भ्यः॑, द॒श॒भिः॑, द॒श॒भ्यः॑, द॒श॒सु॑, ए॒का॒द॒श॒भिः॑, ए॒का॒द॒श॒भ्यः॑।

एकादशोऽध्यायः

४०४. **सर्वनामों से परे सुप् का स्वर**—सर्वनामों से परे सुप् के स्वर के सामान्य नियम वही हैं जो हलन्त तथा अजन्त प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में ऊपर बताये जा चुके हैं। इस विषय में विशेष अपवाद निम्नलिखित है।

(क) कतिपय सर्वनाम-रूप पूर्णतया अनुदात्त हैं (दे० पृ० ३३९-३४०, ३४५-३४८, ३५०-३५१)।

(ख) यद्यपि यद्, तद्, किम् तथा स्व सर्वनाम एकाच् हैं, तथापि इन का उदात्त सर्वत्र प्रातिपदिक पर रहता है और विभक्ति पर नहीं जाता है (टि० ६२), दे० पृ० ३४२-३४३, ३५३-३५७।

(ग) अन्वादेश में इदम् के जो रूप तृतीयादि विभक्ति में बनते हैं वे सर्वानुदात्त होते है; यथा— अस्मै इत्यादि (पृ० ३५०)। परन्तु जब अन्वादेश नहीं होता है, तब इदम् के अङ्ग से परे आने वाली असर्वनाम-विभक्ति पर उदात्त रहता है (टि० ६१क); यथा— अस्मै, एभ्यः, आभ्यः इत्यादि (पृ० ३४९-३५०)। परन्तु ऋ० में इस नियम के अपवादस्वरूप कतिपय रूपों के आदि अक्षर पर उदात्त मिलता है; यथा— अस्मै, अस्य, आभिः, अया। ऐसे आद्युदात्त रूप प्रायेण पाद के प्रारम्भ में मिलते है।

तिङन्त रूपों का स्वर

४०५. **तिङन्त रूपों का स्वर**— अधिकतर तिङन्त रूप सर्वानुदात्त होते हैं। और ऐसे रूपों के सर्वानुदात्त होने के नियम आगामी पृष्ठों में (अनु० ४१३) विस्तारपूर्वक बताये गये है। यहां पर इस बात पर विचार किया जायगा कि यदि किसी तिङन्त रूप पर उदात्त हो, तो वह उस रूप के कौन से अक्षर पर हो सकता है।

४०६. **अडागम**— जिन तिङन्त रूपों में अ (पा० अट्) या आ (पा० आट्) आगम होता है, उन में केवल इस अट् या आट् आगम पर उदात्त रहता है[७१]; यथा— अभवत्, अभूत्, अजगन्, अभविष्यत् (दे० अनु० २१४)।

अडागम-रहित रूपों के स्वर पर नीचे विचार किया गया है।

४०७. **लड्वर्ग के तिङन्त-रूपों का स्वर**—लड्वर्ग के अङ्ग (अनु० २२१ तथा आगे) से जो काल-वाचक (लट् और अडागमरहित भूतकाल-वाचक लङ्) और क्रिया-प्रकार-वाचक (विधिमूलक, लेट्, लोट् तथा विधिलिङ्) तिङन्त रूप बनते है उन के स्वर-सम्बन्धी नियम, गणों के अनुसार, निम्नलिखित है—

(क) **भ्वादिगण तथा दिवादिगण** में धातु के अक्षर पर उदात्त रहता है (अनु० २२५,२३०); यथा— भवति, नह्यति।

(ख) **तुदादिगण** में अ विकरण पर उदात्त रहता है (अनु० २२७); यथा— तुदति।

(ग) अदादिगण के शक्ताङ्ग में पित् (तिप्, सिप्, मिप्, लेट् का अडागम) प्रत्ययों (टि० ६०) से पूर्व धातु के अच् पर उदात्त रहता है और अपित् प्रत्ययों (अनु० २१२) वाले अशक्ताङ्ग रूपों में प्रत्यय के आदि अक्षर पर उदात्त रहता है[७७]; यथा— एति, इमसि, एतु, इहि, अयति, ब्रुवाते इत्यादि (अनु० २३५)। विलि० के परस्मैपद में या (पा० यासुट्) आगम पर उदात्त रहता है (अनु० २१९), जबकि आत्मनेपद में प्रत्यय पर उदात्त रहता है; यथा— इयात्, इयुः, ब्रुवीत, ब्रुवीरन् (अनु० २३५)।

विशेष—अदा० के निम्नलिखित आत्मनेपदी (ङित् तथा अनुदात्तेत्) धातुओं से परे सार्वधातुक लकार का प्रत्यय अनुदात्त होता है और फलतः धातु के अच् पर स्वर रहता है[७८]—(१) **ङित्**— चक्ष्, शी, सू; (२) **अनुदात्तेत्**— आस्, ईड्, ईर्, ईश्, निंस्, वस् "वस्त्र पहनना", आ+शास्, शिञ्ज्। उदाहरण—चष्टे, शये, शेषे, ईशे इत्यादि। प्र० पु० ब० (लट्) के रूप तक्षति (ऋ० इत्यादि) में भी धातु पर उदात्त है। स्वप् तथा श्वस् से परे ङित् अजादि अनिट् लसार्वधातुक प्रत्यय आने पर धातु के आदि अच् पर उदात्त रहता है[७९]; यथा—स्वपन्तु (अ०), श्वसन्तु (अ०)। इस प्रकार जन्, मद्,

यज्, सच्, सह्, इत्यादि अनुदात्तेत् धातुओं से परे लसार्वधातुक प्रत्यय (विशेषतः आ० के लोट् का म० पु० ए०) अनुदात्त होता है (टि ७८); यथा—जनिष्व, मत्स्व, यक्ष्व, सक्ष्व तथा साक्ष्व इत्यादि। ऋ० में उपलब्ध दुहृते, रिहृते इत्यादि बहुवचनान्त रूपों में अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है। ऐसे रूपों में पा० प्रक्रिया से झच् (पा० ७,१,३ पर काशि०) आदेश मान कर समाधान किया जा सकता है (टि० ८३)।

(घ) सामान्यतया जु० (तथा अभ्यस्त धातुओं) के अङ्ग से परे अनिट् अजादि या अनुदात्त (टि० ७८) हलादि लसार्वधातुक प्रत्यय आने पर, अङ्ग के आदि अक्षर पर उदात्त होता है[८०]; यथा— प्र० पु० ब० में अनिट् अजादि प्रत्यय— √दा से ददति, √धा से दधति, √हु से जुह्वति, अभ्यस्त धातु √जक्ष् से जक्षति, √जागृ से जाग्रति; ए० में हलादि अनुदात्त (पित्) प्रत्यय से पूर्व— √दा से ददाति, ददासि, ददामि इत्यादि; ङित् धातुओं से परे हलादि अनुदात्त (टि० ७८) प्रत्यय— √मा से मिमीते, √हा "जाना" से जिहीते। परन्तु इन अभ्यस्त धातुओं से परे जब उदात्त हलादि लसार्वधातुक प्रत्यय आता है, तब प्रत्यय पर ही उदात्त रहता है (टि० ७७); यथा— √दा से दत्तः, √धा से धत्थः, धत्ताम्, धत्तात्, धत्तम्, √हु से जुहुथ। इसी प्रकार विलि० के प० में उदात्त आगम या (पा० यासुट्) पर पद का उदात्त रहता है (अनु० २१९); यथा— दद्यात्, दध्याम्।

विशेष— कि "जानना", जन्, जागृ, धन् भी, भृ, मद्, यु, हु इन अभ्यस्त धातुओं से परे जब लसार्वधातुक पित् प्रत्यय आता है, तब प्रत्यय से ठीक पूर्व आने वाले अक्षर पर (अर्थात् धातु के अक्षर पर) उदात्त होता है[८१]; यथा— चिकेषि (अ०), जजनत् (लेट्, मै० सं०), जागर्ति (मै० सं०), दधनत्, बिभेषि (श० ब्रा०), बिभर्ति (परन्तु सामान्य रूप बिभर्ति मिलता है), ममत्तु, युयोतन, जुहोति।

ऋ० में √ऋ "जाना" से इयर्षि, √धा से एक बार दधीत (परन्तु ३ बार दधीत) मिलता है।

(ङ) स्वा०, रुधा० तथा क्र्या० के शक्ताङ्ग में विकरण पर और अशक्ताङ्ग में लसार्वधातुक प्रत्यय पर उदात्त रहता है; यथा—शक्ताङ्ग में—कृणोति, कृणवत्, युनक्ति, युनजत्, गृभ्णाति, गृभ्णात्; अशक्ताङ्ग में—कृणुतः, कृण्वते, युञ्जन्ति, युञ्जते, गृभ्णन्ति। प० के विलि० में उदात्त आगम या (पा० यासुट्) पर पद का उदात्त रहता है; यथा—कृणुयात्, युञ्ज्यात्, गृभ्णीयात्।

विशेष—इन गणों के प्र० पु० ब० के कुछ आत्मनेपदी रूपों में अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है; यथा—कृण्वते, वृण्वते, स्पृण्वते; तना० के तन्वते, मन्वते; अञ्जते, इन्धते, भुञ्जते (तथा भुञ्जते); पुनते, ऋणते (√ऋ "जाना")। ऐसे रूपों में झच् प्रत्यय मान कर समाधान किया जा सकता है (टि० ८३)। क्र्या० के प० लोट् म० पु० ए० के रूपों—गृहाण, बधान तथा स्तभान—में भी अन्तिम अक्षर पर उदात्त मिलता है। रुधा० के √हिंस् के अशक्ताङ्ग में धातु के आदि अक्षर पर उदात्त मिलता है (दे० टि० ७९); यथा—हिंस्ते, हिंसन्ति।

लिड्वर्ग के अङ्ग से बने रूपों का स्वर

४०८. लिट् के शक्ताङ्ग (प० के एकवचन के रूपों) में और लिड्वर्ग के अङ्ग से बने लेट् के रूपों में धातु पर उदात्त रहता है[८२]; यथा—चकार, जगन्थ, जभरत्, ववर्तति, मुमोक्तु। लिट् के अशक्ताङ्ग से बने रूपों में (अर्थात् जिन रूपों में अपित् प्रत्यय आते हैं उन में) प्रत्यय पर उदात्त रहता है (टि० ७७); यथा—चक्रतुः, चक्रुः, चक्रथुः, चकृषे, चकृमहे, मुमुग्धि, ववृत्याम्।

विशेष—आ० के प्र० पु० ब० में इरे (पा० इरेच्) प्रत्यय के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है[८३]; यथा—चक्रिरे। जुजोषसि, दधृषन्त

इत्यादि में अभ्यस्त धातु मान कर ऊपर बताये गये (टि० ८०) नियम के अनुसार आदि अक्षर पर उदात्त है। इन्हें मैक्डानल (Ved. Gr., p. 100, f.n. 2) लिड्वर्ग के अङ्ग से बने रूप मानता है।

लुङ्वर्ग के अङ्ग से बने रूपों का स्वर

४०९. लुङ्वर्ग के अङ्ग से बने जिन कालवाचक रूपों में अडागम मिलता है उन में केवल अडागम पर उदात्त हो सकता है (टि० ७६)। परन्तु जिन रूपों में अडागम का अभाव होता है, या लुङ्वर्ग के अङ्ग से जो क्रिया-प्रकार-वाचक अङ्ग बनते है, उन के स्वर-सम्बन्धी नियम निम्नलिखित है—

(क) **विकरण-लुक् लुङ्** (Root Aorist) के शक्ताङ्ग के रूपों में पित् प्रत्यय (प० के तीनों पुरुषों के एकवचन तथा लेट् और लोट् के तप्, तनप्) से पूर्व धातु पर उदात्त रहता है; अशक्ताङ्ग के रूपों में अपित् प्रत्यय पर और विलि० के रूपों में या पर उदात्त रहता है (अनु० २६६); यथा— भूत, करत्, गन्तन; परन्तु कृधि, गतम्, कृष्व, अश्याम्।

(ख) **अङ्-लुङ्** (A-Aorist) तथा **क्स-लुङ्** (Sa-Aorist) के अङ्ग से बने रूपों में लसार्वधातुक प्रत्यय अनुदात्त होता है (टि० ७८) और अङ् तथा क्स विकरण पर उदात्त रहता है (टि० ७७); यथा— रुहम्, विदत्, विदात्, विदेयम्, बुधन्त; धुक्षन्त, ब्रक्षस्व।

(ग) **चङ्-लुङ्** (Reduplicated Aorist) के अङ्ग से बने रूपों में, अभ्यस्त धातुओं के अङ्ग से बने रूपों (अनु० ४०७घ) की भांति, कुछ रूपों में आदि अक्षर पर और कुछ रूपों में लसार्वधातुक प्रत्यय से पहले अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा— दीधरः, नीनशः, पीपरत्, जीजनत्; परन्तु शिश्रथः, पीपरत्, शिश्नथत्। अभ्यस्त धातुओं के प्रसङ्ग में बताये गये नियम (अनु० ४०७घ) के अनुसार, अपित् हलादि लसार्वधातुक प्रत्यय पर उदात्त रहता है; यथा— जिगृतम्, दिधृत।

(घ) अनिट् तथा सेट् सिज्लुङ् के अङ्ग से जो रूप बनते हैं उन में प्रायेण आदि अक्षर पर उदात्त मिलता है[८४]; यथा— वंसि (√वन्), मथीः, बोधिषत्, शंसिषम्। सक्-सेट्-सिज्लुङ् (अनु० २८१) के उपलब्ध उदाहरणों में प्रत्यय पर उदात्त मिलता है; यथा— यासिष्टम्। सकार-युक्त लुङ् के अङ्ग से बने हुए जो आलि० या लोट् के रूप माने जाते हैं (दे० अनु० २८० इत्यादि), उन में उपर्युक्त सामान्य नियम के अनुसार (अनु० ४०७) उदात्त है; यथा— एधिषीय, अविष्टम्।

४१०. लृट् के अङ्ग से बने तिङन्त रूपों में लसार्वधातुक प्रत्यय अनुदात्त होता है (टि० ७८) और स्य विकरण पर उदात्त रहता है; यथा— करिष्यसि, एष्यामि इत्यादि।

४११. गौण तिङन्त प्रक्रियाओं में स्वर—

(क) चुरा० तथा प्रेरणार्थक णिजन्त धातुओं के तिङन्त रूपों में अ (शप्) विकरण से पहले आने वाले अक्षर पर उदात्त रहता है[८५]; यथा— चितयति, शुभयति, पातयति (अनु० २८९)।

(ख) सन्नन्त रूपों (अनु० २९२) में आदि अक्षर पर उदात्त रहता है[८६]; यथा— जिघांसति, पिपरीषति।

(ग) यङन्त (अनु० ३०६), नामधातु (अनु० ३०७) तथा कर्मवाच्य (अनु० ३१२) के य-प्रत्ययान्त अङ्ग में य पर उदात्त रहता है (दे० टि० ८५); यथा— नेनीयते, वल्गूयति, मुच्यते।

(घ) यङ्लुगन्त (अनु० २९८) के रूपों में, जु० के रूपों की भांति (अनु० ४०७घ), अङ्ग से परे अनिट् अजादि या अनुदात्त हलादि लसार्वधातुक प्रत्यय आने पर अङ्ग के आदि अक्षर पर उदात्त होता है और उदात्त हलादि लसार्वधातुक प्रत्यय आने पर, उस प्रत्यय पर उदात्त रहता है; यथा— जोहवीति, प्र० पु० व० वर्वृतति, तेतिक्ते; परन्तु जर्भृतः, नेनिक्ते। इस के अङ्ग के लेट् के रूपों में नित्य आदि अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा— जङ्गनत्, चेकितत्।

एकादशोऽध्यायः

वाक्य-स्वर

४१२. **सम्बोधन-पद का स्वर**— सम्बोधन-पद में केवल आदि अक्षर पर उदात्त होता है[८७], उस सुवन्त पद का नियमित उदात्त चाहे किसी भी अक्षर पर क्यों न रहता हो; यथा— अग्ने, मित्रावरुणा। सम्बोधन-पद के आदि अक्षर पर उदात्त केवल उसी अवस्था में रहता है जब ऐसा पद पाद या वाक्य के आदि में हो; यथा— अग्ने सूपायनो भव (ऋ० १,१,९)। परन्तु यदि सम्बोधन-पद पाद या वाक्य के आदि में न हो और उस से पूर्व कोई अन्य पद आता हो[८८], तब सम्बोधन-पद सर्वानुदात्त हो जाता है[८९]; यथा— उप त्वाग्ने दिवे-दिवे (ऋ० १,१,७)।

विशेष— (१) पाद के आदि में आने वाला सम्बोधन-पद, उस से परे आने वाले पद के स्वर की दृष्टि से, अविद्यमानवत् माना जाता है[९०]। अत एव केवल सम्बोधन-पद से परे आने वाले सभी सम्बोधन-पदों के आदि अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा— अदिते मित्र वरुण (ऋ० २,२७, १४), अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः (ऋ० ५,४६,२)।

(२) यदि पूर्ववर्ती सम्बोधन-पद से परे **समानाधिकरण** विशेषण सम्बोधन-पद हो, तो पूर्ववर्ती विशेष्य सम्बोधन-पद अविद्यमानवत् नहीं माना जाता है[९१] और फलस्वरूप ऐसा परवर्ती सम्बोधन-पद सर्वानुदात्त होता है; यथा— होतर्यविष्ठ सुक्रतो (ऋ० ४,४,११)। यदि पूर्ववर्ती विशेषण और परवर्ती सम्बोधन-पद विशेष्य हो, तब भी यही नियम लागू होता है; यथा— ऋ० २,६,६ में "यविष्ठ दूत" तथा "यजिष्ठ होतः"। परन्तु यदि पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सम्बोधन-पदों में विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध न हो और उन में से प्रत्येक पद किसी विशेषता का वाचक हो तो पूर्ववर्ती सम्बोधन-पद अविद्यमानवत् माना जाता है; यथा—वसिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक (ऋ० ७,१,८), ऊर्जो नपाद् भद्रशोचे (ऋ० ८,७१,३)।

(३) जो सुबन्त (प्रायेण षष्ठ्यन्त) पद अर्थ की दृष्टि से परवर्ती सम्बोधन-पद

से सम्बद्ध होता है, वह सम्बोधन-पद के स्वर की दृष्टि से परवर्ती सम्बोधन-पद का अङ्ग माना जाता है[१२]। अत एव उन सम्बद्ध पदों को स्वर की दृष्टि से एक पद मान कर स्वर लगाया जाता है; यथा—ऊर्जो नपात् सहसावन् (ऋ० १०,११५,८), मरुतां पितः (तै० सं० ३,३,९,१)। इन उदाहरणों में पराङ्गवत् हो कर आदि अक्षर पर उदात्त है। आ राजाना मह ऋतस्य गोपा (ऋ० ७,६४,२), प्रति त्वा दुहितर्दिवः (ऋ० ७,८१,३) तथा आ ते पितर्मरुताम् (ऋ० २,३३,१)— इन उदाहरणों में पूर्वाङ्गवत् हो कर सर्वानुदात्त हो गया है (टि० ८९)। ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा (ऋ० १,२,८)—इस उदाहरण में यद्यपि ऋतावृधौ पाद के आदि में होने के कारण आद्युदात्त होना चाहिए था, तथापि स्वर की दृष्टि से पूर्वाङ्गवत् होने के कारण सर्वानुदात्त है। इस उदाहरण में दोनों पादों के सम्बोधन-पदों को स्वर की दृष्टि से एक इकाई माना गया है।

४१३. तिङन्त पद का स्वर—

(क) अतिङन्त पद से परे आने वाला तिङन्त पद सर्वानुदात्त हो जाता है[१३]; यथा— अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १,१,१)।

(ख) उपर्युक्त नियम के विपरीत, पाद या वाक्य के आदि में आने वाला तिङन्त पद उदात्त-युक्त होता है; यथा पाद के आदि में—ईळे अग्निं विपश्चितम् (ऋ० ३,२७,२), जहि प्रजां नयस्व च (अ० १,८,३); वाक्य के आदि में— शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे (तै० सं० १,१,३,१)।

(ग) क्योंकि जिस पद-समुदाय में एक तिङन्त पद हो वह एक वाक्य माना जाता है[१४], इस लिये प्रथम तिङन्त के पश्चात् आने वाले प्रत्येक तिङन्त पद से एक नये वाक्य का प्रारम्भ माना जाता है और फलस्वरूप प्रत्येक परवर्ती तिङन्त पद उदात्तयुक्त होता है; यथा— तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋ० १,२,१), जहि प्रजां नयस्व च (अ० १,८,३), तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति (ऋ० ७,३२,९)। ऐसे पद-समुदायों में

केवल प्रथम तिङन्त पद सर्वानुदात्त होता है, यदि वह पाद या वाक्य के प्रारम्भ में न हो, या उसे उदात्तयुक्त बनाने वाला अन्य कोई पद वाक्य में न हो। और शेष परवर्ती तिङन्त पद उदात्तयुक्त होते है।

(घ) क्योंकि पाद या वाक्य के आदि में आने वाला सम्बोधन-पद परवर्ती पद के स्वर की दृष्टि से अविद्यमानवत् माना जाता है (टि० ६०), अत एव ऐसे सम्बोधन-पद से परे आने वाला तिङन्त पद उदात्तयुक्त होता है; यथा— अग्ने जुषस्व नो हविः (ऋ० ३,२८,१), इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवत (अ० १६,७०,१)। द्वितीय उदाहरण में तीन वाक्य हैं। अत एव प्रत्येक वाक्य का तिङन्त पद उदात्तयुक्त है।

(ङ) वाक्य में यद् सर्वनाम से बने रूप से परे आने वाला तिङन्त पद उदात्त-युक्त होता है[९५], चाहे ऐसे तिङन्त पद और यद् के रूप के बीच अन्य पदों का व्यवधान भी होता हो; यथा— न यं दिप्सन्ति (ऋ० १,२५. १४), यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः (ऋ० १०,१४,२), अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि (ऋ० ७,१०४,१५), यथा न पूर्वमपरो जहाति (ऋ० १०,१८,५), यावदिदं भुवनं विश्वमस्ति (ऋ० १,१०८,२)।

(च) निम्नलिखित निपातों के योग में तिङन्त पद पाद या वाक्य के आदि में न आने पर भी उदात्त-युक्त होता है— कुवित्, चेत्, नेत्, यद् सर्वनाम से बने अव्यय (यद्, यथा, यदि, यावद् इत्यादि), वै, वाव, हन्त, हि[९६]; यथा— कुविदस्य वेदत् (ऋ० २,३५,२), वि चेदुच्छन्ति (ऋ० ७,७२,४), त्वं हि बलदा असि (ऋ० ३,५३,१८)।

(छ) यदि वाक्य में च, चन, चिद्, इद्, इव, एव, वा, ह में से कोई निपात आये और तिङन्त पद किसी उपसर्ग से परे न हो, तब ऐसा तिङन्त पद पाद या वाक्य के आदि में न आने पर भी उदात्त-युक्त होता है[९७]; यथा— इन्द्रश्च मृळयाति नः (ऋ० २,४१,११), न देवा भसथश्चन (ऋ० ६,५६,४), अध स्मा नो मघवञ्चर्कृतादित् (ऋ० १, १०४,५)।

(ज) यदि दो तिङन्त पदों के साथ च या वा का प्रयोग करके उन के अर्थों

में सम्बन्ध दिखलाया गया हो, तब प्रथम तिङन्त पद उदात्तयुक्त होता है[९८]; यथा— सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेमम् (अ० २,६,२) "हे अग्ने, प्रज्वलित हो, और इसे समृद्ध करो", उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वम् (ऋ० ७,१६,११)।

(झ) यदि दो तिङन्त पदों के साथ एक या अन्य का प्रयोग करके उन के वाक्यों के अर्थ में परस्पर विरोध प्रकट किया जाय, तब प्रथम तिङन्त पद उदात्त-युक्त होता है[९९]; यथा— प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् (अ० ८,९,१३), प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते (ऋ० ३,९,३)।

४१४. उपसर्ग का स्वर— (क) वैदिकभाषा में उपसर्ग आख्यात से पूर्व तथा पश्चात् भी प्रयुक्त होते है। जब उपसर्ग का आख्यात से समास न हुआ हो, तब एक या अनेक उपसर्गों का अपना मौलिक स्वर उन पर विद्यमान रहता है; यथा— आ गमत् (ऋ० १,१,५), जयेम सं युधि स्पृधः (ऋ० १,८,३), गमद्वाजेभिरा स नः (ऋ० १,५,३); उप प्र याहि (ऋ० १,८२,६)।

(ख) जब सोदात्त आख्यात के साथ उपसर्ग का समास होता है (पृ० १९४–१९५), तब उपसर्ग सर्वानुदात्त हो जाता है[१००]; यथा— उपयाथः (ऋ० १,३४,९), निषीदथः (ऋ० ८,९,२१)। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिन में सोदात्त आख्यात के साथ एक से अधिक उपसर्गों का समास होने पर ऐसे सब उपसर्ग सर्वानुदात्त हो जाते हैं; यथा— परिप्रयाथ (ऋ० ४,५१,५)।

(ग) जब एक से अधिक उपसर्गों का सर्वानुदात्त आख्यात के साथ समास होता है, तब उन में से केवल अन्तिम उपसर्ग पर उदात्त होता है और पूर्ववर्ती उपसर्ग सर्वानुदात्त हो जाते है[१०१]; यथा— उपागहि (ऋ० १, ९१,१०), समाकृणोषि (ऋ० १०,२५,६), अनुसंप्रयाहि (अ० ११, १,३६)।

एकादशोऽध्यायः

तद्धित, कृदन्त और अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों का स्वर

४१५. तद्धित तथा कृदन्त प्रातिपदिकों के स्वरज्ञान के लिये पाणिनीय व्याकरण में बताये गये नियम विशेषतया उपयोगी है। यह तथ्य मुख्य रूप से उल्लेखनीय है कि पाणिनीय व्याकरण में जितने प्रत्ययों का विधान किया गया है उन सब में प्रातिपदिक के स्वर की दृष्टि से अनुबन्ध जोड़ा गया है। कतिपय आधुनिक विद्वान् प्रत्ययों का अनुबन्ध-रहित रूप—अ, इ, उ, इत्यादि—ही दिखलाते है। ऐसे अनुबन्ध-रहित रूप से पाठक को इन प्रत्ययों द्वारा बने शब्दों के स्वर के विषय में कुछ भी ज्ञान नही होता है। हम ने इस ग्रन्थ में प्रत्ययों का पाणिनीय-रूप अवश्य दर्शाया है ताकि गुण, वृद्धि, संप्रसारण, स्वर आदि की प्रक्रिया को समझने में सुविधा रहे।

(क) **प्रत्यय-स्वर-सम्बन्धी सामान्य नियम**— पा० के अनुसार, प्रत्यय-स्वर-सम्बन्धी प्रमुख सामान्य नियम निम्नलिखित हैं—

(१) आद्युदात्त— सामान्यतया प्रत्यय आद्युदात्त होता है (टि० ७७); यथा— तव्य प्रत्यय से कर्तव्य (श० ब्रा०), तद्धित ईय (पृ० ४५१) से स्वस्रीय (तै० सं०), क्त से जातः, क्तवतु से अशितावति (अ०)।

(२) सारे पित् प्रत्यय अनुदात्त होते है (टि० ६०); यथा— ल्यप् से आदाय, तद्धित तमप् (पृ० ४४८) से श्रेष्ठतम, वतुप् से अश्ववत्।

(३) चित् प्रत्यय आने से जो कृदन्त तथा तद्धित प्रातिपदिक बनते है उन के अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है[१०२]; यथा— शानच् से दुहानः (परन्तु गण-विकरण के कारण होने वाले स्वर-स्थान को यह नहीं बदलता है; यथा— यजमानः), तृच् से दातृ, तद्धित डतरच् (पृ० ४५३) से कतर।

(४) कित् प्रत्यय आने से जो तद्धित प्रातिपदिक बनते है उन के अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है[१०३]; यथा— ढक् (एय, पृ० ४५१) से आदितेय।

(५) ञित् तथा नित् प्रत्यय आने से जो कृदन्त और तद्धित प्रातिपदिक बनते है उन के आदि अक्षर पर उदात्त रहता है (टि० ८६); यथा— तुमुन् से गन्तुम्, तवेन् से गन्तवे, तद्धित इरन् (पृ० ४५०) से मेधिर, वुञ् (अनु० ३५३) से गणक, तद्धित ष्यञ् (पृ० ४४९) से ब्राह्मण्यम् ।

(६) लित् प्रत्यय आने से जो कृदन्त तथा तद्धित प्रातिपदिक बनते हैं उन में प्रत्यय से ठीक पहले आने वाले अक्षर पर उदात्त रहता है (टि० ८२); यथा— ल्यु तथा ल्युट् (अनु० ३५६) से चेतन तथा भोजन, तद्धित तल् (पृ० ४४८) से बन्धुता ।

(७) रित् प्रत्यय आने से जो कृदन्त तथा तद्धित प्रातिपदिक बनते है उन में अन्तिम से पहले (उपोत्तम) अक्षर पर उदात्त रहता है[१०४]; यथा— अनीयर् से दर्शनीय ।

(८) तित् प्रत्यय आने से जो प्रातिपदिक (प्रायेण तद्धित) बनते हैं उन में अन्तिम अक्षर पर स्वतन्त्र स्वरित रहता है[१०५]; यथा— तद्धित यत् (पृ० ४६०) से वायव्य, तव्यत् से हिंसितव्य । परन्तु इस नियम के अनेक अपवाद मिलते है और मुख्य अपवाद यह है कि जो यत्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक द्व्यच् हैं उन में आदि अक्षर पर उदात्त रहता है[१०६]; यथा— जेय, खन्य ।

उपर्युक्त निममों के उल्लेखनीय अपवादों का इस ग्रन्थ में, आवश्यकता के अनुसार, वर्णन किया गया है (दे० अनु० ३४१क, ३५२क इत्यादि) । इन के अतिरिक्त जो अपवाद शेष बचते हैं उन के लिये वैदिक-भाष्य तथा वैदिककोष द्रष्टव्य हैं ।

शान्तनवाचार्य-प्रणीत ८७ फिट्सूत्रों में अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों के स्वर के सम्बन्ध में कुछ नियम दिये गये है । ये ८७ सूत्र चार पादों में विभक्त हैं । यद्यपि इन में से कुछेक सूत्र (लगभग एक दर्जन) अंशतः अवश्य सहायक सिद्ध होते है, तथापि इन सूत्रों के उपलब्ध अपवाद इतने अधिक है कि वैदिक प्रातिपदिकों के स्वर-ज्ञान में इन सूत्रों से पूर्ण

परिचय होने की कोई सम्भावना नहीं है। हम यह अवश्य कह सकते है कि उपर्युक्त पा० नियमों के ज्ञान से अधिकतर वैदिक प्रातिपदिकों के स्वर का सन्तोषजनक परिचय हो सकता है।

टिप्पणियां

१क. ऋ० प्रा० ३,२—अक्षराश्रयाः। वा० प्रा० १,१०७—व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम्।

१. तै० प्रा० १,३८; वा० प्रा० १,१०८; तथा पा० १,२,२९— उच्चैरुदात्तः। अ० प्रा० १,१४—समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तः। इस व्याख्यान के लिये दे० पा० १,२,२९ पर काशि०, सि० कौ० तथा इस के महाभाष्य पर 'प्रदीप'।

२. तै० प्रा० २२,९— आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य ॥ महाभाष्य १,२,१ (पा० १,२,२९-३० पर)— एवं तर्हि लक्षणं करिष्यते—आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य, दारुणता रुक्षता। अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य ॥ दे० पा० १,२,२९ पर काशि०। आपिशल-शिक्षा ८,२०—यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्रस्य निग्रहः, कण्ठविलस्य चाणुत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद्रौक्ष्यं भवति। तमुदात्तमाचक्षते।

ऋ० प्रा० ३,१— उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः ।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते ॥

इस सूत्र में प्रयुक्त "आयाम" शब्द का व्याख्यान करते हुए उवट कहता है—"आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम् । तेन य उच्यते स उदात्तः ।" वा० प्रा० १,१०८ (टि० १) के भाष्य में भी उवट तथा अनन्तभट्ट ने "आयाम" का यही व्याख्यान किया है ।

३. पा० ६,१,१५८—अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ।

४. पा० ६,१,२००—अन्तश्च तवै युगपत् ।

५. पा० ६,२,५१—तवै चान्तश्च युगपत् । तु० वा० प्रा० २,४७ (टि० ५२) ।

६. पा० ६,२,१४०-१४१— उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् । देवताद्वन्द्वे च ॥

७. तै० प्रा० १,३९, वा० प्रा० १,१०९; अ० प्रा० १,१५; तथा पा० १,२,३०— नीचैरनुदात्तः । दे० पा० १,२,३० पर काशि०, सि० कौ० तथा इस के महाभाष्य पर 'प्रदीप' ।

८. तै० प्रा० २२,१०—अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि । महाभाष्य १,२,१ (पा० १,२,२९-३० पर)—अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उरुता खस्य, महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । दे० पा० १,२,३० पर काशि० । आपिशल-शिक्षा ८,२१—यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्रस्य स्रंसनं, कण्ठबिलस्य महत्त्वं, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति । तमनुदात्तमाचक्षते ।

ऋ० प्रा० ३,१ (टि० २) के भाष्य में अनुदात्त की उत्पत्ति के कारण "विश्रम्भ" का व्याख्यान करते हुए उवट कहता है—"विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्" । वा० प्रा० १,१०९ (टि० ७) के भाष्य में उवट कहता है—"नीचैर्मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति" ।

एकादशोऽध्यायः

८क. वा० प्रा० २,१६— वा च कमु चित्समस्माद् घ ह् स्म त्व ईम्मर्थ्या अरे स्विन्निपाताश्चेत्। फिट्सूत्र ८४— चादयोऽनुदात्ताः ॥

९. तै० प्रा० २१,१०— स्वरितात्संहितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः। ऋ० प्रा० ३,१९— स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः। उदात्त-श्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा ॥ अ० प्रा० ३,७१— स्वरितादनुदात्त उदात्तश्रुतिः। वा० प्रा० ४,१३९–१४०— स्वरितात्परमनुदात्तमुदात्त-मयम्। अनेकमपि ॥ या० शि० २२४।

१०. पा० १,२,३९— स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्।

११. पा० १,२,३३ पर काशि०—"स्वराणामुदात्तादीनामविभागोऽभेदः तिरो-धानमेकश्रुतिः।" पा० १,२,३३ के महाभाष्य पर कैयट— "क्षीरो-दकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः। स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः।" आश्व० श्रौ० सू० १,२— उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः संनिकर्ष ऐकश्रुत्यम्।

१२. तै० प्रा० २१,११— नोदात्तस्वरितपरः। वा० प्रा० ४,१४१—नोदात्त-स्वरितोदयम्। अ० प्रा० ३,७४— स्वरितोदात्तेऽनन्तरमनुदात्तम्। ऋ० प्रा० ३,२१— नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम्।

१३. पा० १,२,४०— उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः। इस पर काशिका— "उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य चानुदात्तस्य सन्नतर आदेशो भवति। अनु-दात्ततर इत्यर्थः।"

१४. पा० १,२,३१ तथा तै० प्रा० १,४०— समाहारः स्वरितः। वा० प्रा० १,११०— उभयवान्स्वरितः। ऋ० प्रा० ३,३— एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः।

१५. अ० प्रा० १,१६— आक्षिप्तं स्वरितम्। ऋ० प्रा० ३,१ (टि० २) पर उवटभाष्य— "आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।"

१६. पा० ८,४,६६–६७— उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। नोदात्तस्वरितोदय-मगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ॥ तै० प्रा० १४,२९–३१—उदात्तात्परोऽनु-दात्तः स्वरितम्। व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि। नोदात्तस्वरितपरः ॥ वा० प्रा०

४,१३५-१३७— उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम् । निहितमुदात्तस्वरितपरम्। अनवग्रहे ॥ अ० प्रा० ३,६८-७०—उदात्तादनुदात्तं स्वर्यते। व्यासेऽपि समानपदे। अवग्रहे च। नोदात्तस्वरितपरम्॥ ऋ० प्रा० ३, १७— उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा । स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् ॥

१७. वा० प्रा० १,१२६— तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम् । अ० प्रा० १, १७— स्वरितस्यादितोमात्रार्धमुदात्तम् ।

१८. पा० १,२,३२— तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् ।

१९. ऋ० प्रा० ३,४-५—तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः ।

२०. तै० प्रा० १,४१—तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य।

२१. तै० प्रा० १,४२-४५—उदात्तसमः शेषः। सव्यञ्जनोऽपि। अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। अनुदात्तसमो वा॥

२२. तै० प्रा० १,४६—आदिरस्योदात्तसमः शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः।

२३. तै० प्रा० १,४७—सर्वः प्रवण इत्येके। त्रिभाष्यरत्न में "प्रवणशब्दः स्वरितपर्यायः" व्याख्यान किया गया है। परन्तु इस से अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

२४. वा० प्रा० १,११७— स्वरो व्यञ्जनयुतस्तैरोव्यञ्जनः। अ० प्रा० ३,६२— व्यञ्जनव्यवेतस्तैरोव्यञ्जनः । ऋ० प्रा० ३,१८— वैवृत्ततैरोव्यञ्जनौ क्षैप्राभिनिहितौ च तान्।
प्रश्लिष्टं च यथासंधि स्वरानाचक्षते पृथक् ॥

२५. तै० प्रा० २०,७—उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः। इस पर त्रिभाष्यरत्न— "उदात्तपूर्वाधिकारे सति पुनरत्र तत्कथनादेकपदस्योदात्तविशेषोऽवगम्यते। तस्मादेकपदस्योदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्यः।"

२६. वा० प्रा० १,११८— उदवग्रहस्तैरोविरामः । मोनियर विलियम्स (MWD., *s.v.*) ने तैरोविराम का निम्नलिखित लक्षण दिया है— "TAIROVIRĀMA, *m.* 'extending beyond (*tirás*) a pause (virāma)', the dependent Svarita in a compound

when the Udātta upon which it depends stands on the last syllable of the Ist member of the compound, V Prāt. i, 118; (called *Prātihata*, T prāt.)". परन्तु इस लक्षण में पदपाठ के अवग्रह का उल्लेख नहीं किया गया है। यह एक भूल है। तैरोविराम और प्रातिहत स्वरित को अभिन्न मानना भी भूल है। दे० टि० २७।

२७. तै० प्रा० २०,३— अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्सांहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः। जैसा कि ह्विटने (Tait. Prat., p. 370) ने सम्यक् निर्देश किया है, रोट ने (तथा मोनियर विलियम्स ने दे० टि० २६) भूल से तैरोविराम तथा प्रातिहत स्वरित को अभिन्न समझा है।

२८. ऋ० प्रा० २,३— स्वरान्तरं तु विवृत्तिः।

२९. ऋ० प्रा० ३,१७ (टि० १६); ऋ० प्रा० ३,१८ (टि० २४); अ० प्रा० ३,६३— विवृत्तौ पादवृत्तः। तै० प्रा० २०,६— पदविवृत्त्यां पादवृत्तः। वा० प्रा० १,११९— विवृत्तिलक्षणः पादवृत्तः।

३०. अ० प्रा० ६,५७— अनुदात्तपूर्वात्संयोगाद्यवान्तात्स्वरितं परमपूर्वं वा जात्यः। वा० प्रा० १,१११— एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्यः। ऋ० प्रा० ३,८—अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे। तै० प्रा० २०, २— सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात्।

३१. ऋ० प्रा० ३,८ पर उवट-भाष्य— "जात्या स्वरूपेणैवोदात्तानुदात्तसंगतिं विना जातो जात्यः।"

३२. अ० प्रा० ३,५५— एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहितः॥ वा० प्रा० १,११४— एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः। ४,६२—तौ चेदुदात्तावनुदात्ते स्वरितौ॥ तै० प्रा० २०,४—तस्मादकारलोपे ऽभिनिहितः॥ ऋ० प्रा० ३, १८ (टि० २४)।

३३. तै० प्रा० २०,१— इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः। अ० प्रा० ३,५८—अन्तःस्थापत्तावुदात्तस्यानुदात्ते क्षैप्रः। वा० प्रा० १,११५— युवर्णौ यवौ क्षैप्रः। ऋ० प्रा० ३,१८ (टि० २४)। पा० ८,२,४— उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य।

३४. पा० ८,२,५ तथा अ० प्रा० ३,६६— एकादेश उदात्तेनोदात्तः। तै० प्रा० १०,१०—उदात्तमुदात्तवति । वा० प्रा० ४,१३२—उदात्तवानुदात्तः। ऋ० प्रा० ३,११—उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं संध्यक्षरम् ।

३५. वा० प्रा० ४,१३३—इवर्णमुभयतो ह्रस्वमुदात्तपूर्वमनुदात्तपरं स्वरितम् । अ० प्रा० ३,५६— इकारयोः प्राश्लिष्टः । ऋ० प्रा० ३,१३—

इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च ।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥

३६. तै० प्रा० १०,१७— ऊभावे च । तै० प्रा० २०,५— ऊभावे प्रश्लिष्टः ।

३७. ऋ० प्रा० ३,१४—माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत् । पा० ८,२,६—स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ।

३८. अ० प्रा० ३,६५— अभिनिहितप्राश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानामणुमात्रा निघाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति ॥ तु० वा० प्रा० ४,१३८— स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते । ऋ० प्रा० ३,३४—

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ॥

३९. तै० प्रा० १९,३—द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः । इस सूत्र पर ह्विटने की टिप्पणी देखिये ।

४०. Cf. Ved. Gr., p. 79; Ved. Gr. Stu., p. 450.

४१. वै० प० को०, भूमिका पृ० १२१ ।

४२. वै० प० को०, भूमिका पृ० १२१ ।

४३. पा० ६,१,२२३—समासस्य । ६,२,१—बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ।

४४. पा० ६,२,१४१—देवताद्वन्द्वे च । वा० प्रा० २,४८—देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि । २,४७ (टि० ५२) ।

४५. पा० ६,२,१४२— नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ॥ वा० प्रा० २,५५-५७—द्वन्द्वञ्चेन्द्रसोमपूर्वं पूषाग्निवायुषु । अग्निश्चेन्द्रे । ऋक्साम्नि च ॥

४५क. पा० ६,२,३५— संख्या ।

४६. पा० ६,२,२—तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः ।

एकादशोऽध्यायः

८२. पा० ६,१,१९३— लिति । इस पा० नियम के अनुसार, णल्, थल्, णल् लित् प्रत्यय है । इस लिये प्रत्यय से पहले अक्षर पर उदात्त है । लेट् में पित् अडागम के कारण (टि० ६०), धातु पर उदात्त रहता है ।

८३. पा० ६,१,१६३— चितः ।

८४. पा० ६,१,१८७— आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् । इस पर वार्तिक (काशि०)— सिच आद्युदात्तत्वेऽनिटः पितः पक्षे उदात्तत्वं वक्तव्यम् ।

८५. पा० ३,१,३२— "सनाद्यन्ता धातवः" से णि-प्रत्ययान्त की धातु संज्ञा होती है; और पा० ६,१,१६२ "धातोः" से धातु के अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है । शप् विकरण तथा लसार्वधातुक प्रत्यय-(टि० ७८) अनुदात्त हो जाते है । मध्यसिद्धान्तकौमुदी ने सनादि-प्रत्ययों का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

सन् क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाचारक्विब् णिज्यङौ तथा । यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ।। विशेष अपवाद न होने पर इन के रूपों में उपर्युक्त नियम लागू होते हैं ।

८६. पा० ६,१,१९७—ञ्नित्यादिर्नित्यम् । इस सूत्र से सन् के नित्व के कारण आदि अक्षर पर उदात्त और पा०६,१,१८६ (टि० ७८) से लसार्वधातुक का अनुदात्तत्व है ।

८७. पा० ६,१,१९८— आमन्त्रितस्य च । वा० प्रा० २,२४— आमन्त्रितं च । दे० वा० प्रा० २,२०—२३;२५-४५ ।

८८. पा० ८,१,१६—१८–पदस्य । पदात् । अनुदात्तं सर्वमपादादौ ।। इन सूत्रों का पाद की परिसमाप्ति तक के सूत्रों में अधिकार चलता है ।

८९. पा० ८,१,१९—आमन्त्रितस्य च । वा० प्रा० २,१७—पदपूर्वमामन्त्रित-मनानार्थेऽपादादौ ।

९०. पा० ८,१,७२— आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ।

९१. पा० ८,१,७३—नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ।

९२. पा० २,१,२—सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे । इस पर वार्तिक (महाभाष्य)— आमन्त्रितस्य पराङ्गवद्भावे षष्ठ्यामन्त्रितकारकवचनम् ।

परमपि छन्दसि (परन्तु सि० कौ० में— "पूर्वाङ्गवच्चेति वक्तव्यम्")—इस पर महाभाष्य "परमपिच्छन्दसि पूर्वस्याङ्गवद्भवतीति वक्तव्यम्"। वा० प्रा० २,१८— तेनानन्तरा षष्ठ्येकपदवत् ॥ इस के अपवाद में दे० वा० प्रा० २,१९।

९३. पा० ८,१,२८—तिङ्ङतिङः।

९४. वाक्य के लक्षण के सम्बन्ध में पा० २,१,१ पर महाभाष्य में दिये गये निम्नलिखित वार्तिक (१०–१२) विचारणीय हैं—(१०) आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्, (११) सक्रियविशेषणं च, (१२) एकतिङ्। अन्तिम वार्तिक पर महाभाष्य— "एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्"। पा० ८,१,२८ (टि० ९३) पर महाभाष्य— 'न च समानवाक्ये द्वे तिङन्ते स्तः"।

९५. पा० ८,१,६६— यद्वृत्तान्नित्यम्।

९६. पा० ८,१,३०.३४.३५.३६.३९.६४.

९७. पा० ८,१,५७–५८—चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः। चादिषु ॥

९८. पा० ८,१,५९—चवायोगे प्रथमा।

९९. पा० ८,१,६५—एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम्।

१००. पा० ८,१,७१—तिङि चोदात्तवति। अ० प्रा० ४,१—उपसर्ग आख्यातेनोदात्तेन समस्यते। वा० प्रा० ५,१६— अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते।

१०१. अ० प्रा० ४,२—अनेकोऽनुदात्तेनापि। पा० ८,१,७०—गतिर्गतौ।

१०२. पा० ६,१,१६३-१६४—चितः। तद्धितस्य ॥

१०३. पा० ६,१,१६५—कितः।

१०४. पा० ६,१,२१७—उपोत्तमं रिति।

१०५. पा० ६,१,१८५—तित्स्वरितम्।

१०६. पा० ६,१,२१३—यतोऽनावः।

एकादशोऽध्यायः

४१७. **छन्दो-निर्धारण के मुख्य सिद्धान्त**— छन्दो-निर्धारण का मुख्य सिद्धान्त यह है कि छन्द के पादों को निश्चित करके प्रत्येक पाद के अक्षरों की गणना की जाती है। अत एव प्राचीन भारतीय आचार्य अक्षर-गणना को ही वैदिक छन्द का मुख्य लक्षण मानते हैं[६]। भारतीय आचार्यों के मतानुसार वैदिक छन्दों के लक्षण के निर्धारण में इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि पाद के कौन से अक्षर लघु या गुरु हैं, तथापि आचार्य शौनक ने गायत्र आदि पादों के वृत्त (rhythm) के सम्बन्ध में निम्नलिखित नियम अवश्य दिया है[७]—

आठ अक्षरों के पाद (गायत्र) में तथा बारह अक्षरों के पाद (जागत) में अन्तिम से पहला (उपोत्तम) अक्षर लघु होता है। और दस अक्षरों के पाद (वैराज) में तथा ग्यारह अक्षरों के पाद (त्रैष्टुभ) में अन्तिम से पहला (उपोत्तम) अक्षर गुरु होता है।

पाद के अन्तिम भाग के वृत्त के अतिरिक्त, अन्य अक्षरों की मात्रा के विषय में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कोई विचार नहीं किया। परन्तु इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने अनुसन्धान करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं[८]—

(१) लगभग सभी वैदिक छन्दों के पादों में प्रयुक्त अक्षरों में लघु-गुरु (iambic) क्रम प्रायेण लक्षित होता है। और अनुसन्धान के आधार पर जो लक्षण उभरता है उस के अनुसार पाद के सम (द्वितीय, चतुर्थ इत्यादि) अक्षर प्रायेण गुरु मिलते हैं।

(२) पाद के पूर्वार्ध (opening) की अपेक्षा उत्तरार्ध (cadence) में अर्थात् पाद के अन्तिम चार-पांच अक्षरों में लघु-गुरु क्रम का पालन अधिक दृढ़ता से किया जाता है।

(३) ग्यारह तथा बारह अक्षरों के पादों में चतुर्थ या पंचम अक्षर के पश्चात् यति (caesura) आती है।

(४) प्रमुख छन्दों के पादों में प्रयुक्त लघु-गुरु क्रम में जो भिन्नताएं तथा विकार लक्षित होते है उन के आधार पर इन छन्दों के विकास तथा

युग के सम्बन्ध में अनुमान लगाने के प्रयास किये गये है और इसी आधार पर कतिपय छन्दोवद्ध रचनाओं के काल के विषय पर विचार किया गया है[९]।

४१८. अक्षर— पाद के लक्षण को निर्धारित करने के लिये अक्षर-गणना आवश्यक है और उस में भी लघु तथा गुरु का ध्यान रखा जाता है। अत एव अक्षर के विषय में कुछ मुख्य बातें बताना आवश्यक है।

अनुच्छेद १४ (पृ० २२) में अक्षर का लक्षण तथा अक्षर-विभाजन के नियम बताये जा चुके है। लघु तथा गुरु के सम्बन्ध में निम्नलिखित नियम उल्लेखनीय हैं—

(१) ह्रस्व स्वर लघु और दीर्घ स्वर गुरु अक्षर माना जाता है।
(२) ह्रस्व स्वर से परे संयुक्त व्यञ्जन आने पर गुरु अक्षर माना जाता है।
(३) जिस ह्रस्व स्वर से परे ळ् या ळ्ह् आये, वह गुरु अक्षर माना जाता है।
(४) जिस ह्रस्व स्वर से परे अनुस्वार या विसर्जनीय आये, वह गुरु अक्षर माना जाता है।

४१९. पाद-निर्धारण—अक्षर-गणना इत्यादि के अनुसार जब किसी छन्द के पादों का विभाग करना हो, तब यह ध्यान रहे कि पाद का **अवसान** किसी पद के अन्तिम अक्षर के साथ हो, और किसी पद के बीच में पाद का अन्त नहीं मानना चाहिए[१०]। इस का स्पष्ट कारण यह है कि स्वर तथा सन्धि (दे० पृ०७९) की दृष्टि से प्रत्येक पाद को एक स्वतन्त्र इकाई माना गया है। अतः ऐसी इकाई जो कि कुछ अंशों में अपने आप में पूर्ण है किसी पद के बीच में समाप्त नहीं हो सकती।

जब किसी ऋचा के भिन्न-भिन्न पादों का निर्णय करना हो, तब ऋ० प्रा० के अनुसार निम्नलिखित तीन विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिए—(१) प्रायः, (२) अर्थः, (३) वृत्तम्। पहली विशेपता

रूप वर्तमान संहिता-पाठ के रूप में मिलता है वह पूर्णतया मौलिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि यह रूप पूर्णतया मौलिक होता तो छन्दो-भंगत्व को दूर करने के लिये कहीं-कहीं सन्धि को तोड़ने की आवश्यकता न पड़ती। इन की धारणा है कि ऋग्वेद का वर्तमान संहिता-रूप कालान्तर में निश्चित किया गया था (दे० पृ० ७९,१४३, टि० ३)। शौनक प्रभृति प्राचीन आचार्यों ने छन्दः पूर्ति के लिये व्यूह करने का जो विधान किया है उस से भी इस मत को समर्थन मिलता है कि शुद्ध छन्दः परिमाण की दृष्टि से उपलब्ध संहिता-रूप अविकार्य नहीं माना जाता था। इस तथ्य से यह ध्वनि निकलती है कि ऋग्वेद की मूल रचना में वे सब संहिता-विकार नहीं थे जिन के कारण आज-कल छन्दो-भंगत्व होता है। तै० सं०, ऐ० ब्रा० इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों के वचन भी इस मत की पुष्टि करते हैं कि उस काल में ऋग्वेद-संहिता का जो रूप उच्चारण में प्रयुक्त होता था वह वर्तमान लिखित रूप से भिन्न था (दे० पृ० १३-१४)।

जो आधुनिक विद्वान् यह मत स्वीकार करते हैं कि ऋषियों का छन्दो-विषयक ज्ञान अविकल था और उत्तरकालीन सन्धि-विकारों के परिणाम-स्वरूप ऋ० में यत्र-तत्र छन्दोभंगत्व हुआ है, उन के मतानुसार छन्दों के उचित परिमाण तथा मौलिक रूप को उज्जीवित करने के लिये यथा-स्थान व्यूह करके ऋचाओं का उच्चारण करना चाहिए। ओल्डनबर्ग, ग्रासमैन प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने ऋचाओं के शुद्ध छन्द तथा मौलिक रूप को उज्जीवित करने के लिये उच्चारण-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रमुख नियमों का विधान किया है[१०]—

(१) जहां संहिता में सन्धि-नियम के अनुसार पदान्तीय तथा पदादि स्वरों को प्रश्लिष्ट सन्धि (पृ० ८१) हुई है, वहां पदान्तीय अ आ को कहीं-कहीं और पदान्तीय इ ई उ ऊ को साधारणतया पृथक् करके उच्चारण करना चाहिए (दे० उदाहरण, पृ० ८३,८४)।

(२) अभिनिहित-सन्धि में पदान्तीय ए ओ से परे जिस पदादि अ का

पूर्वरूप हो जाता हो, उस अ का प्रायेण उच्चारण करना चाहिए (दे० उदाहरण, पृ० ८९)।

(३) अनेक पदों में तथा क्षैप्र-सन्धि से उत्पन्न बहुत से स्थलों पर, य् व् के स्थान पर क्रमशः इ उ का उच्चारण करना चाहिए; यथा— स्यामं=सिआमं, त्वम्=तुअम्, स्वः=सुअः, व्युषाः=वि उषाः।

(४) कहीं-कहीं षष्ठीबहुवचनान्त रूपों के आम् प्रत्यय के आ, तथा कतिपय अन्य रूपों के दीर्घ स्वर और ए ऐ का उच्चारण दो (लघु) अक्षरों के समान करना चाहिए; यथा—देवानाम् (ऋ० १,४३,५; ५०,५;१३३,७;१८७,६)=देवानअम्; दाशस्य (ऋ० २,२०,६;३३,४)=दअशस्य; शूरः (ऋ० १,१२२,१०)=शुउरः, शुऊरः या शवीरः (ग्रासमैन); ज्येष्ठः (ऋ० ८,१०२,११; १०,५०,४)=ज्यइष्ठः या जिएष्ठ. (ग्रासमैन); ऐच्छः (ऋ० १०,१०८,५)=अइच्छः।

(५) छन्द की आवश्यकता के अनुसार कतिपय शब्दों का उच्चारण लिखित रूप से कुछ भिन्न करना चाहिए; यथा—पावक को पवाक, मृळय को मृळय, और सुवान को स्वान उच्चरित करना चाहिए।

सामान्य छन्द

४२१. अधिकतर वैदिक मन्त्र सामान्य छन्दों में निबद्ध है जिन के सभी पाद समान होते है। इस प्रकार के छन्दों मे तीन, चार, पांच या छः समान पाद होते है। प्रमुख वैदिक छन्द—त्रिष्टुप्, गायत्री, जगती—इत्यादि इसी वर्ग में आते हैं।

गायत्र पाद के छन्द

४२२. **गायत्र (अष्टाक्षर) पाद के छन्द**—जैसा कि हम पहले (अनु० ४१६) बता चुके है, प्राचीन भारतीय आचार्यो के मतानुसार, अष्टाक्षर पाद गायत्र कहलाता है। गायत्र पाद की विशेषता यह है कि इस मे चार-चार अक्षरों के दो समान भाग होते हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध।

इन भागों में अक्षरों के लघु-गुरु क्रम के विषय में आधुनिक विद्वानों का अनुमान कुछ इस प्रकार है। पूर्वार्द्ध के द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर प्रायेण गुरु होते है, जबकि प्रथम तथा तृतीय अक्षर की मात्रा निश्चित नहीं है। परन्तु यदि द्वितीय अक्षर कभी लघु हो, तो तृतीय अक्षर अवश्य गुरु होगा। गायत्र पाद के उत्तरार्द्ध में प्रथम तथा तृतीय अक्षर प्रायेण लघु और द्वितीय प्रायेण गुरु होता है। चतुर्थ अक्षर की मात्रा अनिश्चित है। अत एव गायत्र पाद में लघु-गुरु क्रम प्रायेण निम्न प्रकार का होता है—

⏓ – ⏓ – । ⏑ – ⏑ ⏓। जहां ⏓ ऐसा चिह्न है उस का अभिप्राय यह है कि कहीं गुरु तथा कहीं लघु अक्षर मिलता है। गायत्री, अनुष्टुप् , पंक्ति, महापंक्ति तथा शक्वरी छन्द इसी प्रकार के गायत्र पादों से बनते है।

४२३. गायत्री— जैसा कि हम पहले (अनु० ४१६) बता चुके हैं, प्रयोग की दृष्टि से ऋ० में गायत्री छन्द का स्थान त्रिष्टुप् के पश्चात् आता है। ऋ० का लगभग चतुर्थांश गायत्री छन्द में निबद्ध है। परन्तु लौकिक संस्कृत में गायत्री छन्द का पूर्णतया लोप हो गया है।

गायत्री छन्द में आठ अक्षरों के तीन (गायत्र) पाद होते हैं। लिखित संहिता में प्रथम तथा द्वितीय पाद का पहला अर्धर्च और तृतीय पाद का दूसरा अर्धर्च माना जाता है। परन्तु मैक्डानल प्रभृति आधुनिक विद्वानों का मत है कि मौलिक संहिता में द्वितीय पाद का प्रथम तथा तृतीय पाद से समान विभाजन था और वास्तव में प्रत्येक पाद एक स्वतन्त्र इकाई था। अत एव द्वितीय पाद न तो प्रथम पाद के साथ अधिक मिला हुआ था और न ही तृतीय पाद से अधिक विभक्त था[१८]।

गायत्री छन्द का उदाहरण निम्नलिखित है—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥

गायत्री छन्द के पादों में अक्षरों का लघु-गुरु क्रम सामान्यतया उपर्युक्त गायत्र पाद के लक्षण के अनुसार होता है। परन्तु उपर्युक्त लक्षण के कुछ अपवाद भी मिलते है। गायत्री छन्द के एक भेद में प्रथम पाद के उत्तरार्द्ध का द्वितीय अक्षर प्रायेण लघु होता है (⏑ ⏑ ⏑ ⏓)। ऋ० के प्रथम तथा अष्टम मण्डल में गायत्री छन्द के कुछेक ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिन में गायत्र पाद के उत्तरार्द्ध में प्रथम तथा तृतीय अक्षर प्रायेण गुरु होते है और द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर लघु होते है। परन्तु पाद के पूर्वार्द्ध में सामान्य लक्षण के अनुसार प्रथम तथा तृतीय अक्षर लघु और द्वितीय गुरु होता है (दे० उदाहरण, ऋ० ८,२,१-३९)।

४२४. अनुष्टुप्—ऋ० में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग गायत्री की तुलना में लगभग $\frac{1}{3}$ है। परन्तु गायत्री का प्रयोग उत्तरोत्तर कम होता गया है और अनुष्टुप् का प्रयोग उसी क्रम से बढता गया है। रामायण, महाभारत तथा लौकिक संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में अनुष्टुप् का प्रचुर प्रयाग मिलता है और गायत्री का सर्वथा अभाव है।

अनुष्टुप् छन्द में चार गायत्र (अष्टाक्षर) पाद होते हैं। प्रथम तथा द्वितीय पाद का पहला अर्धर्च और तृतीय तथा चतुर्थ पाद का दूसरा अर्धर्च बनता है। दे० उदाहरण (ऋ० १,१०,१-१२;५,७,१-९ इत्यादि)। उपर्युक्त लक्षण के अनुसार पाद में अक्षरों का लघु-गुरु क्रम होता है।

उत्तरकालीन अनुष्टुप् की विशेषता— ऋ० के दशम मण्डल में जा अनुष्टुप् छन्द मिलता है उस में एक विशेषता उभरने लगती है। तदनुसार अनुष्टुप् के प्रथम तथा तृतीय पाद का सप्तम अक्षर प्रायेण गुरु तथा अष्टम लघु होता है, और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में पंचम तथा सप्तम अक्षर लघु और षष्ठ तथा अष्टम अक्षर प्रायेण गुरु होते है। (दे० उदाहरण, ऋ० १०,१३५-१३७,१४३,१४५,१४६,१५१,१५२,१५४ इत्यादि)। अ० में प्रयुक्त अनुष्टुप् इसी प्रकार का है। रामायण,

महाभारत इत्यादि उत्तरकालीन ग्रन्थों में प्रयुक्त अनुष्टुप् (श्लोक) का लक्षण इस से मिलता-जुलता है।

४२५. **पंक्ति**—पंक्ति छन्द में पांच गायत्र (अष्टाक्षर) पाद होते है। प्रथम तथा द्वितीय पाद का पहला अर्धर्च और तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम पाद का दूसरा अर्धर्च बनता है। ऋ० १,८० तथा ८२ की सभी ऋचाओं में जो पंक्ति छन्द मिलता है उस में पंचम पाद की शव्दावली सभी ऋचाओं में समान है। इस पंचम पाद की आवृत्ति के आधार पर कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि वास्तव में पंक्ति छन्द अनुष्टुप् का विस्तार-मात्र है जिस मे पंचम पाद जोड़ दिया गया है। दे० उदाहरण, ऋ० १,८०-८२।

४२६. (क) **महापंक्ति**—ऋ० की लगभग पचास ऋचाओ में महापंक्ति छन्द मिलता है। इस छन्द में छः गायत्र पाद होते है और तीन-तीन पादों का अर्धर्च बनता है। महापंक्ति में अन्तिम दो पादों की आवृत्ति सूक्त की अन्य ऋचाओ में मिलती है। दे० उदाहरण, ऋ० ८,३९-४१; १०, १३३,४-६; १०, १३४, १-६।

(ख) **शक्करी**—सात गायत्र पादों से शक्वरी छन्द बनत । दे० उदाहरण, ऋ० १०, १३३, १-३। इन उदाहरणों प्रथम तथा द्वितीय पाद का पहला अर्धर्च और अन्य पांच पादों का दूसरा अर्धर्च माना जाता है। दे० अनु० ४२८ (घ)।

(ग) **द्विपदा गायत्री**—जिस छन्द में केवल दो गायत्र (अष्टाक्षर) पाद हों, उसे द्विपदा गायत्री कहते हैं। दे० उदाहरण, ऋ० ६,६७, १६-१८।

त्रैष्टुभ तथा वैराज पाद के छन्द

४२७. **त्रैष्टुभ (एकादशाक्षर) पाद के छन्द**—त्रैष्टुभ (एकादशाक्षर) पादों से कई छन्द बनते हैं, यथा त्रिष्टुप्, द्विपदा त्रिष्टुप्, त्रिपदा त्रिष्टुप् या विराट्। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, त्रैष्टुभ पाद को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्वभाग जिस में प्रारम्भ के चार या पांच अक्षर आते हैं; (२) मध्यभाग जो पूर्वभाग (चतुर्थ

या पंचम अक्षर) के पश्चात् आने वाली **यति** (caesura) के पश्चात् और अन्तिम भाग से पूर्व आता है और यति के स्थान के अनुसार दो या तीन अक्षरों का होता है ; (३) अन्तिम भाग जो मध्यभाग के पश्चात् आने वाले चार अक्षरों का माना जाता है।

त्रैष्टुभ पाद के अक्षरों के लघु-गुरु क्रम के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का मत है कि यति से पूर्व आने वाले पूर्वभाग में द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर प्रायेण गुरु होते है (⏓ – ⏓ – या ⏓ – ⏓ – ⏓), और इस के विपरीत **अन्तिम भाग** में द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर प्रायेण लघु और प्रथम तथा तृतीय लघु होते है। **मध्यभाग** में अक्षरों का क्रम प्रायेण निम्न प्रकार से होता है (⏑ ⏑ – या ⏑ ⏑)। तदनुसार सम्पूर्ण पाद में निम्नलिखित क्रम होता है—

⏓ – ⏓ –, ⏑ ⏑ – | – ⏑ – ⏓ |

या

⏓ – ⏓ – ⏓, ⏑ ⏑ | – ⏑ – ⏓ |

४२८. (क) **त्रिष्टुप्**— जैसा कि हम पहले (अनु० ४१६) बता चुके है ऋ० में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग सब से अधिक मिलता है और ऋ० का लगभग $\frac{2}{5}$ भाग इसी छन्द मे निबद्ध है। इस छन्द में चार त्रैष्टुभ (एकादशाक्षर) पाद होते है और दो-दो पादों का अर्धर्च बनता है। दे० उदाहरण, ऋ० २,१२ इत्यादि।

(ख) **द्विपदा त्रिष्टुप्**— जिस छन्द में केवल दो त्रैष्टुभ पाद होते है उसे द्विपदा त्रिष्टुप् कहते है। ऋ० में इस छन्द के भी कुछ उदाहरण मिलते है। दे० ऋ० ६,४७,२५;७,१७;१०, १५७,२-५। सर्वानुक्रमणी के अनुसार, ऋ० ६,१७,१५ का छन्द भी द्विपदा त्रिष्टुप् है, परन्तु आर्नोल्ड (Ved. Mtr., p. 244) इसे पूर्ववर्ती छन्द का ग मानता है।

(ग) **एकपदा त्रिष्टुप् का अभाव**— यद्यपि सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋ० ६,६३,११ में एकपदा त्रिष्टुप् छन्द है, तथापि ऋ० प्रा० तथा

आर्नोल्ड इस त्रैष्टुभ पाद को पूर्ववर्ती मन्त्र का ही भाग मान कर इसे पृथक् छन्द नहीं मानते हैं[१९]।

(घ) **शक्वरी में त्रैष्टुभ पादों की कल्पना**—सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋ० के निम्नलिखित मन्त्रों में शक्वरी छन्द है— ऋ० ५,२,१२;६,२, ११; ६,१५,१५; ६,३१,४; ६,४६,१५; १०, ११५,९। इन छन्दों के पादों के सम्बन्ध में मत-भेद है। आर्नोल्ड तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार इन मन्त्रों के शक्वरी छन्द में पांच त्रैष्टुभ पाद है[२०]। परन्तु प्राचीन भारतीय मत के अनुसार शक्वरी में आठ अक्षरों के सात पाद होते हैं[२१]। अक्षर-गणना के अनुसार, एक अक्षर से छन्द के लक्षण में कोई अन्तर नहीं आता है (५५ हो या ५६) परन्तु लघु-गुरु क्रम का जो लक्षण मिलता है उस के अनुसार उपर्युक्त ऋचाओं मे त्रैष्टुभ पाद माने जा सकते है। इस छन्द में प्रथम तथा द्वितीय पाद का पहला अर्धर्च और शेष तीन पादों का दूसरा अर्धर्च बनता है।

४२२. (क) **विराट् या त्रिपदा त्रिष्टुप्**— ० में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन में तीन त्रैष्टुभ पादों का छन्द मिलता है। सर्वानुक्रमणी तथा ऋ० प्रा० में ऐसे छन्द को प्रायेण विराट् कहते हैं[२२]। दे० उदाहरण, ऋ० १,१४९; ३,२५; ७,१,१-१८। ऐसे छन्द में प्रथम तथा द्वितीय पाद का पहला अर्धर्च और तृतीय पाद का दूसरा अर्धर्च बनता है।

(ख) **द्विपदा विराट् या अक्षर-पंक्ति**— सर्वानुक्रमणी ने ऋ० के निम्नलिखित सूक्तों का छन्द द्विपदा विराट् बताया है— १,६५-७०;७, ३४,१-२१; ७,५६,१-११;९,१०९। लिखित संहिता के अनुसार, इन ऋचाओं के अन्त में अवसान मिलता है। अत एव इन में केवल दो पाद माने जाते हैं। परन्तु कतिपय अन्य आचार्य इन ऋचाओं में पांच-पांच अक्षरों के चार पाद मानते हैं और इन के छन्द को अक्षरपंक्ति कहते हैं[२३]। आर्नोल्ड तथा मैक्डानल प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी इन ऋचाओं के छन्द में पांच-पांच अक्षरों के चार पाद मानते हैं और दो-दो पादों के दो अर्धर्चो की कल्पना करते हैं[२४]।

इस छन्द के वृत्त (rhythm) के विषय में इन आधुनिक विद्वानों का मत है कि इस के पाद में लघु-गुरु क्रम वैसा ही है जैसा कि त्रैष्टुभ पाद के अन्तिम पांच अक्षरों का होता है (⏑ – ⏑ – ⏓)। परन्तु कुछेक पादों में ऐसा क्रम भी मिलता है (– – ⏑ – ⏓)।

(ग) **एकपदा विराट्**—सर्वानुक्रमणी के अनुसार, ऋ० की निम्नलिखित ऋचाओं में एकपदा विराट् छन्द है—ऋ० ४,१७,१५;५,४१,२०; ५,४२,१७;५,४३,१६;१०,२०,१। यास्क तथा ऋ० प्रा० अन्तिम ऋचा (१०,२०,१) को तो अवश्य एकपदा स्वीकार करते हैं, परन्तु शेष ऋचाओं को एकपदा नहीं मानते है[२५]। आर्नोल्ड इन में से किसी भी ऋचा को एकपदा नहीं मानता है। उस के मतानुसार अन्तिम ऋचा (१०,२०,१) वास्तव में ऋ० १०,२५ १ का संक्षिप्त उद्धरण है और शेष ऋचाएं पूर्ववर्ती मन्त्रों के भाग है (टि० १६)।

(घ) **त्रैष्टुभ तथा वैराज पादों का सादृश्य**- प्राचीन भारतीय आचार्यो के मतानुसार एक-दो अक्षरों की न्यूनता या अधिकता से पाद के लक्षण में अन्तर नहीं आता है (टि० १४,१५)। आधुनिक विद्वान् भी यह स्वाकार करते है कि अनेक उदाहरणों में त्रैष्टुभ पाद में एक-दो अक्षर की न्यूनता व्यूह करने पर भी रहती है[२६]। अतः इस मत के अनुसार वैराज पाद त्रैष्टुभ पाद का ही एक भेद है और पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। वैराज पाद के वृत्त (rhythm) और त्रैष्टुभ पाद के वृत्त में भी पर्याप्त सादृश्य है। **विराट्स्थाना** तथा **विराड्रूपा** नामक छन्द वास्तव में त्रिष्टुप् के भेद हैं जिन के एक या दो पादों में एक या दो अक्षर न्यून मिलते है[२७]। यदि किसी छन्द के सभी पाद दस-दस अक्षरों के हों, तो उस छन्द को अवश्य पृथक् मानना चाहिए। **विराट्स्थाना** का उदाहरण, दे० ऋ० २,११,१-२०।

जागत पाद के छन्द्

४३०. जागत पाद्— जैसा कि हम पहले बता चुके है (अनु० ४१६), बारह अक्षरों का पाद जागत कहलाता है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वास्तव में जागत एक स्वतन्त्र पाद नही है और त्रैष्टुभ पाद का ही एक

भेद है जिस में एक अक्षर अधिक है (दे० टि० ५)। दोनों प्रकार के पादों में अक्षरों का लघु-गुरु क्रम लगभग समान है और केवल इतना अन्तर है कि जागत पाद के बारहवें अक्षर के कारण उस के अन्तिम भाग (cadence) के पाँच अक्षरों का क्रम इस प्रकार होता है—(– ⏑ – ⏑ ⏓)। इस अन्तर के अनुसार जागत पाद में अक्षर-क्रम निम्नलिखित होता है—

(⏓ – ⏓, ⏑ ⏑ – । – ⏑ – ⏑ ⏓)

या

(⏓ – ⏓ – ⏓, ⏑ ⏑ । – ⏑ – ⏑ ⏓). तु० अनु० ४२७।

४३१. (क) **जगती**— जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है, ऋ० में प्रयोग की दृष्टि से जगती छन्द का तीसरा स्थान है (अनु० ४२६)। ऋ० के लगभग १७५ सूक्त जगती छन्द में निबद्ध हैं। इन में से लगभग १०० सूक्त केवल जगती छन्द में निबद्ध है और लगभग ३५ सूक्तों मे जगती और त्रिष्टुप् छन्द का मिश्रण है। लगभग ४० सूक्त ऐसे है जिन का केवल अन्तिम मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में है और शेष मन्त्र जगती छन्द मे है।

जगती छन्द चार जागत (द्वादशाक्षर) पादों से बनता है और दो-दो पादों का अर्धर्च होता है। दे० उदाहरण ऋ० १,५५–५७ इत्यादि। जगती छन्द के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन के किसी पाद या पादों में एक-दो अक्षर की न्यूनता या अधिकता दृष्टिगोचर होती है।

(ख) **द्विपदा जगती**— दो जागत पादों से बना छन्द द्विपदा जगती कहलाता है[२८], यथा— **स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरःस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत्।** (ऋ० ८,४६,१३)।

(ग) **त्रिपदा जगती** (ऊर्ध्वबृहती)–तीन जागत पादों के छन्द को हम त्रिपदा जगती कह सकते हैं जिस के लिये ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी में ऊर्ध्वबृहती और ऋ० प्रा० में ऊर्ध्वबृहती विराट् संज्ञा का प्रयोग किया गया है[२९]। दे० उदाहरण—

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।

सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥

(ऋ० ९,११०,४) । तु० ऋ० ९,११०,७-९ ।

(घ) **अतिजगती**— जिस छन्द के प्रत्येक पाद में १३ अक्षर हों उसे अतिजगती कहते हैं[10] । दे० उदाहरण, ऋ० ८,९७,१३ ।

मिश्रित पादों के छन्द

४३२. जिन छन्दों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पादों का मिश्रण होता है उन्हें हम **मिश्रित छन्द** कह सकते हैं । अधिकतर मिश्रित छन्दों में गायत्र और जागत पादों का मिश्रण मिलता है । त्रैष्टुभ तथा वैराज पादों का मिश्रण विरल है । प्रमुख मिश्रित छन्द निम्नलिखित है । पाद-वृद्धि के क्रम से मिश्रित छन्दों का वर्णन किया गया है—

तीन मिश्रित पादों के छन्द

(१) **उष्णिक्** =८+८।१२ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १,७९,४-६ ।

(२) **ककुप्** =८+१२।८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० ६,४८,११ ।

(३) **पुरउष्णिक्** =१२+८।८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० ८,३०,२ ।

चार मिश्रित पादों के छन्द

(४) **बृहती** =८+८।१२+८ ॥ (ऋ० प्रा० १६,४५) । दे० उदाहरण, ऋ० १,१३९,५ ।

(५) **विपरीता** =८+१२।८+१२ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० ८,४६,१२ ।

(६) **विष्टारपंक्ति** =८+१२।१२+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १०,१४०,१-२ ।

(७) **पुरस्ताद्बृहती**=१२+८।८+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १०,२२;१०,९३,१५ । यद्यपि ऋ० प्रा० १६,४६ इत्यादि लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार प्रथम पाद में १२ अक्षर होने चाहिएं, तथापि अधिकतर उदाहरणों में प्रथम पाद में ११ अक्षर मिलते है ।

द्वादशोऽध्यायः

(८) सतोबृहती =१२+८।१२+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १,८४,२० ।

(९) प्रस्तारपंक्ति =१२+१२।८+८ ।। दे० उदाहरण, ऋ० १०,९३ ।

पांच मिश्रित पादों के छन्द

(१०) महाबृहती =१२+८।८+८+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० ८,३५,२३।

(११) यवमध्या महाबृहती =८+८।१२+८+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० ६,४८,७;१,१०५ ८ । ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी में यवमध्या महाबृहती संज्ञा का प्रयाग मिलता है, जबकि ऋ० प्रा० १६,७२ में केवल यवमध्या मिलता है ।

(१२) महासतोबृहती =१२+८।१२+८+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० ६, ४८,६.८ ।

सात मिश्रित पादों के छन्द

(१३) अतिशक्करी =८+८।८+८।१२+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १,१३७ ।

(१४) अत्यष्टि =१२+१२+८।८+८।१२+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १, १२७-१३९;९,१११ ।

आठ मिश्रित पादों का छन्द

(१५) अतिधृति =१२+१२+८।८+८।१२+८+८ ॥ दे० उदाहरण, ऋ० १,१२७,६ । इस उदाहरण में अक्षर-पूर्ति के लिये व्यूह का पर्याप्त प्रयोग करने पर भी कुछ अक्षर-न्यूनता रहती है । परन्तु इस का कोई अन्य उदाहरण नहीं मिला है ।

तृच तथा प्रगाथ

४३३. तृच— ऋ० में तीन-तीन ऋचाओं के समूह अर्थात् तृच प्रायेण उपलब्ध होते हैं । ये तृच प्रायेण समान छन्द वाली तीन ऋचाओं के होते हैं, परन्तु भिन्न छन्दों की ऋचाओं के तृच भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

गायत्री छन्द की ऋचाओं के तृच ऋ० में सब से अधिक हैं और त्रिष्टुप् के तृच विरल हैं। उष्णिक्, बृहती तथा पंक्ति छन्द के तृच भी मिलते हैं। इन के अतिरिक्त ऐसे तृच भी उपलब्ध होते हैं जिन में एक ऋचा एक छन्द की और दो ऋचाएं अन्य छन्द की होती हैं। इस प्रकार अनुष्टुप् तथा गायत्री छन्द की ऋचाओं के तृच बनते हैं। जिस सूक्त में एक प्रकार के छन्द की ऋचाओं के तृच होते हैं उस के अन्त में प्रायेण एक भिन्न छन्द की ऋचा मिलती है। ऋ० के सूक्तों की यह विशेषता प्रतीत होती है कि जिस छन्द में सूक्त निबद्ध है उस से भिन्न छन्द की ऋचा सूक्त के अन्त में आती है; यथा—जगती के सूक्तों के अन्त में प्रायेण त्रिष्टुप् छन्द मिलता है। मिश्रित छन्दों की ऋचाओं का तृचों में समूहीकरण इतना सामान्य दीख पड़ता है कि जहां इस सामान्य नियम का उल्लंघन मिलता है वहां उस के कारण की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। विभिन्न प्रकार के तृचों के विस्तृत वर्णन और उदाहरणों के लिये देखिये आर्नोल्डकृत वैदिक मीटर (पृ० २३४-२३८)।

४३४. प्रगाथ—कहीं-कहीं ऐसी दो ऋचाओं का एक समूह बना दिया जाता है जिन का छन्द मिश्रित पादों का बना होता है। ऐसे छन्दःसमूह के लिये प्रगाथ[३१] संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। ऋ० में इस प्रकार के लगभग २५० प्रगाथ उपलब्ध होते है। ऋ० का अष्टम मण्डल प्रगाथों के लिये प्रसिद्ध है। अत एव शांखायनगृह्यसूत्र तथा आश्वलायनगृह्यसूत्र में अष्टम मण्डल के ऋषियों को प्रगाथाः कहा गया है।

यद्यपि ऋ० प्रा० (१८,१-३१) इत्यादि में प्रगाथों के अनेक भेदों का वर्णन किया गया है, तथापि निम्नलिखित दो प्रगाथ ही प्रमुख है।

(१) **बार्हत प्रगाथ**— यह सब से अधिक प्रचलित प्रगाथ है और ऋ० में इस के लगभग २०० उदाहरण मिलते हैं। बृहती छन्द के साथ सतोबृहती छन्द के मिलाने से बार्हत प्रगाथ बनता है (बृहती+सतोबृहती); यथा—

त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१९॥

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२०॥
(ऋ० १,८४,१९-२०)

(२) **काकुभ प्रगाथ**— बार्हत प्रगाथ की तुलना में काकुभ प्रगाथ का प्रयोग लगभग ¼ है और ऋ० में इस के लगभग ५० उदाहरण मिलते हैं। ककुप् छन्द के साथ सतोबृहती छन्द के मिलाने से काकुभ प्रगाथ बनता है (ककुप्+सतोबृहती); यथा—

आ नो अश्वावदश्विना वर्तिर्यासिष्टं मधुपातमा नरा ।
गोमद् दस्रा हिरण्यवत् ॥१७॥

सुप्रावर्गं सुवीर्यं सुष्ठु वार्यमनाधृष्टं रक्षस्विना ।
अस्मिन्ना वामायाने वाजिनीवसू विश्वा वामानि धीमहि ॥१८॥
(ऋ० ८,२२,१७-१८)

अन्य छन्दों के साथ मिला कर बार्हत प्रगाथ (बृहती+सतोबृहती) का तृच भी बनता है; दे० उदाहरण ऋ० ७,९६,१-३;८,४,१९-२१ इत्यादि। इस प्रकार काकुभ प्रगाथ (ककुप्+सतोबृहती) का भी अन्य छन्दों के साथ बना तृच मिलता है; यथा— ऋ० ६,४८,१६-१८;८,१९-२१ इत्यादि।

ऋग्वेद में प्रयुक्त प्रमुख छन्दों का दिग्दर्शन यहां पर कराया गया है। ऋग्वेद की ९५% से अधिक ऋचाओं के छन्दों के ज्ञान के लिये उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय सहायक होगा। विस्तृत ज्ञान के लिये ऋक्-सर्वानुक्रमणी, ऋ० प्रा०, निदानसूत्र, पिंगलकृतछन्दःसूत्र तथा आर्नोल्ड-कृत वैदिक मीटर द्रष्टव्य हैं।

टिप्पणियां

१. ऋ० प्रा० १६,२; ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी ३,३ ।

२. ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी ३,२; अथर्ववेदीय-बृहत्सर्वानुक्रमणिका १,१ ।

३. अ० ८,९,१९; श० ब्रा० ६,५,२,८; कौ० ब्रा० १४,५,१७,२; ऋ० प्रा० १६,१; तु० ऋ० १०,१३०,४-५ ।

४. ऋ० प्रा० १७,३७-४०; ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी ३,१०-११ । तु० निदानसूत्र १,१ ।

५. Ved. Mtr., pp. 7.10-14; Ved. Gr. Stu., pp. 441-442.

६. ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी २,६— यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः । अथर्ववेदीय-बृहत्सर्वानुक्रमणिका १,१— छन्दोऽक्षरसंख्याऽवच्छेदकमुच्यते ।

७. ऋ० प्रा० १७,३९— वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम् ।
गुर्वेवेतरयोर्ऋक्षु तद्वृत्तं छन्दसां प्राहुः ॥

तु० निदानसूत्र १,१— यत्र ह्रस्वमक्षरमुपोत्तमं पादस्य सा जागती वृत्तिः । यत्र दीर्घं सा त्रैष्टुभी ।...अष्टाक्षरद्वादशाक्षरौ लघुवृत्ती । दशाक्षरैकादशाक्षरौ गुरुवृत्ती इति । दे० टि० १२ ।

८. Ved. Mtr., pp. 9-15; Ved. Gr. Stu., pp. 436 ff.

९. Ved. Mtr., pp. 16-27; Keith, Rigveda-Brāhmaṇas (HOS.25), Introduction, pp. 98-101; Oldenberg, Hymnen des Rigveda, vol. I, pp. 26 ff.; ZDMG, vol. XXXVII (Das altindische Ākhyāna); SBE, vol. XXX, pp. xi ff; Max Müller's Introduction to his English translation of the Rigveda, vol. I, pp. cxiv ff.

१०. ऋ० प्रा० १७,२४; तु०— निदानसूत्र १,७— तत्र मध्य एव पदस्य नावस्येत् ।

११. ऋ० प्रा० १७,२५-२६— प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः । विशेषसंनिपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम् ॥

द्वादशोऽध्यायः

१२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने ग्रन्थ "वैदिक-छन्दोमीमांसा" (पृ० २०८,२०९) में ऋ० प्रा० के इस नियम का व्याख्यान करते हुए इस प्रसंग में वृत्त शब्द का व्याख्यान "छन्द" किया है । चाहे अन्यत्र "वृत्त" शब्द "छन्द" के अर्थ में भी मिलता है । परन्तु यहां पर "वृत्त" शब्द निश्चय ही एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस का "छन्द" व्याख्यान सर्वथा अशुद्ध, निराधार तथा अनुपयुक्त है । दे० Dr. Mangal Dev Shastri's English translation of the Ṛgveda-Prātiśākhya, p. 126.

१३. ऋ० प्रा० १७,२१— अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम् ।
विद्याद्विप्रतिपन्नानां पादवृत्ताक्षरैर्ऋचाम् ॥

"वैदिक-छन्दोमीमांसा" (पृ० २०८) में इस श्लोक का व्याख्यान करते हुए पं० युधिष्ठिर मीमांसक "पाद-वृत्त" को षष्ठीतत्पुरुष समास मान कर दोनों का अर्थ "छन्द" करते हैं । श्लोक में जो "पादवृत्ताक्षरैः" व० रूप मिलता है उसी से स्पष्ट है कि पाद तथा वृत्त दो पृथक् अर्थों के लिये प्रयुक्त हुए है और इन का षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं है । ऋ० प्रा० के भाष्यकार उवट तथा अनुवादक डा० मंगलदेव शास्त्री भी इन दोनों शब्दों के दो पृथक् अर्थ देते है । अतः मीमांसक जी का व्याख्यान चिन्त्य है ।

१४. ऐ० ब्रा० १,६—न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम् ॥ कौ० ब्रा० २७,१— न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति न द्वाभ्याम् ॥ श० ब्रा० १२,२,३,३— नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्याम् ।

१५. ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी ३,४-५—ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ । द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ ॥ तु०-पिंगलकृतछन्दःसूत्रम् ३,५९-६०; निदानसूत्रम् १,६; उपनिदानसूत्रम् २ । ऋ० प्रा० १७,२-३— एकद्व्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भुरिक् ॥ २ ॥ विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विपये स्थिताः । स्वराज एवं पूर्वस्य याः काश्चैवंगता ऋचः ॥ ऋ० प्रा० के इन दोनों नियमों का जो अनुवाद तथा व्याख्यान डा० मंगलदेव शास्त्री ने

किया है वह उपर्युक्त ग्रन्थों के मत के अनुकूल है और उसे ही युक्ति-युक्त तथा ग्राह्य समझना चाहिए। इन पर उपलब्ध भाष्य भ्रान्त प्रतीत होता है।

१६. ऋ० प्रा० ८,४०— व्यूहैः संपत्समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम् ॥ १७, २२–२३—व्यूहेदेकाक्षरीभावान्पादेषूनेषु संपदे ॥ क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान्व्य-वेयात्सदृशैः स्वरैः ॥ ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी ३ ६— पादपूरणार्थं तु क्षैप्र-संयोगैकाक्षरीभावान्व्यूहेत् ।

व्यूह द्वारा पृथक् किये जाने वाले स्वरों के उच्चारण के सम्बन्ध में पं० युधिष्ठिर मीमांसक (वैदिकछन्दोमीमांसा, पृ० १०३, टि० १) लिखते हैं कि "व्यूह के द्वारा बढे हुए अक्षरों का उच्चारण नहीं किया जाता। व्यूह तथा इयादि भाव की कल्पना तो केवल अक्षरगणना की पूर्ति के लिये की जाती है।" यह मत सर्वथा अशुद्ध तथा निराधार है। वैदिक मन्त्रों का प्रयोग कल्पना द्वारा नहीं अपि तु उच्चारण के द्वारा किया जाता है। यदि उच्चारण में पाद के अक्षर पूरे नहीं किये गये, तब छन्दोभंगत्व ज्यों का त्यों बना रहा। फिर व्यूह करने से क्या प्रयोजन? सभी प्राचीन आचार्य उच्चारण को ही प्रामाणिक मानते हैं। स्पष्ट है कि व्यूह के अनुसार छन्द के पाद का उच्चारण करना चाहिए। तै० सं० तथा ऐ० ब्रा० इत्यादि प्राचीन ग्रन्थ भी ऐसे उच्चारण का समर्थन करते है (दि० पृ० १३–१४)।

१७. Prolegomena; WZR.; Ved. Mtr., p. 5; Ved. Gr. Stu., p. 437; Ghate's Lectures on the Rigveda (Poona, 1926), p. 186,

१८. Ved. Gr. Stu., p. 438, f.n. 2.

१९. ऋ० प्रा० १७,४३—

आहुस्त्वेकपदा अन्ये अध्यासानेकपातिनः।
अध्यासानपि केचित्त्वाहुरेकपदा इमाः।
'आ वां सुम्ने' 'असिक्न्यां हृे' 'उरौ देवाः' 'सिषक्तु नः' ॥

Cf. Ved. Mtr., p. 244; Ved. Gr. Stu., p. 441, f.n. 6.

द्वादशोऽध्यायः

Dr. V. Raghavan, M. A., Ph. D.—"It will not only be useful to Post-graduate students of Sanskrit but also to traditional Pandits who are new to Comparative Philology and modern linguistic conceptions and treatment".

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् (सम्मेलन-पत्रिका में 'पुस्तक-परिचय')— "राष्ट्रभाषा का तात्पर्य केवल इतने से ही नहीं है कि वह राज्य-कार्य के लिये प्रयुक्त हो। सच्चे अर्थों में तो राष्ट्रभाषा कहलाने की अधिकारिणी वह तभी हो सकती है,. जब वह भारतीय संस्कृति एवं साहित्य— अतीत एवं वर्तमान—को समझने का माध्यम बने। भारत के विद्वान ही नहीं, विदेशी विद्वान् भी भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के सम्बन्ध में जानने के लिये हिन्दी का मुंह ताकें, तभी हिन्दी का राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व सार्थक हो सकेगा। मैं तो कहता हूं इतना ही नहीं, संसार के सब देशों से सम्बन्धित सारी ज्ञातव्य बातें हिन्दी के माध्यम द्वारा हमें प्राप्त हो सकें तो अति उत्तम होगा । डा० रामगोपाल का प्रस्तुत ग्रन्थ इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। वैदिक भाषा के सम्बन्ध में इतनी विशद और वैज्ञानिक जानकारी प्रदान करने वाला सम्भवतः यह र्वप्रथम ग्रन्थ है। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण करते समय सभी प्रकार की प्रामाणिक सामग्री का उपयोग किया है और भारतवर्ष की प्राचीन व्याकरण-सम्बन्धी परम्परा को एक पग आगे बढाया है। लेखक ने प्राचीन ग्रन्थों का परीक्षण विश्लेषण ही नहीं किया, वरन् आधुनिक पश्चिमी भाषा-शास्त्रियों के ग्रन्थों का भी मन्थन कर अपना ग्रन्थ सांगोपांग बनाया है। टिप्पणियों से ग्रन्थ और भी अधिक उपयोगी हो गया है। स्थान-स्थान पर विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक दृष्टि से उपयोगी सामग्री भी दी है। आदि से अन्त तक लेखक ने वैज्ञानिक प्रणाली ग्रहण की है।"